श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १५५

हिन्दी-

तर्कभाषा

व्याख्याकार :—
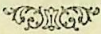
आचार्य विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि

"People take to drink to drown their worries in the cup."

Kapur[illegible]

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

155

TARKABHĀṢĀ

OF

S'RĪ KES'AVA MIS'RA

WITH

TARKARAHASYADĪPIKĀ HINDĪ COMMENTARY

BY

Āchārya Vishweshwar Siddhāntashiromaṇi

(Adhyaksha, 'Śrī Rāmdās Darśana Pītha'

Gurukul University, Vrindawan.)

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1967

समर्पणम्

गौतम और कणाद के आदर्शों से अनुप्राणित एक आदर्श आर्य
पिता के अनुरूप स्वर्णिम महत्वाकांक्षाओं के साथ जिन्होंने
अपने प्रिय पुत्र को 'गुरुकुल' में प्रविष्ट किया
केवल
पञ्चम कक्षा में पढ़ते समय ही 'न्यायदर्शन' का भाषानुवाद
उपहार स्वरूप उसके हाथों में देकर जिन्होंने उसके कोमल
हृदय में दार्शनिक प्रवृत्ति का बीजारोपण किया
और
फिर उस बीज को 'सुधा-सिञ्चित' करने के लिए उसकी
स्नेहमयी माता को भी साथ लेकर जो तुरन्त
ही स्वर्ग सिधार गए
उन्हीं
प्रातःस्मरणीय पितृदेव श्री शिवलाल बख्शी महोदय
और
अखण्ड-सौभाग्य-शालिनी माता प्रेमवती देवी
की पुण्य-स्मृति में
उनकी अव्यक्त 'स्नेह-सुधा' से सिञ्चित उस
सङ्कल्प-तरु का यह मधुर फल
सादर समर्पित है।

[पितृ-अमावास्या सं० २०१०]

ग्रन्थकार का परिचय

इस ग्रन्थ के लेखक श्री आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, एम० ए०, गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावनके प्रतिष्ठित स्नातक हैं और सम्प्रति वहाँ के 'श्रीरामदास दर्शन-पीठ' के अध्यक्ष तथा गुरुकुल के आचार्य पद पर कार्य कर रहे हैं। आप मूलतः उत्तर प्रदेश के पीलीभीत जिले के मकतुल ग्राम के रहने वाले हैं। गुरुकुल की शिक्षा समाप्त करनेके बाद उच्चतर अध्ययन के लिये आप काशी गये और वहाँ रहकर आपने काशी के सुप्रसिद्ध विद्वानों से भारतीय दर्शन तथा साहित्य शास्त्र का विधिवत् विशेष अध्ययन किया।

लेखन की प्रवृत्ति आप में प्रारम्भ से ही रही है। भारतीय दर्शन-शास्त्र को हिन्दी भाषा में प्रस्तुत करने की आपने विशाल आयोजना बनाई हुई हैं। 'तर्क-भाषा' की शैली पर ही आपने श्री उदयनाचार्य के ईश्वर-सिद्धि-विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' की हरिदासीय विवृति पर विस्तृत हिन्दी व्याख्या लिखी है। इस 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' की व्याख्या पर 'श्री हरजीमल डालमिया पुरस्कार समिति' दिल्ली की ओर से आप को एक सहस्र रुपये का 'दर्शन-पुरस्कार' प्राप्त हुआ है।

दर्शन के अतिरिक्त साहित्य शास्त्र के चुने हुए प्रमुख ग्रन्थों की हिन्दी व्याख्याएं प्रस्तुत करने की योजना भी आपने बनाई हुई है। इस योजना के अनुसार 'आनन्दवर्धनाचार्य' के 'ध्वन्यालोक', 'वामन' की काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' तथा 'कुन्तक' के 'वक्रोक्ति जीवित' की हिन्दी व्याख्याएं आप तैयार कर चुके हैं। 'हिन्दी ध्वन्यालोक' पर उत्तर-प्रदेशके राजकीय शिक्षाविभाग ने ८००) का पुरस्कार देकर आपको सम्मानित किया है।

लेखक की अन्य कृतियाँ

'महात्मा ईसा' और 'प्रपञ्च-परिचय' लेखक की विद्यार्थी जीवन की प्रारम्भिक कृतियाँ हैं। 'महात्मा ईसा' में महात्मा ईसा की जीवन झाँकी के साथ उनकी धार्मिक भावनाओं का तुलनात्मक विवेचन है। 'प्रपंच-परिचय' ईश्वर, जीव और प्रकृति विषयक दार्शनिक मन्तव्यों से सम्बन्ध रखने वाला उच्च कोटि का दार्शनिक ग्रन्थ है।

पिछले दिनों आपने बौद्ध दर्शन के विषय में 'बौद्ध दर्शन का उदय और अस्त' नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखा है।

संस्कृत-रचनाएँ

हिन्दी के साथ आप संस्कृत भाषा में भी ग्रन्थप्रणयन में लीन हैं। इधर आपने संस्कृत में भी कई प्रौढ़ ग्रन्थों की रचना की है। आप की 'दर्शन-मीमांसा' दर्शन-शास्त्र के विषय में नवीन दृष्टिकोण से लिखी गई एक महत्वपूर्ण कृति है। संस्कृत की कारिका प्रणाली में इसकी रचना की गई है। इसके अतिरिक्त आपने फिलासफी के एथिक्स तथा साइकोलॉजी विषयों पर क्रमशः 'नीति-शास्त्रम्' तथा 'मनोविज्ञान-शास्त्रम्' नामक दो पुस्तकें गद्यात्मक संस्कृत में लिखी हैं। अधिकारी विद्वानों ने इनकी अत्यधिक प्रशंसा की है।

संस्कृत में कारिकात्मक शैली से ही 'साहित्य मीमांसा' 'वैदिक साहित्य कौमुदी' तथा 'पाश्चात्यं तर्कशास्त्रम्' नामक तीन प्रौढ़ ग्रन्थ आपने और लिखे हैं। 'साहित्य मीमांसा' में प्राचीन तथा आधुनिक आलोचना तथा साहित्य के रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि समस्त सम्प्रदायों का परिचय दिया गया है और 'वैदिक साहित्य कौमुदी' में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, आदि के साहित्य का परिचय दिया है।

भारतीय दर्शन तथा साहित्य शास्त्र पर मौलिक ग्रन्थ लेखन तथा संस्कृत वाङ्मय के चुने हुए कुछ अन्य ग्रन्थों की विशद हिन्दी-व्याख्याएँ प्रस्तुत करनेकी योजना आपके हाथ में है।

गुरुकुल, वृन्दावन
वि० सं० २०२०

महेशचन्द्र स्नातक

Jai Kishen Sharma.
M.A. (Sanskrit)
Jammu.

ग्रन्थकार
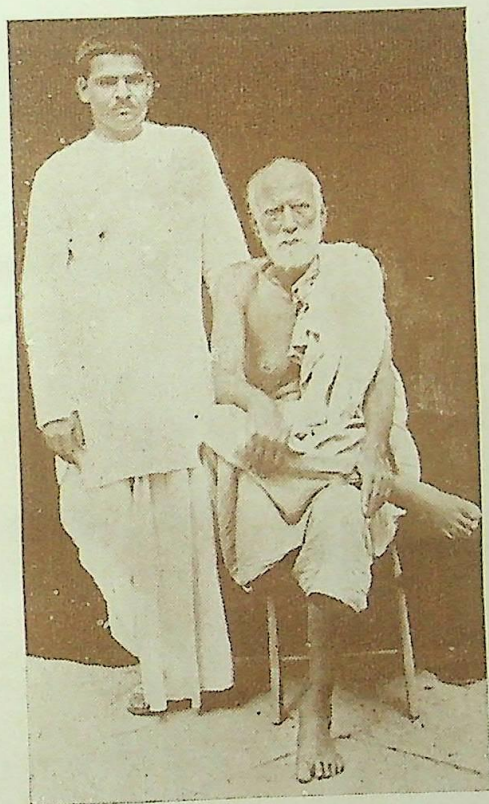
सर्वतन्त्रस्वतन्त्र गुरुवर श्री काशीनाथ जी महाराज के
साथ ग्रन्थकार विश्वेश्वर सिद्धान्तसिरोमणि
काशी, २ मई सन् १९३३

श्री 'रामदास-दर्शनपीठ' के संस्थापक

श्री रामदास जी आर्य तथा श्रीमती राजकुंवरदेवी जी, चैत्र शुक्ला १, सं० २००७, नववर्ष दिवस

आभार प्रदर्शन

श्रीमान सेठ रामदास जी आर्य

ने

अपनी धर्मशीला धर्मपत्नी

श्रीमती राजकुंवर देवी

के

सत्परामर्श

से

दर्शनग्रन्थों की रचना एवं अध्यापन

के लिए

तीस सहस्र रुपये की राशि

से

गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन

में

'श्री रामदास दर्शन पीठ'

की

स्थापना की है

इसी 'श्री रामदास दर्शन पीठ' के तत्त्वावधान में

तर्कभाषा की हिन्दी व्याख्या

प्रस्तुत की गई है

अत एव इन दम्पति के प्रति

हम

आभार प्रदर्शित करते हैं।

'तर्करहस्यदीपिका' हिन्दीव्याख्या में उद्धृत ग्रन्थों की सूची

दो शब्द

हिन्दी आज हमारी 'राष्ट्रभाषा' है। उसको विश्व की अन्य समृद्ध भाषाओं के समान विश्वजनीन एवं वैभवशालिनी बनाने के लिए उसके साहित्यिक भण्डार को सर्वाङ्गपूर्ण बनाना प्रत्येक भारतीय विद्वान् का कर्तव्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जहाँ उपार्जित वैभव के रूप में आज के आधुनिक कला एवं विज्ञान आदि विषयों पर साहित्यनिर्माण की आवश्यकता है वहां इस राष्ट्रभाषा की जननी देवभाषा संस्कृत के परम्परागत साहित्यिक वैभव को हिन्दी के माध्यम के द्वारा आज के समाज के सामने सुन्दर और भव्य रूप में प्रस्तुत करना भी आवश्यक ही है। इसी दृष्टि से संस्कृत साहित्य एवं दर्शन के कुछ चुने हुए प्रथम श्रेणी के ग्रन्थों पर विस्तृत हिन्दी व्याख्याएं प्रस्तुत करने की एक सुसम्बद्ध योजना बनाई गई है और उस पर कार्य हो रहा है। इस योजना के अन्तर्गत श्री आनन्दवर्धनाचार्य के साहित्य शास्त्र के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' की हिन्दी व्याख्या गतवर्ष प्रकाशित हो चुकी है। उसी ग्रन्थमाला के द्वितीय पुष्प के रूप में आज 'तर्कभाषा' की यह हिन्दी व्याख्या प्रकाशित हुई है। 'वामन' की 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' तथा कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवितम्' की हिन्दी व्याख्या छप रही है और उदयनाचार्य की 'न्यायकुसुमाञ्जलि' की हरिदासी विवृति की हिन्दी व्याख्या प्रेस में जा रही है।

'तर्कभाषा' न्यायशास्त्र का—जो भारतीय दर्शन का प्रवेश द्वार है—प्रारम्भिक ग्रन्थ है। इसलिए उसको वस्तुतः भारतीय दर्शन का प्रवेश द्वार भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार भवन निर्माण में वास्तु कलाकार उसके प्रवेश द्वार को सुरुचिपूर्ण बनाने का विशेष प्रयत्न करता है इसी प्रकार इस दार्शनिक प्रवेश द्वार के निर्माता श्री केशवमिश्र ने इसको अत्यन्त सुन्दर एवं उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। इस विषय पर 'तर्कसंग्रह' आदि जितने भी ग्रन्थ लिखे गये हैं, 'तर्कभाषा' उन सब में सबसे सुन्दर ग्रन्थ है।

यों तो 'तर्कभाषा' मुख्यतः न्याय का ग्रन्थ है परन्तु उसमें अन्य शास्त्रों की चर्चा भी अनेक स्थानों पर हुई है। वैशेषिक दर्शन तो न्यायदर्शन का 'समान तन्त्र' ही कहा जाता है। इसलिए इसमें उसके सिद्धान्तों का पूर्णरूप से वर्णन किया गया है। परन्तु उसके अतिरिक्त वेदान्त, मीमांसा तथा बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों की चर्चा भी की गई है। इस संक्षिप्त ग्रन्थ में केशवमिश्र ने जहां तहां सारांशरूप में अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों का अनुवाद करके 'युक्तिलेशोक्तिपूर्वक' उनका जो खण्डन किया है वह बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। केशवमिश्र की लेखनशैली यों भी बड़ी मनोहर और हृदयग्राहिणी है। उस पर उनकी इस तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक विवेचनाशैली ने उनकी इस कृति को 'चार चांद' लगा दिये हैं।

ऐसे सुन्दर ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या में भी मूल ग्रन्थ की मुख्य विशेषताओं को बनाए रखना आवश्यक था। मूल ग्रन्थ का केवल हिन्दी भाषान्तर मात्र कर देने से ग्रन्थ का सौन्दर्य प्रस्फुटित होना सम्भव नहीं था। उसके लिए प्रायः प्रत्येक स्थल पर विशद व्याख्या की आवश्यकता थी। फिर भारतीय न्यायशास्त्र के निर्माण में ब्राह्मण विद्वानों के अतिरिक्त बौद्ध तथा जैन विद्वानों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। केशवमिश्र ने जिस तुलनात्मक पद्धति का अवलम्बन किया था उसको ध्यान में रखते हुए हिन्दी व्याख्या में भी यथास्थान उनके सिद्धान्तों की तुलनात्मक विवेचना आवश्यक थी अन्यथा यह व्याख्या मूल ग्रन्थ के वैभव के अनुरूप नहीं हो सकती थी। अत एव इन सब ही बातों का यथेष्ट ध्यान रखते हुए ही यह हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

इस हिन्दी व्याख्या की एक बड़ी विशेषता यह है कि विशेष महत्वपूर्ण तुलनात्मक स्थलों पर व्याख्याकार ने विषय को अपनी स्वरचित संस्कृतकारिकाओं में संगृहीत कर दिया है। इस प्रकार की कुल २३१ कारिकाएँ भी इसमें सम्मिलित हो गई हैं। यह कारिकाएँ व्याख्याकार के 'दर्शनमीमांसा' नामक दूसरे ग्रन्थ का अंश हैं। इन कारिकाओं से विषय को समझने में तथा स्मरण रखने में विशेष सहायता मिलने की आशा है।

पाठकों की सुविधा के लिए ग्रन्थ के मुद्रण में मूल ग्रन्थ के अनुवाद भाग तथा व्याख्या भाग को अलग-अलग टाइपों में छापा गया है। अनुवाद भाग की प्रधानता को ध्यान में रख कर उसको इटैलिक टाइप में और शेष व्याख्या भाग को पाइका टाइप में छापा गया है। इस दो प्रकार के टाइप के प्रयोग से ग्रन्थ पढ़ते समय पाठकों को विशेष सुविधा होगी। जो पाठक मूल ग्रन्थ का केवल अनुवाद भाग पढ़ना चाहेंगे वह केवल इटैलिक टाइप में छपे भाग को बड़ी सुविधा से पढ़ सकेंगे और जो व्याख्या भाग से लाभ उठाना चाहेंगे वह भी इसमें सरलता अनुभव करेंगे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार 'चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय बनारस' के अध्यक्ष श्री जयकृष्णदास जी गुप्त ने स्वीकार कर इसे सुन्दर रूप में प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है, इसके लिए वे धन्यवाद के अधिकारी हैं। पुस्तक का प्रूफ देखने में पर्याप्त सावधान रहने पर भी कहीं-कहीं अनर्थंकर अशुद्धियाँ रह ही गई हैं। इसका हमें बहुत खेद है। अगले संस्करण में उन सब त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया जायगा।

गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन
७ अक्टूबर १९५३ } विश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणि

तर्कभाषा तथा 'तर्करहस्यदीपिका' व्याख्या की विषयसूची

भूमिका

प्रदीपः सर्वविद्यानां उपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

न्यायशास्त्र उच्चकोटि के संस्कृत साहित्य और विशेषतः भारत के दार्शनिक साहित्य का प्रवेशद्वार है। उसके प्राथमिक परिज्ञान के बिना संस्कृत साहित्य के किसी भी ऊँचे ग्रन्थ को फिर चाहे वह व्याकरण, काव्य, अलङ्कार, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र आदि दर्शन से सर्वथा असम्बद्ध विषयों का ही क्यों न हो यथार्थरूप से समझ सकना कठिन है और दार्शनिक साहित्य में तो उसके बिना एक पग भी चल सकना असम्भव ही है। न्याय और व्याकरण ये दोनों संस्कृत साहित्य का प्रौढ पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए आधारस्तम्भ का काम करते हैं। न्यायशास्त्र पर जिसका जितना ही परिष्कृत अधिकार होगा अन्य शास्त्रों में उसका प्रवेश उतनी ही सरलता और वैसी ही अबाध गति से हो सकता है। न्यायशास्त्र वस्तुतः बुद्धि को सुपरिष्कृत, तीव्र और विशद बनाने वाला शास्त्र है। सान पर रखे हुए शस्त्र द्वारा छेदनकार्य जैसे सुकर हो जाता है, न्याय संस्कारों से सुसंस्कृत मति के लिए शास्त्राभ्यास का कार्य भी वैसे ही सुगम बन जाता है। परन्तु न्यायशास्त्र जहाँ इतना आवश्यक और उपयोगी है वहाँ उतना ही कठिन भी है। विशेषतः नव्य न्याय की रचना तो मानो सभी शास्त्रों की दुर्बोधता को एकत्र करके ही की गई है। नव्य न्याय जैसा दुर्बोध विषय दूसरा नहीं है। संस्कृत के छात्र उसके 'परिष्कारों' को लोहे के चने कहते हैं, जो किसी अंश में भी अत्युक्ति नहीं है। जिन्होंने अपने जीवन के सबसे सुन्दर, सबसे सुखद और सबसे अधिक बहुमूल्य बारह-बारह वर्ष नव्य न्याय के उन्हीं परिष्कारों की भेंट चढ़ा दिए हैं ऐसे त्यागी और तपस्वी विद्वानों की आज भी कमी नहीं है। पर उनकी संख्या प्रतिदिन कम होती जा रही है। आज के भोग-प्रधान युग में 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' का आदर्श सामने रख कर कठोर साधना करने वाले इन तपस्वी विद्वानों के उस तप और त्याग की कहानी बड़ी करुण जान पड़ती है। परन्तु भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में वह सदा सुवर्णाक्षरों में अङ्कित रहेगी। उस अपरिमित और उदात्त तप के बाद शान्ति और सन्तोष के साथ—

अधीतमध्यापितमर्जितं यशः, न शोचनीयं किमपीह विद्यते ।
अतः परं श्रीभवनाथशर्मणां, मनो मनोहारिणि जाह्नवीतटे ॥

के कृतज्ञतापूर्ण शब्दों में अपने जीवन की चरितार्थता को उद्घोषित करने वाली वे अमर आत्माएँ धन्य हैं।

न्यायशास्त्र का आरम्भ कब, कैसे और कहाँ हुआ इसका कोई निश्चित विवरण संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता फिर भी उसके प्रतिपाद्य विषय का मनन करने से

उसके आविष्कार की कहानी का कुछ आभास पाया जा सकता है। किसी एक विषय को लेकर विशुद्ध जिज्ञासा-भाव से अथवा जय-पराजय की आकांक्षा से अनेक विद्वान् पुरुषों में परस्पर जो शास्त्रचर्चा होती है उसी का नाम क्रमशः 'वाद' और 'जल्प' है। न्यायशास्त्र की सारी शक्ति 'वाद' और 'जल्प' अथवा शास्त्रचर्चा के इस स्वरूप को परिमार्जित, परिष्कृत और नियमित करने में ही व्यय हुई है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। वादी और प्रतिवादी को अपने २ विषय का प्रतिपादन किस शैली से करना चाहिए, कौन सी ऐसी त्रुटियाँ हैं जो उनके पक्ष को कमजोर बना देती हैं; प्रतिपक्षी को कैसे अवसर पर निगृहीत कर लेना चाहिए, वाद-विवाद की शैली और इन्हीं दाँव-पेंचों का विशद विवरण न्यायशास्त्र के बहुत बड़े भाग में मिलता है। इसके अतिरिक्त न्यायशास्त्र का जो कुछ अंश बचता है वह देहादि से व्यतिरिक्त नित्य आत्मा की सत्ता साधन में व्यय हुआ है। बस यह दो और केवल यही दो न्यायशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय हैं। इन दोनों विषयों का ध्यान कर उस परिस्थिति का जिसमें न्यायशास्त्र का निर्माण हुआ, अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि न्यायशास्त्र के इन दोनों विषयों में से एक साध्य है और दूसरा साधन। देहादि से अतिरिक्त नित्य आत्मा की सत्ता सिद्ध करना ही न्यायशास्त्र का प्रमुख और सैद्धान्तिक भाग है। यह दूसरी बात है कि परिस्थितियों के वशीभूत होकर अपने विषयों का प्रतिपादन करते समय उसने साध्य को गौण और साधन-भाग को प्रधान बना दिया है। न्यायशास्त्र के प्रधान प्रतिपाद्य-विषय आत्मवाद को देखकर यह सहज ही समझा जा सकता है कि आत्मवाद और नैरात्म्यवाद के सङ्घर्ष में ही न्यायशास्त्र का आदि सूत्रपात हुआ है और उनके पारस्परिक वाद-विवादों से ही न्यायशास्त्र का विकास हुआ है।

वस्तुतः देखा जाय तो न्याय-दर्शन मनुष्य के विचारों का परिशोधक और संरक्षक है। वात्स्यायन ने 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' के शब्दों में न्याय का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया है, वह भी इसी बात का पोषक है। प्रमाण और तर्क [युक्तियों] के द्वारा किसी सिद्धान्त [अर्थ] की परीक्षा करना न्याय का कार्य है। इस दृष्टि से मनुष्य जब किसी विषय में कोई सिद्धान्त स्थिर करता है वहीं न्याय की सहायता अपेक्षित होती है। इसलिए न्याय-दर्शन विचारशील मानव समाज की मौलिक आवश्यकता और प्राथमिक उद्भावना है। उसके विना मनुष्य न अपने विचारों एवं सिद्धान्तों को परिष्कृत तथा सुस्थिर ही कर सकता है और न प्रतिपक्षी के सैद्धान्तिक आघातों से अपने सिद्धान्त की रक्षा ही कर सकता है। अपने सिद्धान्तों के परिष्कार, रक्षा और प्रचार कार्य में मनुष्य का सबसे बड़ा सहायक न्यायशास्त्र ही है। इसीलिए न्याय-दर्शन के 'जल्प' और 'वितण्डा' का प्रयोजन बतलाते हुए भाष्यकार ने लिखा है—

'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे, कण्टकशाखावरणवत्'

जिस प्रकार किसी छोटे पौधे की रक्षा करने के लिए उसके चारों ओर काँटों की बाड़ लगा दी जाती है इसी प्रकार सिद्धान्त या तत्त्व की रक्षा के लिए जल्प-वितण्डा आदि न्यायाङ्ग, काँटेदार बाड़े के समान हैं।

इस सिद्धान्त को समझ लेने से हमें न्याय शास्त्र के विविध स्वरूपों को या उन परिवर्तनों को जो कि समय २ पर उसमें होते रहे हैं समझने में सहायता मिलेगी। 'अर्थपरीक्षा' और 'तत्त्वाध्यवसाय-संरक्षण' यही न्याय शास्त्र के प्रधान कार्य हैं इस लिए उसका स्वरूप बहुत कुछ मानव-विचारों के ऊपर अवलम्बित है। जिस प्रकार पृथ्वी में सर्व प्रकार के पोषक तत्त्व हैं, हम अपने चर्म-चक्षुओं से उन्हें भले ही न देख सकें पर नीम और नीबू, अंगूर और आम, केला और कटहल सभी अपने २ पोषक तत्त्व उसी पृथ्वी में से खींच लेते हैं और अपने फलों द्वारा उन विरोधी तत्त्वों के अस्तित्व को मूर्त्तरूप में हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं, इसी प्रकार विचार क्षेत्र और प्रमाण क्षेत्र में भी हर प्रकार के तत्त्व विद्यमान हैं। हर विचार के और हर सिद्धान्त के पोषक तत्त्व उसमें मिल सकते हैं। विचार क्षेत्र से उन तत्त्वों को खींच कर अपने सिद्धान्त को परिपुष्ट करना और उन तत्त्वों को मूर्त्तरूप दे देना यही न्यायशास्त्र का कार्य है। इसलिए बहुधा दो विरोधी सिद्धान्तों के समर्थन एवं संरक्षण का भार न्यायशास्त्र पर ही आता है, और न्यायशास्त्र उन दोनों ही सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए आवश्यक उपकरण उसी सामान्य क्षेत्र से निकाल कर जुटाता है। 'आत्मा है' की पुष्टि भी न्यायशास्त्र ही करता है और 'आत्मा नहीं है' इसकी पुष्टि का उत्तरदायित्व भी न्यायशास्त्र पर ही आता है। हम उसे 'बौद्धन्याय' नाम से अलग करने का यत्न भले ही करें पर है तो वह न्यायशास्त्र ही। ऐसी अवस्था में मूलतः एक ही तत्त्व होने पर भी उसके बाह्यस्वरूप में परिवर्तन हो जाता है और एक ही न्यायशास्त्र प्राचीन न्याय, नव्यन्याय, बौद्धन्याय, जैन न्याय, पौरस्त्यन्याय, पाश्चात्यन्याय आदि के विविधस्वरूपों में हमारे सामने आता है।

न्यायशास्त्र के विकास पर धार्मिक प्रभाव—

भारतीय साहित्य में न्याय शास्त्र का पथनिर्देश प्रायः धार्मिक भावना ने किया है। समाज में जिस प्रकार की धार्मिक क्रान्तियां समय २ पर होती गईं न्यायशास्त्र के स्वरूप पर उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से अङ्कित होता गया। वह प्रभाव इतना व्यापक और इतना स्थायी है कि विभिन्न काल में निर्मित न्याय साहित्य पर उसकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है। इस प्रभाव की परख को ध्यान में रखते हुए यदि हम सम्पूर्ण न्याय साहित्य का विश्लेषण करें तो हमें उसके तीन भाग बिल्कुल अलग २ दिखाई देंगे, जिन्हें हम प्राचीन न्याय, मध्य न्याय और नव्य न्याय के नाम से निर्दिष्ट कर सकते हैं। न्याय दर्शन का प्रादुर्भाव बुद्ध भगवान् के जन्म के पूर्व हो चुका था। न्याय शास्त्र के प्रवर्तक गौतम ऋषि के गोत्रज होने से ही कदाचित् वह गौतम बुद्ध कहे जाते हैं। इसलिए बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव और प्रतिष्ठा से पूर्व का न्याय 'प्राचीन न्याय' कहलता है; बौद्ध और जैन धर्म के

यौवनकाल का 'बौद्ध न्याय' तथा जैन-न्याय 'मध्य कालीन न्याय' है और बौद्ध-धर्म के पतन एवं ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान काल का न्याय 'नव्य न्याय' के नाम से विख्यात है।

भारत के धार्मिक जगत् में बौद्ध धर्म एक भीषण क्रान्ति के रूप में उत्पन्न हुआ और वि० पू० पञ्चम शताब्दी से लेकर दश शताब्दी ई० तक १५०० वर्ष उसने देश के धार्मिक एवं राजनीतिक क्षेत्र को व्यापक रूप में प्रभावित किया। परन्तु उसके बाद वह भारत से एकदम लुप्त हो गया। भारत के सीमावर्ती तिब्बत चीन, ब्रह्मा, लङ्का आदि देशों में बौद्धधर्म का प्रचार हो जाने के बाद भारत में उसका प्रभाव बहुत काल तक स्थिर नहीं रह सका। वह आँधी की तरह आया, राज्याश्रय ने उसे उत्तेजना दी, लगभग पन्द्रह सौ वर्ष बाद फिर जैसे सब कुछ साफ हो गया केवल साहित्य में जहाँ-तहाँ उसके कुछ चिह्न अवशिष्ट रह गए। बौद्धधर्म के उन्हीं साहित्यिक भग्नावशेषों में मध्यकालीन 'बौद्ध-न्याय' है। 'बौद्ध न्याय' के समकालीन तथा समान तन्त्र 'जैनन्याय' की भी लगभग वही स्थिति है। परन्तु न विदेशों में उसका उतना प्रचार हुआ और न भारत से उसका विलोप ही हुआ।

वह बौद्धन्याय [तथा जैन न्याय] एक आँधी या क्रान्ति की स्मृति या भग्नावशेष भले ही हो परन्तु उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है और वह व्यक्तित्व इतना जबरदस्त है कि उसने दार्शनिक साहित्य और विशेषतः ब्राह्मणों के न्याय साहित्य को अलग दो टुकड़ों में बाँट दिया है। बौद्धधर्म से पूर्व का प्राचीन न्याय अलग है और बौद्धधर्म के ह्रास के बाद का नव्य न्याय अलग है। उन दोनों की रचना शैली इतनी भिन्न हो गई है कि उनको मिलाने का यत्न करने पर भी वे मिल नहीं सकते। उन दोनों के बीच अविचल खड़ा हुआ 'मध्य न्याय' या बौद्ध न्याय जैसे आज भी उनके सारे बल-पौरुष-प्रयत्न को विफल कर रहा है।

प्राचीन और नवीन न्याय के बीच 'बौद्ध न्याय' जो अपना एक अलग अस्तित्व रखता है उसका कारण उसकी धार्मिक विशेषता है। बौद्धधर्म अनात्मवादी धर्म है और उसके पूर्वोत्तरवर्ती धर्म आत्मवादी धर्म हैं। इसलिए जहाँ प्राचीन और नवीन न्याय आत्मास्तित्व-पोषक तत्त्व जुटाने का प्रयत्न करते हैं वहाँ बौद्धन्याय अनात्मवाद-पोषक तत्त्वों का संग्रह करने में व्यस्त है। इसलिए उसका व्यक्तित्व उन दोनों से अलग स्पष्ट ही दीख रहा है।

न्यायशास्त्र के दो युग—

न्याय साहित्य के जो यह तीन प्रमुख विभाग हमने किए हैं, इनकी भी सूक्ष्म विवेचना करने से उनमें से प्रत्येक में अनेक स्तर [तह] दिखाई देते हैं जो उसके विभिन्न-कालिक प्रभावों को परिलक्षित करते हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन न्याय को लीजिए। रचना की दृष्टि से इसके दो भाग अत्यन्त स्पष्ट हैं। एक में मूल सूत्र और दूसरे में भाष्य, वार्तिक, तात्पर्यटीका आदि का समावेश होता है। इनमें से न

मूल सूत्रों का निर्माण एक दिन में हुआ है और न भाष्य, वार्तिक आदि का, दोनों के निर्माण में शताब्दियाँ लगी हैं। भाष्य, वार्तिक, तात्पर्यटीका आदि अलग २ ग्रन्थ हैं इसलिए उनके ऊपर इन शताब्दियों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। परन्तु मूल सूत्र अलग २ पुस्तकें नहीं हैं। वह एक पुस्तक के रूप में उपलब्ध होते हैं। इसलिए उनके भीतर शताब्दियों का प्रभाव सहज में नहीं देखा जा सकता फिर भी जिन संघर्षों में होकर न्याय सूत्रों को अन्तिम स्वरूप मिल सका है उनका प्रभाव छिप नहीं सकता है।

यों तो न्याय शास्त्र का सारा जीवन ही संघर्ष का जीवन रहा है। आत्मा और अनात्मा के इस संघर्ष से उसका जन्म हुआ, इसीसे उसका विकास हुआ, इसीसे वह जी रहा है और जिस दिन मरेगा उस दिन इसी संघर्ष में वीरगति लाभ करेगा। परन्तु इस संघर्षमय जीवन में उसके शत्रुगण विविध रूपों में उसके प्रतिपक्ष में खड़े हुए हैं। जिस आदि अनात्मवाद के संघर्ष से न्याय शास्त्र को जन्मलाभ हुआ वह अनात्मवाद कुछ दूसरी ही चीज थी परन्तु कुछ समय बाद न्यायशास्त्र के यौवनकाल में उसी अनात्मवाद ने बौद्ध दर्शन के नैरात्म्यवाद के नवीन रूप में आकर उससे लोहा लिया है।

१ साध्यप्रधानयुग—

उपनिषदों में अनेक स्थलों पर अनात्मवादी अथवा देहात्मवादी मतों का उल्लेख मिलता है। कठोपनिषत् १,९ 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' और छान्दोग्य नवमाध्याय के इन्द्र-विरोचन के उपाख्यान में जिस अनात्मवाद और देहात्मवाद का उल्लेख हुआ है वह विचार उस काल से भी बहुत पूर्व की सम्पत्ति हैं। ऐसे विचारों का परिशोधन कर नित्य आत्मा के अस्तित्व को प्रतिष्ठित करना ही उपनिषदों का ध्येय है। उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये लगभग उसी समय के आस पास न्यायशास्त्र का भी सूत्रपात हुआ। यह न्यायशास्त्र का 'साध्यप्रधान' अथवा 'अध्यात्मप्रधान' युग था। उसमें विशुद्ध जिज्ञासा भाव से शङ्का-समाधान होता था। परन्तु जय या पराजय की भावना उसमें नहीं थी। ऐसे अनेक प्रसङ्गों की चर्चा उपनिषदों में आई है। उन प्रसङ्गों में दोनों पक्ष अपनी-अपनी बात को समझाने के लिये युक्ति और प्रमाणों का आश्रय लेते थे। उनको भी सिद्धान्तों के परिशोधन एवं संरक्षण के लिये न्यायशास्त्र की सहायता की आवश्यकता होती थी। परन्तु वह जो कुछ थी, जिज्ञासा-भाव से मूलतत्त्व को समझने के लिये। श्रद्धापूर्वक, समित्पाणि होकर, जिज्ञासाभाव से लोग उपस्थित होते थे आत्मदर्शी ऋषियों के आश्रम में। वैसे ही प्रेम भाव से अपने सम्पूर्ण अनुभव को जिज्ञासु के हृदय में उड़ेल देने की आकुलता के साथ ऋषियों के उत्तर होते थे। और यदि एक बार में समझ में नहीं आते तो दूसरे दिन दूसरे प्रकार से और तीसरे दिन तीसरे प्रकार से उसी बात को समझाया जाता था। उद्देश्य था आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना, वह जिस प्रक्रिया से भी हो सके वही ठीक है—

'यथा यथा भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रिया साध्वी विपरीता ततोऽन्यथा ॥'

यह प्राचीन न्याय का एक युग था। उसे हमने 'साध्यप्रधान युग' के नाम से निर्दिष्ट किया है।

२ साधनप्रधानयुग—

उसके बाद आत्मा और अनात्मा का यह विवाद जब स्पष्टरूप से पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में सामने आया और उसके साथ वादी या प्रतिवादी की जय अथवा पराजय की भावना का पुट लगा तो उसने एक नवीन रूप धारण किया। जय-पराजय की इस भावना के साथ ही विषय-प्रतिपादक पञ्चावयवयुक्त अनुमान-वाक्य की शैली का आविष्कार हुआ। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरणादि का पृथक् २ निर्देश कर परार्थानुमान की प्रणाली का जन्म और उसके बाद हेत्वाभास, जाति और अन्त में निग्रह स्थानों का परिष्कृत रूप में प्रचार इन सबका आविष्कृत और प्रचलित होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था और वही हुआ भी। थोड़े समय में वाद-विवाद की कला ने एक स्वतन्त्र शास्त्र का रूप धारण कर लिया और उनके लिये स्वतन्त्र परिभाषाओं और स्वतन्त्र नियमों का निर्माण हुआ। न्यायशास्त्र के इस परिवर्तन काल में नियम-निर्माण आदि के इस अभिनव आयोजन का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि तात्कालिक नैयायिकों की दृष्टि में आत्म-तत्त्व विवेचन रूप उनका प्रधान प्रतिपाद्य विषय तो पीछे पड़ गया, और साध्य के बजाय साधन के निर्माण में ही उनकी सारी शक्ति लग गई। इस नवीन युग-भावना के बीच सुसंस्कृत होकर न्यायशास्त्र जिस रूप में हमारे पास पहुँचा वही आज का उपलब्ध न्यायदर्शन है, जिसमें साध्य की अपेक्षा साधन पर और प्रमेय की अपेक्षा प्रमाण पर अधिक बल दिया गया है। इसे हम न्यायशास्त्र में 'साधन-प्रधान-युग' कह सकते हैं।

न्यायशास्त्र के इन दो विभिन्न रूपों का परिचय न केवल उसके विकास क्रम के सूक्ष्म परिशीलन में ही पाया जाता है, अपितु दो विभिन्न कालों में उसके लिये प्रयुक्त होने वाले दो विभिन्न नामों में भी उनकी ध्वनि स्फुट रूप में प्रतीत होती है। प्राचीन न्यायशास्त्र के लिये 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में बहुतायत से हुआ है। और वह शब्द न्यायशास्त्र के 'साध्यप्रधान युग' की भावना को ही स्फुटतया व्यक्त करता है। 'आन्वीक्षिकी' शब्द का अर्थ स्वयं भाष्यकार 'वात्स्यायन' ने इस प्रकार किया है—

'प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा ।
तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ॥'

अर्थात् प्रत्यक्ष [योगी प्रत्यक्ष] और आगम [आप्त वचन] द्वारा परिज्ञात अर्थ [आत्मतत्त्व] का [युक्तियों द्वारा लौकिक पुरुषों के] परिज्ञान प्राप्त करने

का नाम 'अन्वीक्षा' है और अन्वीक्षण के आधार पर प्रवृत्त हुई विद्या का नाम आन्वीक्षिकी अथवा न्यायशास्त्र है।

आन्वीक्षिकी शब्द के इस सूक्ष्म विश्लेषण से यह परिणाम सरलता से ही निकाला जा सकता है कि इस शब्द के भीतर आत्मान्वीक्षण की झलक स्पष्ट है और वह न्यायशास्त्र के इतिहास के 'साध्यप्रधान-युग' की भावना को ही व्यक्त करता है।

आन्वीक्षिकी के अतिरिक्त न्यायशास्त्र के वादविद्या, तर्कविद्या आदि जो अन्य नाम मनुस्मृति, स्कन्दपुराण, महाभारत, गौतम-धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थों में मिलते हैं, वे सभी उसके 'साधनप्रधान-युग' के द्योतक हैं। स्वयं न्याय शब्द की ध्वनि भी 'साधनप्रधान-युग' के साथ ही है। 'वात्स्यायन' ने न्याय शब्द का अर्थ—

'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'।

किया है, उसकी ध्वनि 'साध्यप्रधान-युग' के नहीं अपि तु 'साधनप्रधान-युग' के साथ ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन न्यायशास्त्र का जो रूप मूल न्याय दर्शन के नाम से आज उपलब्ध होता है वह दो विभिन्न कालों की दो विभिन्न भावनाओं के बीच निमग्नोन्मग्न होता हुआ परिमार्जित और परिष्कृत होकर हम तक पहुँचा है। और सूक्ष्म आलोचक-दृष्टि उसके भीतर से प्राचीन न्याय शास्त्र के क्रमिक विकास के इतिहास को सफलतापूर्वक परिलक्षित कर सकती है।

न्याय शास्त्र के निर्माता

इस न्याय-शास्त्र के निर्माण का वास्तविक श्रेय किसको प्राप्त है। इस प्रश्न का भी कोई सहज निपटारा दिखाई नहीं देता। इसका कारण यह है कि संस्कृत साहित्य के विविध ग्रन्थों में न्यायशास्त्र के रचयिता का उल्लेख विविध नामों से मिलता है। पद्मपुराण[1], स्कंदपुराण[2], गान्धर्व तंत्र[3], नैषधचरित[4] और विश्वनाथ वृत्ति[5]

---

१. कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गोतमेन तथा न्यायं, सांख्यन्तु कपिलेन वै॥ [पद्म, उत्तर खं. अ. २६३]

२. गोतमः स्वेन तर्केण खण्डयंस्तत्र तत्र हि। [स्कन्द, कालिका खं. अ. १७]

३. गोतमप्रोक्तशास्त्रार्थनिरताः सर्व एव हि।
शार्गालीं योनिमापन्नाः सन्दिग्धाः सर्वकर्मसु॥
[गान्धर्व तन्त्र-प्राणतोषिणी तन्त्र में उद्धृत]

४. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः॥ [नैषध सर्ग १७]

५. एषा मुनिप्रवरगोतमसूत्रवृत्तिः,
श्रीविश्वनाथकृतिना सुगमाल्पवर्णा।
श्रीकृष्णचन्द्रचरणाम्बुजचञ्चरीक-
श्रीमच्छिरोमणिवचःप्रचयैरकारि॥

आदि ग्रन्थों में न्यायशास्त्र का रचयिता 'महर्षि गौतम' को ठहराया गया है। इसके विपरीत न्यायभाष्य[1], न्यायवार्तिक[2], न्यायवार्तिक तात्पर्य[3] टीका और न्यायमंजरी[4] आदि न्याय शास्त्र के अनेक ग्रन्थों में न्याय शास्त्र को 'अक्षपाद' की कृति बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में एक तीसरा मत महाकवि भास[5] के प्रतिमा नाटक से मिलता है जो इन दोनों से भिन्न है और जो न्याय शास्त्र का प्रणेता श्री मेधातिथि को बतलाता है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में न्याय शास्त्र के रचयिता के रूप में हमारे सामने तीन नाम आते हैं। इन तीनों में न्यायशास्त्र वस्तुतः किसकी कृति है इसका निर्णय कर सकना कठिन कार्य है। प्राचीन पण्डितों के अनुसार अक्षपाद और गोतम एक ही व्यक्ति हैं। महर्षि गोतम का दूसरा नाम अक्षपाद क्यों पड़ा इस सम्बन्ध में दो आख्यायिकाएँ प्रसिद्ध हैं। पहली आख्यायिका का भाव यह है कि—

महर्षि गोतम किसी समय भ्रमण के लिए जा रहे थे। उस समय वे किसी दार्शनिक प्रश्न के विचार में इतने निमग्न हो गये कि मार्ग का ध्यान उन्हें न रहा और वह किसी कुएँ में जा गिरे। कुएँ से उनकी प्राणरक्षा तो यथा-कथञ्चित् हो गई, पर आगे कभी इस प्रकार की दुर्घटना न घटे इस भाव से कृपालु भगवान् ने उनके पैरों में दो आंखें बना दीं इसीलिए वह अक्षपाद [पैरों में आंख वाले] कहे जाने लगे।

इस कथा की निःसारता और मिथ्या-परिकल्पना इतनी स्पष्ट है कि उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जिस मस्तिष्क से इस मिथ्या कथानक की सृष्टि हुई उसने अक्षपाद शब्द को अन्वर्थ कर देने की बात तो सोची, पर शेष उसकी यौक्तिकता आदि पर तनिक भी विचार नहीं किया अन्यथा ऐसी तुच्छ परिकल्पना वह कभी न करता। मन अणु है, एक समय में एक ही वस्तु का ज्ञान वह कर सकता है, 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' यह न्यायशास्त्र का ही सूत्र है। महर्षि गौतम का मन उस समय किसी अन्य

---

१. योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्।
तस्य वात्स्यायन इदं, भाष्यजातमवर्तयत्॥
[न्याय भाष्य, विजयनगरम् संस्कृत सीरीज]

२. यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥ [न्यायवार्तिक]

३. अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते। [न्याय-वार्तिक तात्पर्य टीका]

४. अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादपः।
सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भरः॥ [न्यायमञ्जरी, प्रथम परि०]

५. भोः काश्यपगोत्रोऽस्मि। साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।
[प्रतिमा नाटक अङ्क ५, पृ० ७९]

विषय के चिन्तन में व्यासक्त था, इसलिए आँखों के सामने कुएँ के आते हुए भी वह कुएँ को नहीं देख सके। यही उनके कुएँ में गिरने का कारण था, न कि उनकी नेत्र-विहीनता। पैरों में दो आँखें और हो जाने से क्या इस परिस्थिति में कोई परिवर्तन हो गया? पैरों में क्या उनके सारे शरीर में आँखों के सिवा और कुछ भी न रहता तो भी मन के विषयान्तरासक्त होने की हालत में असली दो आँखों के समान वे सहस्रों आंखें व्यर्थ ही रहतीं और वे उस घटना की पुनरावृत्ति को रोक नहीं सकती थीं। महर्षि गोतम के सम्बन्ध में ऐसी मिथ्या कल्पना करते समय भी यदि उसे उनके इस सिद्धान्त का स्मरण हो आता तो आशा थी कि उसे इस प्रकार की मिथ्या और व्यर्थ कल्पना करने का साहस न होता। हाँ पैरों के दोष से कुएँ में गिर पड़ने की भी दुर्घटना ने उनकी 'आँखें खोल दीं' ताकि आगे वह सावधान होकर चलें और इस प्रकार की दुर्घटना की पुनरावृत्ति न हो। यह भावार्थ यदि 'अक्षपाद' शब्द से निकाला जाय तो उसकी अपेक्षा अधिक सङ्गत होगा।

दूसरी कथा का निर्देश न्यायकोशकार ने अपनी टिप्पणी में किया है जिसका भाव यह है कि-महर्षि गोतम, न्याय-सिद्धान्तों का खण्डन करने वाले महर्षि व्यास से अप्रसन्न हो गये और उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा कर ली कि कभी इसका मुख नहीं देखूँगा। पीछे व्यास की प्रार्थना आदि से प्रसन्न होने पर उन्होंने पैरों में आंखें बनाकर उन पैर की आंखों से उन्हें देखा[1]। पूर्वकथा की भाँति ही यह कथा भी सर्वथा मिथ्या, अविश्वसनीय और किसी दूषित मस्तिष्क की परिकल्पना है। उसका प्रयोजन न्याय का खण्डन करने वाले वेदान्त शास्त्र के प्रवर्तक महर्षि व्यास की तुच्छता दिखाकर महर्षि गोतम और उसके द्वारा न्यायशास्त्र की गौरव वृद्धि करना है। अस्तु, इस प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं से इस समस्या का हल नहीं हो सकता।

गोतम तथा अक्षपाद का भेद पक्ष—

पुराण आदि प्राचीन संस्कृत साहित्य में पाए जाने वाले इस सम्बन्ध के ऐतिहासिक विवरणों पर यदि विचार करें तो वह शायद गोतम और अक्षपाद की एकता के बजाय विभिन्नता की पुष्टि में अधिक सहायक होंगे। इसका कारण यह है कि पुराणों के अनुसार महर्षि गोतम का स्थान 'मिथिला' के पास और अक्षपाद का स्थान 'काठियावाड़' के पास 'प्रभासपत्तन' में निश्चित होता है। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार अक्षपाद शिवजी के अंशभूत सोमशर्मा ब्राह्मण के पुत्र हैं, और प्रभासपत्तन के रहने वाले और जातुकर्णी व्यास के समकालीन हैं। उनके सम्बन्ध में ब्रह्माण्ड पुराण का वर्णन इस प्रकार है—

---

१. गोतमो हि स्वमतदूषकस्य व्यासस्य दर्शनं चक्षुषा न कर्तव्यमिति प्रतिज्ञाय, पश्चाद् व्यासेन प्रसादितः पादे नेत्रं प्रकाश्य तं दृष्टवान्, इति पौराणिकी कथा।

सप्तविंशतिमे प्राप्ते परिवर्ते क्रमागते ।
जातुकर्ण्यो यदा व्यासो भविष्यति तपोधनः ॥
तदाऽहं संभविष्यामि सोमशर्मा द्विजोत्तमः ।
प्रभासतीर्थमासाद्य योगात्मा लोकविश्रुतः ॥
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपोधनाः ।
अक्षपादः कणादश्च उलूकी वत्स एव च ॥

A. S. B. द्वारा वायुपुराण नाम से प्रकाशित ब्रह्माण्डपुराण अध्याय २३.

यदि यह वर्णन ठीक है तो यह मानना ही पड़ेगा कि श्री अक्षपाद का स्थान वर्तमान काठियावाड़ के प्रभासपत्तन में कहीं रहा होगा।

इधर महर्षि गोतम के स्थान का पता मिथिला के पास मिलता है। वर्तमान दरभङ्गा से उत्तर पूर्व के कोने में २८ मील की दूरी पर 'गोतम स्थान' नाम-का एक स्थान मिलता है जिसमें एक बहुत ऊँचा टीला है और कहा जाता है कि यहां ही किसी समय महर्षि गोतम की कुटी रही होगी। उस टीले के पास ही गोतम कुण्ड नाम का एक बहुत बड़ा तालाब है जिसका पानी अत्यधिक सफेद और दूध की भाँति ही अत्यन्त स्वादिष्ट है। इस तालाब से एक छोटी सी नदी भी निकलती है जो खीरोई [क्षीरोदधि] नाम से प्रसिद्ध है। 'गोतम स्थान' पर चैत्र की नवमी को आज भी बहुत बड़ा मेला लगता है। इस प्रकार गोतम और अक्षपाद के स्थान-भेद के इस प्रश्न ने उनके एकीकरण में एक और बाधा उपस्थित कर दी है जिससे मूल समस्या की कठिनता और भी बढ़ गई है।

मेधातिथि—

इसी प्रसङ्ग में तीसरा नाम 'मेधातिथि' का उपस्थित हो जाता है, वह भी एक विचारणीय प्रश्न है। श्रीसुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने अपनी 'हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी' नामक ग्रन्थ के द्वितीय भाग में इस प्रश्न पर जिस ढंग से विचार किया है उससे भी इस प्रश्न का हल हो नहीं सकता है। इस सम्बन्ध में उनका मत दुर्बल और सारहीन जान पड़ता है। आपने भास के प्रतिमा नाटक में आई हुई 'मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्' इस पंक्ति की अर्थान्तर कल्पना कर समस्या को सुलझाने का जो प्रयत्न किया वह बहुत अस्वाभाविक और असमर्थनीय बन गया है। आपका भाव यह जान पड़ता है कि 'मेधातिथेः' को षष्ठी न मानकर पञ्चमी का रूप मानना चाहिए तब उसका अर्थ 'मेधातिथि का न्यायशास्त्र' न होकर 'मेधातिथि से न्यायशास्त्र पढ़ा' यह हो जायगा। और उस अवस्था में न्यायशास्त्र-प्रणेता के रूप में मेधातिथि का नाम आने का कोई अवसर ही नहीं रहेगा। यह ठीक है, यदि ऐसा अर्थ संभव होता तब तो यह प्रश्न उठता ही क्यों, पर उसका वैसा अर्थ मानना सरल, स्वाभाविक और संभव नहीं है। 'मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्' यह वाक्यांश यदि अलग स्वतन्त्ररूप से हमारे सामने आए तो हम उसके दोनों ही अर्थ कर

सकते हैं, परन्तु जिस प्रकार से और पूर्वापर के जिन वाक्यांशों के बीच वह प्रयुक्त हुआ उस स्थिति में उसका एक और केवल एक ही अर्थ हो सकता है, दूसरा अर्थ करने की नाम-मात्र भी संभावना नहीं है। भास की पुस्तक से मूल वाक्य हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। 'मानवीयं धर्मशास्त्रम्-और-बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रम्-के साथ-मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्-का अर्थ स्पष्टरूप से 'मेधातिथि का न्यायशास्त्र' ही हो सकता है 'मेधातिथि से न्यायशास्त्र पढ़ा' यह अर्थ सर्वथा प्रक्रम-विरुद्ध है। श्रीदासगुप्त ने ऐसा अर्थ करके भास, मेधातिथि और न्यायशास्त्र सबके साथ अन्याय किया है।

क्या गोतम न्यायशास्त्र के निर्माता नहीं हैं ?—

श्रीदासगुप्त ने इससे भी अधिक आश्चर्यजनक एक और नई कल्पना की है। न्यायशास्त्र-प्रणेताओं की सूची में महर्षि गोतम का नाम रखना आपकी दृष्टि में सर्वथा ही अप्रामाणिक है। न्यायशास्त्र के प्रणेता श्री अक्षपाद ही हैं; उस सम्बन्ध में मेधातिथि या गोतम का नाम आ ही नहीं सकता ऐसा आपका मत है। आप लिखते हैं—

Medhatithi Gotam is more or less a mythical person, and there is no proof that he ever wrote anything'......

Vatsyayan himself refers to Akshpada as the person to whom Nyaya [the science of logic.] revealed itself. Udyotakar also refers to Akshpada as the utterer of the Nyaya shastra and so also does Vachaspati. There is therefore absolutely no reason why the original authorship of Nyaya should be attributed to a Gotam as against Akshpada...

The Nyaya shastra therefore cannot be traced on the evidence of the earliest Nyaya authorities to any earlier Gotam; for had this been so, it would certainly have been mentioned by either Vatsyayan, Udyotkaror Vachspati.

(History of Indian philosophy, Vol. 11, P. P. 393–94)

न्यायशास्त्र के साथ महर्षि गोतम का नाम ऐसा जुड़ा है जिसके अलग करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। शताब्दियों से वे न्यायशास्त्र के प्रणेता माने जारहे हैं। संस्कृत साहित्य के अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण ऊपर उद्धृत किए जा चुके हैं जो स्पष्टरूप से महर्षि गोतम को ही न्यायशास्त्र का प्रणेता प्रतिपादन कर रहे हैं, फिर भी श्रीयुत दासगुप्त महोदय ने इस प्रकार की एक अभूतपूर्व कल्पना करने का साहस कैसे किया यही आश्चर्य है।

महर्षि गोतम न्यायशास्त्री के रूप में केवल भारत में ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। द्वितीय शताब्दी A. D. के पूर्वार्द्ध की यह बात है जब कि न्यायशास्त्री के रूप में महर्षि गोतम का नाम भारत की सीमा को भी पार कर परशिया तक विख्यात हो गया था। परशिया के सासानि-

यन-वंशीय बादशाह आर्दाशिर [Ardashir A. D. 211-241] और शापिर [Shapir A. D. 242-272] के शासनकाल में संगृहीत की गई Khorda Avest की एक yasth में [13 th yasth, Para 16] और early Religious poetry of Persia, By. I. H. Moulton P. P. 141) में महर्षि गोतम का उल्लेख हमें निम्नाङ्कित शब्दों में मिलता है—

'How the fravashis cause a man to be born who is a master in assemblies and skilled in sacred lore, so that he come away from debate as a victor over Gaotama'

यद्यपि डा० हॉग ने इस गोतम शब्द का सम्बन्ध गोतमबुद्ध से लगाया है, परन्तु हमारे विचार से वाद और सभाचातुर्य के प्रसङ्ग में वह नाम फबता नहीं है। वहाँ तो न्यायशास्त्री गोतम की ही आवश्यकता है। निःसन्देह न्यायशास्त्री तार्किक शिरोमणि महर्षि गोतम की ओर ही ग्रन्थकार का संकेत है। ऐसी अवस्था में जब द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में तार्किक शिरोमणि के रूप में महर्षि गोतम भारत के बाहर भी विख्यात हो चुके थे और उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य भी खुले और जोरदार शब्दों में उन्हें न्यायशास्त्र का प्रणेता ठहरा रहा है, तब इस सर्वथा प्रामाणिक अर्थ का अपलाप करना सर्वथा अयौक्तिक और सारहीन जान पड़ता है।

'त्रिभुजात्मक-समस्या' का हल—

अस्तु। अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि मेधातिथि, गोतम और अक्षपाद इन तीनों नामों के साथ न्यायशास्त्र का समन्वय कैसे किया जाय। इसी को यहाँ 'त्रिभुजात्मक समस्या' कहा गया है। इस प्रमुख प्रश्न का कुछ उत्तर हमें महाभारत के शान्तिपर्व में मिलता है—

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्॥

(महाभा० शा० प० अ० २६५, ४५ वङ्गवासी एडीशन)

इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि 'गोतम मेधातिथि' दो नाम नहीं अपितु एक ही व्यक्ति हैं। एक शब्द वंशबोधक और दूसरा नामबोधक है। महाभारत के इस श्लोक ने हमारी समस्या को आधा हल कर दिया। वस्तुतः 'मेधातिथि गोतम' एक ही व्यक्ति हैं, वही न्यायशास्त्र के आदि निर्माता हैं। भास ने मेधातिथि नाम से और अन्य ग्रन्थकारों ने गौतम नाम से उन्हीं का उल्लेख किया है। यही इस समस्या का सबसे सुन्दर और सबसे प्रामाणिक हल है इसके माने बिना अन्य कोई गति नहीं है।[1]

---

१. सामवेद के गृह्य सूत्र से सम्बद्ध 'पितृमेध सूत्र' के रचयिता भी गौतम हैं और उसके टीकाकार अनन्त यज्वन उनको तथा न्यायशास्त्र-प्रणेता को एक ही मानते हैं, परन्तु कोई युक्ति नहीं दी है।

वृन्ताक २ बैंगन

अब इस प्रश्न का अक्षपाद वाला एक पहलू और रह जाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि गोतम और अक्षपाद को एक मानने में कुछ बाधाएँ हैं इसलिए 'मेधातिथि गौतम' की भाँति 'अक्षपाद गौतम' को एक मान कर इस प्रश्न का हल नहीं किया जा सकता। तब, ऐसा जान पड़ता है कि न्यायशास्त्र के क्रमिक विकास में गौतम और अक्षपाद दोनों ही का महत्त्वपूर्णभाग है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन न्याय के विकास में अध्यात्मप्रधान [साध्यप्रधान] और तर्कप्रधान [साधनप्रधान] दो युग स्पष्ट प्रतीत होते हैं। इनमें साध्यप्रधान अर्थात् प्रमेयप्रधान अथवा अध्यात्मप्रधान युग के निर्माता गौतम और प्रमाणप्रधान [साधनप्रधान] युग के प्रवर्तक अक्षपाद हैं। यद्यपि वर्तमान न्याय सूत्रों में प्रमेय का नहीं प्रमाण का ही प्राधान्य प्रतीत है। परन्तु वह अक्षपाद द्वारा किए हुए प्रतिसंस्कार का ही फल है। इसके पूर्व गोतम का न्याय उपनिषदों के समान प्रमेयप्रधान ही था। अध्यात्म विद्यारूप उपनिषदों से न्याय विद्या को पृथक् करने के लिए ही अक्षपाद ने उसको प्रमाणप्रधान बनाया है। इस प्रकार प्राचीन न्याय का निर्माण महर्षि गौतम और अक्षपाद इन दोनों महापुरुषों के सम्मिलित प्रयत्न का फल है।

इस प्रकार न्यायशास्त्र के साध्यप्रधान तथा साधनप्रधान दो संस्करणों की कल्पना द्वारा इस 'त्रिभुजात्मक समस्या' का हल किया जा सकता है। यह संस्करण पद्धति की कल्पना कोई अपूर्व कल्पना नहीं है। आयुर्वेद के प्रसिद्धतम ग्रन्थ चरक में इस 'संस्कार पद्धति' का प्रयोग हुआ है। मूल ग्रंथ प्रणेता महर्षि 'अग्निवेश' हैं, परन्तु उसके प्रतिसंस्कर्ता 'चरक' माने जाते हैं। जैसा कि चरक के टीकाकार 'दृढ़बल' के 'अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते' इस लेख में प्रतीत होता है। इसी प्रकार न्याय दर्शन के 'मूल प्रणेता गोतम' और उसके 'प्रतिसंस्कर्ता अक्षपाद' हैं ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती है।

इस कल्पना से जहाँ इस 'त्रिभुज समस्या' का हल निकल आता है उसके साथ दूसरा लाभ यह भी होता है कि न्याय दर्शन में अनेक सूत्रों में उत्तरवर्ती बौद्ध सिद्धान्तों का जो उल्लेख पाया जाता है उसको प्रतिसंस्कर्ता अक्षपाद की रचना मानकर उसकी सङ्गति भली प्रकार लगाई जा सकती है। अन्यथा न्याय सूत्रों को केवल गोतम की रचना मानने पर उनमें उत्तरवर्ती बौद्ध सिद्धान्तों की चर्चा का उपपादन नहीं किया जा सकता है। अतः इस 'प्रतिसंस्कार पद्धति' का अवलम्बन करके ही न्याय के दर्शन निर्माण की 'त्रिभुज समस्या' का हल करना उचित है।

न्यायशास्त्र के अध्यात्मप्रधान युग के प्रवर्तक महर्षि गोतम हैं इस सम्बन्ध में महाभारत और कठोपनिषद् में भी कुछ उल्लेख पाया जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व में निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं।

चतुर्थश्चौपनिषदो धर्मः साधारणः स्मृतः।
वानप्रस्थाद् गृहस्थाच्च ततोऽन्यः संप्रवर्तते॥
अस्मिन्नेव युगे तात विप्रः सर्वार्थदर्शिभिः।
मेधातिथिर्बुधः............................... ॥
एवं धर्म कृतवन्तः

(महाभा० शा० प०, अ० २४३ श्लो० १४-१७)

इन श्लोकों से हमारी दोनों धारणाओं की पुष्टि होती है। पहिली यह कि मेधातिथि गोतम एक ही व्यक्ति हैं और दूसरी यह कि उन्होंने न्यायशास्त्र के प्रमेय, साध्य या अध्यात्मप्रधान युग का निर्माण किया। कठोपनिषद् के—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युर्गोतमो माभिमृत्योः।
त्वत् प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥
यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥

(कठोपनि० १. १. १० । २. ४. १५ । २. ५. ६.)

इन उद्धरणों में जिन गौतम का उल्लेख पाया जाता है कदाचित् वे गौतम ही न्यायशास्त्र के अध्यात्मप्रधान युग के निर्माता हैं। शुक्ल-यजुर्वेदीय-माध्यन्दिनीय शाखा के शतपथ ब्राह्मण काण्ड १ अ० ४ में भी कदाचित् इन ही गौतम का वर्णन है। इन्हीं के गोत्र में आगे चलकर गौतम बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण का मत है कि शतपथ ब्राह्मण में गौतम के स्थान आदि का जो विवरण पाया जाता है वह मिथिला के समीपवर्ती उपरिलिखित 'गौतम स्थान' से बिल्कुल मिलता जुलता है। [सन् १९१३ में श्री सतीश बाबू ने 'गौतम स्थान' की यात्रा स्वयं की थी और उसके बाद ही यह सम्मति दी थी] इस सम्बन्ध में उनके शब्द इस प्रकार हैं—

'His (Nachikatas Gotam) remote ancestor was perhaps the sage Nodha Gotam descended from that Gotama who is described in the Rigveda (Mandal I sukt 62 verse 13, 1. 77. 5, 1. 85. 11) and Shatapath Brahmana of the white yajurveda, as having settled in a Place the description of which tallies with that of Gotama-sthana in Mithila'

(Indian logic, P. P. 19)

फलतः बहुत प्राचीन काल में महर्षि गौतम ने आत्मविद्या के आचार्य के रूप में न्यायशास्त्र को जन्म दिया था। उसके बाद कालान्तर में समय की आवश्यकता के

अनुरूप उस प्रमेय या आत्मप्रधान न्यायशास्त्र को प्रमाणप्रधान शास्त्र का स्वरूप मिला। न्यायशास्त्र ने अपने इस नवीन रूप में भी अपना मुख्य ध्येय तो आत्मज्ञान ही रखा, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु ध्येय होते हुये न्यायशास्त्र प्रमाणों के विस्तृत विवेचन में चला गया और उसके सामने आत्मा का विवेचन गौण पड़ गया है। न्यायशास्त्र के वर्तमान स्वरूप में प्रमाणों के विवेचन का ही प्राधान्य है। इसका परिचय न केवल उत्तरवर्ती न्याय साहित्य से ही अपितु वात्स्यायन भाष्य और मूलसूत्रों से भी भली-भाँति मिलता है। न्यायशास्त्र के प्रथम सूत्र—'प्रमाण प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' में जिन षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का साधन बताया है, उनमें भी सर्वप्रथम स्थान प्रमाण का रखा है और आत्मा का साक्षात् स्थान भी नष्ट कर प्रमेयों के भीतर उसकी गणना की है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्तमान न्यायशास्त्र ने प्रमाणादि को अत्यधिक प्रधानता दी ह। और उसका समर्थन करते हुए वात्स्यायन भाष्य में लिखा है—

'तेषां पृथगभिधानमन्तरेण अध्यात्मविद्यामात्रमियं स्याद् यथोपनिषदः'

अस्तु। न्यायशास्त्र अपने 'अध्यात्मप्रधान' स्वरूप को छोड़कर इस नवीन रूप में कब से आया यह कह सकना और भी कठिन है। 'गोल्डस्टकर' का विचार है कि न्यायशास्त्र का परिज्ञान पाणिनि को था और उनके बाद चतुर्थ शताब्दी B. C. में कात्यायन को भी इन न्यायसूत्रों का परिज्ञान था[१]। अतएव इसके पूर्व न्यायशास्त्र को यह नवीन रूप कदाचित् प्राप्त हो चुका था। और उसका नवीन रूप में संस्करण करने का श्रेय कदाचित् श्री अक्षपाद को दिया जाना चाहिए।

क्या भारतीय न्याय पर यूनानी प्रभाव है ?—

इसी प्रसङ्ग में हम डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण की एक और अद्भुत कल्पना का भी उल्लेख कर देना चाहते हैं। आपने अपने एक लेख में[२] बड़े समारम्भ के साथ यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि भारतीय न्यायशास्त्र को वर्तमानरूप देने में ग्रीक दर्शन का बहुत बड़ा हाथ है। विशेषतः अनुमान में 'पञ्चावयव वाक्य' की प्रक्रिया का विकास भारत में बहुत पीछे हुआ उसके बहुत पूर्व ग्रीक में 'अरिस्टाटिल' ने इस 'पञ्चावयव वाक्य' की प्रकिया को परिपूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत कर दिया था। आपने अपने विषय का उपपादन इस प्रकार किया है—

'But so far as the five limbed syllogism of Hindu Logic is concerned the Hindu logician may have been indebted some way or other to the

१. Gold stucker's panini P. P. 157

२. जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयलैंड।

Greeks. While the syllogism definitely formulated as a logical doctrine by Aristotle in its Rhetoric, Prior Analytics and Posteriar Analytics in the 4th Century B. C., the Hindu logician shows but a vague conception of it, as late as the first century B. C. It is not inconceivable that the Knowledge of Aristotle's logic found its way through Alexandria, syria and other countries into Taxila. This is rightly Corroborated by the Hindu tradition that Narada who visited Alexandria [S'weta dwipa] and became an expert in the handling of the five limbed syllogism...

I am inclined, therefore, to think that the syllogism did not actually evolve in Indian logic out of inference, and that the Hindu logician owed the idea of syllogism to the influence of Aristotle'.

(Introduction to the Indian Logic P. P. XV)

श्रीसतीश बाबू की इस कल्पना में हमें कोइ सार नहीं दिखाई देता। आप कहते हैं कि पञ्चावयव अनुमान वाक्यपद्धति का पूर्ण विकास ग्रीक में तो अरिस्टाटिल के समय चतुर्थ शताब्दी B. C. में ही हो चुका था और भारत में प्रथम शताब्दी B. C. तक भी वह परिमार्जितरूप में नहीं आ पाया था। जिस Syllogism पञ्चावयववाक्य के विषय में प्रथम शताब्दी B. C. तक भारतीय दार्शनिकों के अज्ञान की घोषणा करने का साहस आप करते हैं उसी Syllogism के विषय में 'गोल्डस्टकर' जैसे उच्च श्रेणी के पाश्चात्य विद्वानों का दृढ विश्वास है कि वह 'अरिस्टाटिल' से भी पूर्व पाणिनि के समय (500 B. C.) से भी पूर्व भारत में पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। 'गोल्डस्टकर' महोदय ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Panini में लिखा है—

That Nyay was known to Panini in the sense of Syllogism or logical reasoning or perhaps logical science, I Conclude from the sutra III. 3. 122[1] where its affix conveys the sense of instrumentality i. e, that by which analysis [lit. enlarging] is effected, for in the some form Nyaya is made the subject of another rule III. 3. 37[2]. Where Panini gives as its meaning 'Propriety, good conduct' which would lead to its later meaning 'Policy'. Unless we draw this distinction between the two sutras named, the first sutra become superfluous. Nor is it probable that a civilization like that which is traceable in Panini's rules could have done without a word for Syllogistic thought. (Panini P. P. 116)

---

१. अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च । अष्टाध्यायी ३. ३. १२२ ।

२. परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः । अष्टा० ३. ३. ३७ । यथाप्राप्तकरणमभ्रेषः ।

अष्टाध्यायी के जिन दो सूत्रों का उल्लेख 'गोल्डस्टकर' महोदय ने किया है उसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी न्याय का उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। यही नहीं अपितु चतुर्थ अध्याय के द्वितीय पाद के 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' ४, २, ६० के सूत्रान्तर्गत उक्थादि[1] गण के 'गणपाठ' में 'न्याय' शब्द का पाठ कर पाणिनि ने 'नैयायिक' शब्द की सिद्धि की है। ठक् प्रत्यय का विधान करने वाला यह सूत्र 'तदधीते तद्वेद' इस अर्थ में ठक् का विधान करता है, जिससे 'नैयायिक' शब्द का अर्थ 'न्यायम् अधीते नैयायिकः' होता है। इस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी और गोल्डस्टकर महोदय का ऐतिहासिक विवेचन सतीश बाबू की कल्पना की निस्सारता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

प्राचीन न्याय का साहित्य

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है न्यायशास्त्र का प्रारम्भ कब से हुआ यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। परन्तु फिर भी गोल्डस्टकर और उसके आधारभूत पाणिनि-सूत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि न्यायशास्त्र बहुत पुरानी और सम्भवतः नहीं, निश्चितरूप में पाणिनि से पूर्व की चीज़ है। न्यायशास्त्र का सबसे पुराना ग्रन्थ जो इस समय मिलता है वह न्यायसूत्र है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यह न्यायसूत्र ठीक इसी रूप में पाणिनि के पूर्व की चीज है। इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि न्यायसूत्रों के अनेक सूत्र अत्यन्त आधुनिककाल के हैं। जिन सूत्रों में बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन हुआ है उनकी रचना बौद्धकाल के बाद की है बौद्ध मत की आलोचना के प्रकरण में लिखे गए अनेक सूत्रों के शब्द-विन्यास से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह सूत्र बौद्धग्रन्थों के आधार पर लिखे गये हैं। दोनों की, विषय के साथ आनुपूर्वी और शब्दविन्यास में भी कुछ समानता है। उदाहरण के लिए हम ऐसे कुछ सूत्र नीचे उद्धृत करते हैं—

माध्यमिक सूत्र	न्याय सूत्र
नसंभवः स्वभावस्य युक्तः प्रत्ययहेतुभिः। स्वभावः कृतको नाम भविष्यति पुनः कथम् (माध्यमिक सूत्र. अ. १५. पृ. ९३) (B. T. S. Edition, Calcutta) यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा। तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतम्॥ (मा. सू. अ. ७.)	न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात्। व्याहतत्वादयुक्तम्। (न्या. सू. अ. ४. १ ३९-४०) स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः। (४. २. ३१) माया-गन्धर्वनगर-मृगतृष्णिकावद्वा। (४. २. ३२.)

---

१. उक्थ, लोकायत, न्यास, न्याय, पुनरुक्त, निरुक्त, निमित्त, द्विपदा, ज्योतिष, अनुपद, अनुकल्प, यज्ञ, धर्म, चर्चा, क्रमेतर, श्लक्ष्ण, संहिता, पदक्रम, संघट, वृत्ति, परिषद्, संग्रह, गण [गुण], आयुर्वेद। इत्युक्थादिः॥ ४,२,६०॥ (गणपाठ, ४. २. ६०. पा.)

उपर्युक्त सारी स्थिति से यही परिणाम निकलता है कि न्याय-सूत्रों की रचना भी एक काल में नहीं हुई। सबसे पूर्व गोतम के अध्यात्मप्रधान न्यायसूत्र न्याय विद्या को पृथक् करने के लिए उसके प्रमेयप्रधान स्वरूप के स्थान पर प्रमाणप्रधान स्वरूप देकर अक्षपाद ने उसका नवीन संस्करण किया[1] और बौद्ध युग में उसमें कुछ प्रक्षेप और परिवर्धन होकर ही न्याय-शास्त्र को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हो सका है।

'न्याय-सूत्रों' के बाद न्याय-शास्त्र का दूसरा पुराना ग्रन्थ 'वात्स्यायन भाष्य' है जिसका रचनाकाल ४०० वि० (जैकोबी के अनुसार ३००, अन्यों के अनुसार ४०० वि०) के लगभग निर्धारित किया गया है। ४०० वि० से लेकर १००० वि० तक के ६०० वर्षों में न्याय-शास्त्र के जिस प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ उस सारे न्याय साहित्य का आधार ग्रन्थ 'न्यायसूत्र' और 'वात्स्यायन भाष्य' हैं। अन्य जो कुछ भी साहित्य तैयार हुआ वह सभी इन्हीं के समर्थन में और उन्हीं के टीका-प्रटीका के रूप लिखा गया है। इसी लिए उस सबको 'प्राचीन न्याय' साहित्य के नाम से कहा जाता है।

यद्यपि न्याय सूत्रों के बाद 'प्राचीन न्याय' के विषय में कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं लिखा गया फिर भी १७ वीं शताब्दी तक प्राचीन न्याय के साहित्य का निर्माण होता रहा, जो न्याय-सूत्रों की टीका-प्रटीका के रूप में ही था। इसमें से भी ४०० से लेकर १००० वि० तक जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

१—भाष्यकार वात्स्यायन [३०० वि०]—

न्याय दर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन कौन हैं यह भी एक विवादग्रस्त प्रश्न है। 'अभिधानचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में हेमचन्द्र [जैन] ने 'वात्स्यायन' के अनेक नामों का निर्देश किया है, जो इस प्रकार है—

'वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥'

इसके अनुसार वात्स्यायन, पक्षिलस्वामी, कौटिल्य और चाणक्य सब एक ही व्यक्ति के नाम हैं और वह द्रविड़ देश का रहनेवाला प्रतीत होता है जिसकी राजधानी काञ्चीपुर वर्तमान काञ्चीवरम् थी। इसीलिए उसके नामों में 'द्रामिल' भी एक नाम है और 'पक्षिलस्वामी' नाम भी उसी देशवासी का नाम जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त न्यायदर्शन अध्याय २, अ० १ सूत्र ४० में वात्स्यायन ने उदा-

---

१. आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक की रचना भी इसी प्रकार हुई, प्रथम अग्निवेश ने फिर चरक ने उसका नवीन संस्करण किया जो आजकल उपलब्ध होता है। जैसा कि 'दृढबल' ने लिखा, अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते।

हरणरूप में भात बनाने का वर्णन किया है जो उस देश का विशेष भोजन है। इन सबसे प्रतीत होता है कि वात्स्यायन द्रविड़ देश के रहने वाले ही थे।

वात्स्यायन के जो नाम 'अभिधान-चिन्तामणि'में दिए हैं उनमें 'कौटिल्य' और 'चणकात्मज' यह दो नाम हैं। नन्दवंश के विध्वंसक और मौर्य साम्राज्य के संस्थापक आर्य चाणक्य का नाम भारतीय इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। कौटिल्य भी उन्हीं का दूसरा नाम है। अब यदि 'अभिधान-चिन्तामणि' में 'वात्स्यायन के जो नाम दिए हैं वह सब वस्तुतः एक ही व्यक्ति के नाम हैं तो यह मानना पड़ेगा कि आर्य चाणक्य ही वात्स्यायन नाम से न्यायदर्शन के भाष्यकार हैं।

वात्स्यायन भाष्य के प्रथम सूत्र के अन्त में आर्य चाणक्य-प्रणीत 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ से एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है–

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता।

वात्स्यायन के नाम से ही वर्तमान समय में कामशास्त्र के आधारभूत 'कामसूत्र' मिलते हैं। अत एव अभिधान-चिन्तामणि के अनुसार 'न्याय भाष्य', 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' और 'कामसूत्र' तीनों के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। परन्तु श्री सतीश चन्द्र विद्याभूषण जी इससे सहमत नहीं हैं।

वात्स्यायन का समय—

प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग'[५०० वि० सं०] ने अपने 'प्रमाणसमुच्चय' नामक ग्रन्थ में 'वात्स्यायन भाष्य' के अनेक अंशों की आलोचना तथा खण्डन किया है। इससे यह निश्चित है कि वात्स्यायन, दिङ्नाग से पूर्ववर्ती अर्थात् ५०० वि० सं० से पूर्व के हैं।

दूसरे प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक 'वसुबन्धु' हैं जिनका समय ४८० वि० सं० है। उन्होंने अनुमान की जिस प्रणाली का तथा अवयवों का जो निरूपण किया है वह 'वात्स्यायन भाष्य' की प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। यह प्रणाली यदि 'वात्स्यायन' के सामने आई होती तो वे अवश्य उसकी आलोचना करते। अत एव यह प्रतीत होता है कि 'वात्स्यायन', 'वसुबन्धु' के भी पूर्ववर्ती हैं।

परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है न्यायसूत्रों में अनेक ऐसे [प्रक्षिप्त] सूत्र हैं जिनमें बौद्ध-सिद्धान्तों का निर्देश है और वह 'माध्यमिक सूत्र' तथा 'लङ्कावतार' के आधार पर है। अत एव वात्स्यायन का काल उक्त ग्रन्थों के पश्चात् ही निश्चित होगा।

मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त का काल ३०० वि० ऐतिहासिक विद्वानों ने निर्धारित किया है और उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर उनका समय भी ४०० वि० सं० के लगभग ही निश्चित होता है। अत एव इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि 'वात्स्यायन' और 'कौटिल्य' सम्भवतः एक ही व्यक्ति हैं।

२—वार्तिककार श्री उद्योतकर—[६३५ वि०]

प्राचीन न्याय के साहित्य में 'वात्स्यायन भाष्य, के बाद समय और महत्त्व दोनों की दृष्टि से दूसरा स्थान 'न्यायवार्तिक' का है इसके निर्माता श्री उद्योतकराचार्य' का समय आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में ६३५ वि० के लगभग है। 'उद्योतकर' के पूर्ववर्ती 'दिङ्नाग' आदि बौद्ध आचार्यों ने 'वात्स्यायन भाष्य' का जो खण्डन किया उसी का उद्धार करने के लिए उद्योतकर ने इस 'न्याय-वार्तिक' की रचना की है। उन्होंने स्वयं लिखा है—

यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां, शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः, करिष्यते तस्य मया प्रबन्धः॥

'वासवदत्ता' नामक प्रसिद्ध गद्य काव्य के निर्माता श्री महाकवि 'सुबन्धु' ने भी अपने ग्रन्थ में न्याय के स्वरूप की रक्षा करने वाले के रूप में उद्योतकर का स्मरण किया है—

न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपां, बौद्धसङ्गितमिवालङ्कार-
भूषिताम्……वासवदत्तां ददर्श।

'पाशुपताचार्य' और 'भारद्वाज' इन दो नामों से भी कहीं-कहीं 'उद्योतकर' का उल्लेख मिलता है। यह दोनों नाम उनके गोत्र और सम्प्रदाय के कारण प्रसिद्ध हैं। उन्होंने स्वयं भी विशेषण रूप से अपने लिए इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया है–इति श्रीपरमर्षिभारद्वाज-पशुपताचार्य-श्रीमदुद्योतकर-कृतौ न्यायवार्तिके पञ्चमोऽध्यायः।

श्री 'उद्योतकर' ने अपने ग्रन्थ में अधिकतर बौद्ध आचार्य 'दिङ्नाग' और नागार्जुन का खण्डन किया है और 'दिङ्नाग' के लिए सर्वत्र 'भदन्त'[१] शब्द का प्रयोग किया है जो बौद्ध भिक्षुओं का आदरसूचक शब्द है। नैयायिकों और बौद्धों का सबसे मुख्य विवाद आत्म तत्त्व के विषय में है। 'उद्योतकर' ने इस प्रश्न को एक विचित्र ढंग से उठाया है। उनका कहना है कि बौद्ध विद्वान् यदि आत्म तत्त्व का खण्डन करते हैं तो वह वस्तुतः अपने ही सिद्धान्त और अपने ही धर्मग्रन्थों के विपरीत बोलते हैं। संयुत्तनिकाय ३. ३. से निम्नांश उद्धृत कर वे उसे आत्मतत्त्व का समर्थक बतलाते हैं—

तथा भारं वो भिक्षवो देशिष्यामि भारहारं च, भारः पञ्चस्कन्धा भारहारश्च पुद्गल इति। यश्चात्मा नास्तीति स मिथ्यादृष्टिको भवतीति सूत्रम्।

भारं वो भिक्खवे देसिस्सामि। भारहारं च। कतमो भिक्खवे भारो। पंचुपादान स्कन्धा तिस्स वचनीयम्। कतमो च भिक्खवे भारहारो। पुग्गलो तिस्स वचनीयम्।

इसके विपरीत बौद्ध विद्वानों का आत्म तत्त्व का खण्डन करना उनके धर्म

१. अहो प्रमाणानभिज्ञता भदन्तस्य। न्याय वा० १. १. ६.

ग्रन्थों के ही विपरीत जाता है। इस प्रकार 'दिङ्नाग', 'वसुबन्धु', 'नागार्जुन' आदि बौद्ध आचार्यों का खण्डन 'वार्तिक' में जगह-जगह मिलता है।

सिद्धान्त की दृष्टि से वार्तिककार सूत्रकार से अनेक स्थलों पर आगे बढ़ गये हैं। जिन बातों का वर्णन सूत्र में नहीं है और न हो सकता था इस प्रकार के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख वार्तिक में हुआ है और वहीं से उत्तरवर्ती न्याय साहित्य में आया है। इस प्रकार के सिद्धान्तों में से कुछ इस प्रकार हैं—

प्रत्यक्ष प्रकरण में—षोढा सन्निकर्ष।

अनुमान प्रकरण में—अनुमान के केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वय-व्यतिरेकी यह तीन प्रकार के भेद।

शब्द प्रकरण में—स्फोटानुसारपूर्वपूर्ववर्णानुभवजनित-संस्कारसहकृत-चरम वर्ण के श्रवण से उत्पन्न पद तथा वाक्य की प्रतीति।

३—श्री वाचस्पति मिश्र (८४० वि०)

न्यायवार्तिक की भी बौद्ध विद्वानों की ओर से कुछ प्रतिकूल आलोचना हुई। उसके उद्धार के लिए वाचस्पति मिश्र को 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' लिखने की आवश्यकता पड़ी। वाचस्पति मिश्र मिथिला के रहनेवाले अति प्रतिभाशाली विद्वान् थे। उनके गुरु का नाम त्रिलोचन था, सभी दर्शनों पर उनका समान अधिकार था और सभी दर्शनों पर उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान 'वेदान्त दर्शन' के 'शाङ्कर भाष्य' की टीका 'भामती' का है। टीका का यह नामकरण उन्होंने अपनी पत्नी के नाम पर किया है।

उनके विषय में प्रसिद्ध है कि वे एक बड़े विरक्त और सच्चे दार्शनिक विद्वान् थे। विवाहित होते हुए भी वे सदा गृहस्थ धर्म से पराङ्मुख रहे और अनवरत रूप से गम्भीर मनन और दार्शनिक साहित्य की सृष्टि में प्रयत्नशील रहे। वृद्धावस्था के आने तक उनके कोई सन्तान नहीं हुई तो एक दिन उनकी पत्नी ने दुःखी होकर वंश की रक्षा और नाम चलाने की आवश्यकता की ओर उनका ध्यान दिलाया। इस पर उन्होंने पत्नी को जो उत्तर दिया वह विश्वसाहित्य की सर्वोच्च भावनाओं में से एक है।

उन्होंने कहा—'पुत्र के होने पर भी तुम्हारा नाम और वंश चलता रहे इसका क्या ठिकाना। मैं अब तक उस ओर नहीं गया, अब क्या जाऊँ। पर हाँ तुम्हारे नाम को अमर करने के लिए मैं अपनी सर्वोत्तम कृति वेदान्त भाष्य की टीका का नाम तुम्हारे नाम पर रखे देता हूँ। तुम्हारा पुत्र संभव है एक या दो पीढ़ी तुम्हारा नाम चलाता, परन्तु अब तुम्हारा नाम सदा के लिए अमर हो जायगा'।

और सचमुच आज 'वाचस्पति मिश्र' और 'भामती' की इस युगल जोड़ी का नाम भारतीय साहित्य में सदा के लिए अमर हो गया है जो उनके सैकड़ों पुत्रों और सहस्रों पौत्र-प्रपौत्रों से भी नहीं होता। ऐसे महापुरुष का पावन चरित्र पढ़ कर हमारा हृदय गद्‌गद् और शरीर रोमाञ्चित हो उठता है। यह त्याग,

यह तपस्या, यह शास्त्रनिष्ठा, और यह एकाग्रता सचमुच स्वर्गीय विभूति है। 'वाचस्पति मिश्र' के जीवन में उनके समावेश ने उनको 'देव कोटि' में पहुँचा दिया है। उनके चरणों में शतशः नमस्कार।

४—श्री उदयनाचार्य [९८४ वि०]

न्याय साहित्य के स्रष्टाओं में श्री वाचस्पति मिश्र के बाद श्री उदयनाचार्य का स्थान है। बौद्ध दार्शनिकों ने जिस प्रकार वाचस्पति मिश्र से पूर्व नैयायिक विद्वानों की आलोचना की उसी प्रकार वाचस्पति मिश्र की भी आलोचना की। उसके उद्धार के लिए श्री उदयनाचार्य ने 'न्यायवार्तिक-तात्पर्य टीका परिशुद्धि' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त बौद्ध विद्वानों के संघर्ष के कारण ही उन्होंने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' और 'आत्मतत्त्वविवेक' नामक दो अत्यन्त उच्च श्रेणी के दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से 'कुसुमाञ्जलि' में ईश्वर-सिद्धि का सफल और स्तुत्य प्रयास किया गया है। उसकी रचना बौद्ध दार्शनिक श्री 'कल्याणरक्षित' [८२९ वि०] की 'ईश्वरभङ्गकारिका' के उत्तर के रूप में हुई है। दूसरे 'आत्मतत्त्व विवेक' की रचना 'कल्याणरक्षित' की 'अन्यापोहविचारकारिका' और 'श्रुतिपरीक्षा' तथा 'धर्मोत्तराचार्य' [८४७ वि०] के 'अपोहनाम प्रकरण' एवं 'क्षणभङ्ग सिद्धि' के उत्तर रूप में हुई है। इसका दूसरा नाम 'बौद्धधिक्कार' भी है। इसमें उन्होंने अपोह, क्षणभङ्ग और श्रुत्यप्रामाण्य का खण्डन किया है। और क्षण-भङ्ग, ब्राह्यार्थ भङ्ग, गुणगुणि भेदभङ्ग तथा अनुपलम्भ इन चार बौद्ध सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए नित्य आत्मा की सत्ता सिद्ध की है।

ईश्वर और आत्मा के विषय में 'उदयनाचार्य' के बौद्धों के साथ बहुधा शास्त्रार्थ होते रहते थे जिनमें युक्तियों द्वारा बौद्धों के पराजित होने पर भी बौद्ध ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं करते थे। एक बार इसी प्रकार के शास्त्रार्थ के बाद वे एक ब्राह्मण और एक बौद्ध को लेकर एक पहाड़ी की चोटी पर चढ़ गए और वहाँ से उन्होंने दोनों को नीचे ढकेल दिया। अकस्मात् नीचे गिर कर बौद्ध मर गया और ब्राह्मण बच गया। जिससे लोगों ने ईश्वरवाद की सत्यता स्वीकार की।

इसके बाद इस नर हत्या का प्रायश्चित्त करने की दृष्टि से वे जगन्नाथ पुरी की यात्रा को गए परन्तु वहाँ उन्हें 'जगन्नाथ' के दर्शन नहीं हुए। इसे उन्होंने अपना अपमान समझा और उस समय जगन्नाथ को संबोधन करके कहा—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय तिष्ठसि।
समायाते पुनर्बौद्धे मदधीना तव स्थितिः॥

हे भगवान् ! आप ऐश्वर्य के मद में मत्त होकर आज मेरा अपमान कर रहे हैं, लेकिन जिस समय बौद्ध आपका खण्डन करने आवेंगे उस समय आपकी स्थिति मेरे ही द्वारा होगी।

इस प्रकार जगन्नाथ के दर्शनों से निराश होकर इन्होंने बनारस में तुषानल में

प्रवेश कर अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया। उनका एक ग्रन्थ 'लक्षणावली' भी है जिससे उनके काल का निर्णय होता है। उसमें उन्होंने लिखा है—

तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

उदयन के बाद बौद्ध धर्म का पर्याप्त पतन हो चुकने के कारण और विशेषकर ११०० वि० के बाद तो प्रायः बौद्ध विद्वानों का बिल्कुल ही अभाव-सा हो गया। इस लिए बौद्ध और नैयायिकों का क्रियात्मक संघर्ष प्रायः समाप्त हो गया। केवल नैयायिकों की पुस्तकों में बौद्ध विद्वानों की आलोचना और पूर्वोक्त बातों का पिष्ट-पेषण होता रहा। दूसरी ओर से उत्तर देने वाला कोई नहीं था अतएव नैयायिकों की वह सारी आलोचना निर्जीव आलोचना रही। उसमें कोई आकर्षण न रह गया।

उदयनाचार्य के बाद यह टीका-प्रटीका की पद्धति तो समाप्त हो गई, परन्तु प्राचीन पद्धति से न्यायसूत्रों के ऊपर स्वतन्त्र वृत्ति आदि की रचना लगभग सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही। इस बीच में प्राचीन न्याय के जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसकी सूची नीचे दी जा रही है। उदयन के उत्तरवर्ती नैयायिकों में जयन्त भट्ट का नाम विशेष उल्लेख योग्य है उनकी न्याय-मञ्जरी एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। इस प्रकार प्राचीन न्याय का यह परिच्छेद प्रायः समाप्त हो गया।

प्राचीन न्याय-सम्बन्धी जो कुछ साहित्य मिलता है उसकी सूची इस प्रकार तैयार की जा सकती है—

१ न्याय सूत्र	गोतम अक्षपादकृत [मूलग्रन्थ]	
टीकाएं—		
न्यायभाष्य	वात्स्यायन	३०० ई०
न्यायवार्तिक	उद्योतकर	६३५ ,,
न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका	वाचस्पति मिश्र	८४० ,,
न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका-परिशुद्धि	उदयनाचार्य	९८४ ,,
न्यायमञ्जरी	जयन्त भट्ट	१००० ,,
न्यायनिबन्ध-प्रकाश	वर्धमान	१२२५ ,,
न्यायालङ्कार	श्रीकण्ठ	
न्यायसूत्रोद्धार	वाचस्पति मिश्र (द्वितीय)	१४५० ,,
न्याय रहस्य	रामभद्र	१६३० ,,
न्यायसिद्धान्तमाला	जयराम	१७०० ,,
न्यायसूत्रवृत्ति	विश्वनाथ	१६३४ ,,
न्यायसंक्षेप	गोविन्द खन्ना	१६५० ,,

मध्य न्याय

'प्राचीन न्याय' का संक्षिप्त परिचय हम ऊपर दे चुके हैं। 'नव्य-न्याय' का परिचय आगे देंगे। इन दोनों के बीच में न्याय साहित्य का एक स्तर और है जिसे हम 'मध्य-न्याय' कह सकते हैं। इस 'मध्य-न्याय' के भी दो भाग हैं एक 'बौद्ध-न्याय' और दूसरा 'जैन-न्याय'। बौद्ध और जैन भारत के दो प्रमुख धर्म हैं जिनका उदय ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में हुआ था। परन्तु बौद्ध और जैन न्याय उतने प्राचीन नहीं हैं। वास्तविक बौद्ध-न्याय का प्रारम्भ पञ्चम शताब्दी वि० में आचार्य दिङ्नाग [४५०-५२०] से, और वास्तविक 'जैन-न्याय' का प्रारम्भ आचार्य सिद्धसेन दिवाकर [४८०-५५०] से होता है। उनके पूर्व इन दोनों धर्मों का लगभग एक हजार वर्ष से अधिक का इतिहास है। इस एक हजार वर्ष के लम्बे काल में दोनों धर्मों में पर्याप्त दार्शनिक प्रगति हुई है। बौद्ध धर्म में इस बीच सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक तथा योगाचार नाम से चार दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हो चुका था और नागार्जुन, असङ्ग, वसुबन्धु सरीखे दार्शनिक यहाँ जन्म ले चुके थे। इसी प्रकार जैन धर्म में भी उमास्वाति जैसे प्रकाण्ड दार्शनिक 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' सदृश प्रौढ़ ग्रंथों की रचना कर चुके थे। परन्तु वह वस्तुतः उन दोनों धर्मों का 'प्रमेय प्रधान' युग था। महात्मा बुद्ध एवं महावीर स्वामी ने जिस धर्म का उपदेश किया वह 'प्रमेय प्रधान' धर्म था। उसकी विवेचना के लिये उन्होंने आवश्यकतानुसार उस समय की प्रचलित न्याय आदि की प्रणालियों को ही अपना लिया था। इसलिये उन प्रारम्भिक एक सहस्र वर्षों में हमें 'बौद्ध न्याय' या 'जैन न्याय' की अलग उपलब्धि नहीं होती है [पञ्चम शताब्दी वि० में आकर बौद्धों में आचार्य दिङ्नाग ने, और जैनों में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने क्रमशः 'प्रमाण समुच्चय' एवं 'न्यायावतार' ग्रन्थ लिख कर 'बौद्ध न्याय' तथा 'जैन न्याय' को स्वतन्त्र स्वरूप एवं नवीन विवेचना शैली से उपस्थित किया। इसीलिये आचार्य 'दिङ्नाग' 'बौद्ध न्याय' के तथा 'सिद्धसेन दिवाकर' 'जैन न्याय' के प्रवर्तक या जन्मदाता माने जाते हैं]

दिङ्नाग [४५०-५२० ई०]

न्याय दर्शन के भाष्यकार 'पक्षिल स्वामी' या 'वात्स्यायन' 'काञ्चीवरम्' के रहने वाले थे। इसी प्रकार बौद्ध न्याय के जन्मदाता आचार्य 'दिङ्नाग' भी 'काञ्चीवरम्' के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुये थे। बौद्धों की 'वात्सी पुत्रीय' शाखा के अनुयायी 'नागदत्त' नामक पण्डित ने उनको बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। उन्हीं से दिङ्नाग ने हीनयान के अनुसार त्रिपिटकों का अध्ययन किया। उसके बाद प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु से उन्होंने हीनयान तथा महायान के त्रिपिटक आदि का अध्ययन किया। अपनी प्रखर तर्क शक्ति के कारण वे 'तर्क पुङ्गव' कहे जाते थे। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उस समय के प्रसिद्धतम 'नालन्दा विश्वविद्यालय' ने उनको अपने यहाँ निमन्त्रित किया था।

उन्होंने उड़ीसा, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत का व्यापक रूप से भ्रमण किया था। लगभग ७० वर्ष की आयु में उड़ीसा के किसी वन प्रदेश में शान्तिपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया।

दिङ्नाग का सबसे मुख्य न्याय ग्रन्थ 'प्रमाण समुच्चय' है। मूल ग्रन्थ संस्कृत में अनुष्टुप् छन्द के कारिका रूप में लिखा गया था और उन पर दिङ्नाग ने स्वयं ही वृत्ति भी लिखी थी। परन्तु उसका संस्कृत संस्करण लुप्त हो गया। उसके स्थान पर तिब्बती भाषा में उसका अनुवाद पाया जाता है। मूल ग्रन्थ १ प्रत्यक्ष परिच्छेद, २ स्वार्थानुमान परिच्छेद, ३ परार्थानुमान परिच्छेद, ४ हेतुदृष्टान्त परिच्छेद, ५ अपोह परिच्छेद तथा ६ जाति परिच्छेद रूप ६ परिच्छेदों में विभक्त था। इनमें केवल प्रथम परिच्छेद का तिब्बती भाषा से संस्कृत में प्रत्यनुवाद होकर प्रकाशित हुआ है। दिङ्नाग ने नैयायिकों के चार प्रमाणों के स्थान पर प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं। अतः इस ग्रन्थ में दो ही प्रमाणों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त ६-७ ग्रन्थ और भी दिङ्नाग ने लिखे हैं जिनका उल्लेख आगे सूची में किया जायगा।

जिस प्रकार वात्स्यायन भाष्य पर वार्तिक, तात्पर्य टीका आदि अनेक व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये हैं उसी प्रकार दिङ्नाग के इस 'प्रमाण समुच्चय' पर धर्मकीर्ति [६५० ई०] ने 'प्रमाण वार्तिक कारिका' तथा 'प्रमाणवार्तिक वृत्ति', देवेन्द्रबोधि [६५०] ने 'प्रमाण वार्तिक पञ्जिका' तथा 'प्रमाण वार्तिक पञ्जिका टीका', रविगुप्त [७७५] ने प्रमाण वार्तिक वृत्ति, और जिनेन्द्र बोधि ने 'विशाला मलवती नाम-प्रमाण समुच्चय टीका', प्रज्ञाकर गुप्त [९४० ई०] ने 'प्रमाण वार्तिकालङ्कार' आदि ग्रन्थों का निर्माण किया है।

इस प्रकार 'दिङ्नाग' [४५०-५२०] से प्रारम्भ होकर मोक्षाकर गुप्त [११००] तक 'बौद्ध न्याय' के साहित्य का निर्माण होता रहा, जिनमें ३१ आचार्यों ने ग्रन्थों की रचना की। इनमें भी दिङ्नाग [४५०-५२०], धर्मकीर्ति [६५०] और शान्त रक्षित [७४९] विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

सिद्धसेन दिवाकर [४८०-५५०]

ब्राह्मण न्यायाचार्यों में वात्स्यायन का और बौद्ध न्यायाचार्यों में आचार्य दिङ्नाग का जो स्थान है वही स्थान जैन न्याय के इतिहास में सिद्धसेन दिवाकर का है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायसार की रचना कर जैन न्याय को जन्म दिया। उनके पूर्व भद्रबाहु द्वितीय [३७५] और उमास्वाति [८५] ने भी अपने ग्रन्थों में दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा की है परन्तु वह 'जैन न्याय' के जन्मदाता नहीं माने जाते हैं। सिद्धसेन दिवाकर [४८०-५५०] से लेकर यशो विजय [१६८८] तक ३७ जैन विद्वानों ने 'जैन न्याय' पर अपने-अपने ग्रन्थ लिख कर न्याय साहित्य के निर्माण में योग दिया है।

भारत की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन हो जाने पर मुख्यतः राज्याश्रय से पोषित बौद्ध धर्म अधिक काल तक भारत में ठहर नहीं सका। प्रतिकूल परिस्थितियों के उत्पन्न होते ही बौद्ध विद्वान् भारत को छोड़कर अपने अधिक अनुकूल पड़ने वाले तिब्बत, लङ्का आदि देशों को चले गये। इसलिये सन् ११०० में 'मोक्षाकर गुप्त' की 'तर्कभाषा की रचना के बाद 'बौद्ध न्याय' की प्रगति एक दम रुक गई। परन्तु 'जैन धर्म' उन प्रतिकूल परिस्थितियों में दृढ़तापूर्वक भारत में ही जमा रहा। इसलिये उसका साहित्य निर्माण का कार्य चलता ही रहा। और १६८८ तक 'यशोविजय' की सुन्दर दार्शनिक कृतियाँ प्राप्त होती रहीं। इस प्रकार इतने लम्बे समय में 'बौद्ध न्याय' तथा 'जैन न्याय' का जो साहित्य तैयार हुआ उसकी सूची हम आगे दे रहे हैं। इसी को हम 'मध्य न्याय' का साहित्य कह सकते हैं।
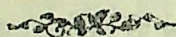
मध्यकालीन न्याय के निर्माताओं का विवरण

पञ्चम शताब्दी के प्रारम्भ से सत्रहवीं शताब्दी तक के बौद्ध तथा जैन न्यायाचार्यों के समयानुक्रम तथा ग्रन्थों का परिचय

बौद्ध न्याय के निर्माता आचार्य	जैन न्याय के निर्माता आचार्य
१ दिङ्नाग [४५०-५२० ई०]— १ 'प्रमाण समुच्चय', २ प्रमाण समुच्चय वृत्ति, ३ न्याय प्रवेश, ४ प्रमाण शास्त्र न्यायप्रवेश, ५ हेतु चक्र, ६ त्रिकाल परीक्षा, ७ आलम्बन परीक्षा, ८ आलम्बन परीक्षा वृत्ति। दिङ्नाग ने वात्स्यायन का खण्डन किया है।	१ सिद्धसेन दिवाकर [४८०-५५० ई०]- १ न्यायावतार
२ परमार्थ [४९८-५६९]— चीन देश को गया। वसुबन्धु के 'तर्कशास्त्र' गोतम के 'न्यायसूत्र' का चीनी भाषा में अनुवाद किया। 'न्यायसूत्र' पर भाष्य भी लिखा।	२ जिनभद्र गणी [४८४-५८८] अपर नाम क्षमा श्रमण आवश्यक निर्युक्ति पर 'विशेषावश्यक भाष्य' नामक टीका
३ शङ्करस्वामी [५५० ई०]— दिङ्नागके शिष्य हैं। 'हेतुविद्यान्यायप्रवेश-शास्त्र' अपर नाम 'न्यायप्रवेश तर्कशास्त्र'।	३ सिद्धसेन गणी [६०० ई०] उमास्वाति के 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्र' पर 'तत्त्वार्थ टीका'
४ धर्मपाल [६००-६३५ ई०]— १ आलम्बनप्रत्यय ध्यानशास्त्रव्याख्या २ विद्यामात्र सिद्धिशास्त्र व्याख्या ३ षट्शास्त्र वैपुल्य व्याख्या	४ समन्त भद्र [६०० ई०]- उमास्वाति के 'तत्त्वार्थाधिगम सूत्रपर १ 'गन्ध हस्तीमहाभाष्य'नामक टीका २ आप्त मीमांसा, ३ युक्त्यानुशासन, ४ रत्नकरण्डक
५ आचार्य शीलभद्र [६३५ ई०]— नालन्दा विश्वविद्यालय में धर्मपाल से अध्ययन कर वहाँ के आचार्य बने ह्वेनत्सांग को पढ़ाया।	५ अकलङ्क देव [७५० ई०]— १ आप्त मीमांसा पर अष्टशती टीका २ न्याय विनिश्चय, ३ लघीयस्त्रय ४ तत्त्वार्थ वार्तिक व्याख्यानालङ्कार ५ अकलङ्कस्तोत्र, ६ स्वरूप सम्बोधन
६ आचार्य धर्मकीर्ति [५६० ई०]— १ प्रमाणवार्तिक कारिका, २ प्रमाण वार्तिक वृत्ति, ३ प्रमाण विनिश्चय, ४ न्यायबिन्दु, ५ हेतुबिन्दु विवरण, ६ तर्क न्याय या वादन्याय, ७ सन्तानान्तरसिद्धि, ८ सम्बन्ध परीक्षा ९ सम्बन्ध परीक्षा वृत्ति।	६ विद्यानन्द [८०० ई०]— १ आप्तमीमांसालङ्कृतियां अष्टसाहस्र २ प्रमाण परीक्षा, ३ आप्त परीक्षा ४ तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक

बौद्ध न्याय के निर्माता आचार्य	जैन न्याय के निर्माता आचार्य
७ देवेन्द्रबोधि [६५० ई०]— प्रमाण वार्तिक पञ्जिका	७ माणिक्यनन्दी [८०० ई०]— परीक्षामुखसूत्र या परीक्षामुख शास्त्र
८ शाक्यबोधि [६७५ ई०] प्रमाण वार्तिक पञ्जिका टीका	८ प्रभाचन्द्र [८२५ ई०] प्रमेय कमल मार्तण्ड [परीक्षामुखटीका] न्यायकुमुद चन्द्रोदय [लघीयस्त्र टीका]
९ विनीतदेव [७०० ई०]— १ न्यायविन्दु टीका, २ हेतु विन्दु टीका, ३ वादन्याय व्याख्या, ४ सम्बन्ध परीक्षा टीका, ५ आलम्बन परीक्षा टीका, ६ सन्तानान्तर सिद्धि टीका।	९ मल्ल वादिन् [८२७ ई०]— न्यायविन्दु टीका या धर्मोत्तर टिप्पण
१० रविगुप्त [७२५ ई०]— प्रमाण वार्तिक वृत्ति।	१० रभस नन्दी [८५० ई०]— सम्बन्धोद्योत [सम्बन्धपरीक्षा की टीका]
११ जिनेन्द्र बोधि [७२५ ई०]— विशालामलवती नाम प्रमाण समुच्चय टीका।	११ अमृतचन्द्र सूरि [९५० ई०]— १ तत्त्वार्थसार, २ आत्मख्याति
१२ शान्त रक्षित [७४९ ई०]— १ तत्त्व संग्रह कारिका, २ वादन्याय वृत्ति विपञ्चितार्थ।	१२ देवसेन भट्टारक [८९९–९५० ई०]— १ न्यायचक्र, २ दर्शनसार
१३ कमलशील [७५० ई०] १ न्याय विन्दु पूर्वपक्ष संक्षिप्त २ तत्त्वसंग्रह पञ्जिका।	१३ प्रद्युम्न सूरी [९८० ई०]
१४ कल्याण रक्षित [८२९ ई०]- १ सर्वज्ञसिद्धि कारिका, २ बाह्यार्थ सिद्धि कारिका, ३ अन्यापोह विचार कारिका, ४ ईश्वरभङ्ग कारिका, ५ श्रुतिपरीक्षा।	१४ अभयदेव सूरी [१०००]— १ वाद महार्णवम्। २ सम्मति तर्कसूत्र पर 'तत्त्वार्थ-बोधविधायिनी' टीका
१५ धर्मोत्तराचार्य [८४७ ई०]— १ न्यायविन्दु टीका, २ प्रमाणपरीक्षा, ३ अपोह नाम प्रकरणम्, ४ परलोक सिद्धि, ५ क्षणभङ्गसिद्धि, ६ प्रमाण विनिश्चय टीका।	१५ लघुसमन्त भद्र [१००० ई०]— अष्टसाहस्रीविषमपदतात्पर्य टीका
१६ मुक्ताकुम्भ [९०० ई०]— क्षणभङ्गसिद्धि व्याख्या।	१६ कल्याण चन्द्र [१००० ई०]— 'प्रमाणवार्तिका टीका'
१७ अर्चट [९०० ई०]— हेतुविन्दु विवरण	१७ अनन्तवीर्य [१०३९ ई०]— १ परीक्षामुख पञ्जिका २ न्याय विनिश्चय वृत्ति

बौद्ध न्याय के निर्माता आचार्य	जैन न्याय के निर्माता आचार्य
१८ अशोक [९०० ई०]— १ अवयविनिराकरण २ सामान्यदूषण दिक् प्रसारिता	१८ देवसूरी [१०८६ ई०]— १ प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार २ स्याद्वाद रत्नाकर [प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार टीका]
१९ चन्द्रगोमिन् [द्वितीय, ९२५ ई०]— न्याय सिद्ध्यालोक	१९ चन्द्रप्रभ सूरि [११०२ ई०] दर्शनशुद्धि या प्रमेयरत्नकोष न्यायावतार वृत्ति
२० प्रज्ञाकर गुप्त [९४० ई०]— प्रमाण वार्तिकालङ्कार सहावलम्बनिश्चय विक्रमशिला विश्वविद्यालय के दक्षिण द्वार के द्वारपाल प्रज्ञाकरमति [९८३] इनसे भिन्न थे।	२० हेमचन्द्रसूरी [१०८८–११७२ ई०]— १ प्रमाण मीमांसा २ अभिधान चिन्तामणि ६ काव्यानुशासवृत्ति ४ छन्दोनुशासवृत्ति ५ अनेकार्थसंग्रह, ६ द्वाश्रयमहाकाव्य ७ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित ८ योगशास्त्र, ९ निघण्टु शेष
२१ आचार्य जेतारि [९८० ई०]— १ हेतुतत्त्वोपदेश, २ बालावतारतर्क ३ धर्मधर्मिविनिश्चय	२१ नेमिचन्द्र कवि [११५० ई०]— 'पार्श्वनाथ चरित' में कणाद के खण्डन करने का वर्णन है। ग्रन्थ नहीं मिलता।
२२ जिन [९४० ई०]— प्रमाण वार्तिकालङ्कार टीका	२२ आनन्द सूरी [व्याघ्र शिशुक] [१०९३–११३५]—
२३ रत्नकीर्ति [१००० ई०]— १ अपोहसिद्धि, २ क्षणभङ्गसिद्धि	२३ अमर चन्द्र सूरी [सिंहशिशुक] 'सिंह व्याघ्र लक्षण' प्रवर्तक
२४ रत्नवज्र [१०४० ई०]— 'युक्ति प्रयोग'	२४ हरिभद्रसूरी [११२० ई०] १ षड् दर्शन समुच्चय २ न्याय प्रवेशक सूत्र ३ न्यायावतार वृत्ति ४ दशवैकलिकानिर्युक्ति टीका
२५ जिनमित्र [१०२५ ई०]— न्यायबिन्दु पिण्डितार्थ	२५ पार्श्वदेव गणी [११३३ ई०]— 'न्यायप्रवेश पञ्जिका'
२६ दानशील [१०२५ ई०] पुस्तक पाठोपाय	२६ श्रीचन्द्र [११३७]-न्यायप्रवेशटिप्पण
२७ ज्ञान श्री मित्र [१०४० ई०]— 'कार्यकारणभावसिद्धि'	२७ देवभद्र [११५० ई०]— 'न्यायावतार टिप्पण'
२८ ज्ञान श्री भद्र [१०५० ई०]— 'प्रमाण विनिश्चय टीका'	२८ चन्द्रसेन सूरी ११५० ई०]— 'उत्पाद सिद्धि प्रकरण'

बौद्ध न्याय के निर्माता आचार्य

२९ रत्नाकर शान्ति [१०४० ई०]—
अपर नाम कलिका सर्वज्ञ
१ विज्ञप्तिमात्रसिद्धि, २ अन्तर्व्याप्ति

३० यमारि [१०५० ई०]—
प्रमाणवार्तिकालङ्कार टीका

३१ शङ्करानन्द [१०५० ई०]—
१ प्रमाणवार्तिक टीका,
२ सम्बन्धपरीक्षानुसार
३ अपोह सिद्धि, ४ प्रतिबन्धसिद्धि

३२ शुभाकर गुप्त [१०८० ई०]—
जैन हरिभद्रसूरी [११२७] ने इनके मत का उल्लेख किया है। ग्रन्थ नहीं मिलता।

३३ मोक्षाकर गुप्त [११०० ई०]—
तर्कभाषा

संस्कृत ग्रन्थ नहीं मिलता। तिब्बती भाषा में अनुवाद पाया जाता है। पुस्तक में तीन परिच्छेद हैं जिनमें क्रमशः—१ प्रत्यक्ष, २ स्वार्थानुमान, ३ परार्थानुमान का वर्णन है। अल्प-बुद्धि बालकों को धर्मकीर्ति के सिद्धान्तों का ज्ञान कराने के लिए लिखी है।

जैन न्याय के निर्माता आचार्य

२९ रत्नप्रभ सूरी [११८१ ई०]—
'स्याद्वादरत्नाकरावतारिका'

३० तिलकाचार्य [११८०-१२४० ई०]
१ आवश्यकलघुवृत्ति
२ प्रत्येकबुद्धचरित

३१ मल्लिसेन सूरी [१२९२ ई०]—
'स्याद्वाद मञ्जरी'

३२ राजशेखर सूरी [१३४८ ई०]—
'रत्नावतारिका पञ्जिका'
'न्यायकन्दली पञ्जिका' [वैशेषिक]

३३ ज्ञानचन्द्र [१३५० ई०]—
'रत्नावतारिका टिप्पण'

३४ गुणरत्न [१४०९ ई०]—
षड्दर्शन समुच्चय पर
तर्क रहस्य दीपिका वृत्ति

३५ श्रुतसागर गणी [१४९३ ई०]—
'तत्त्वार्थ दीपिका'

३६ धर्मभूषण [१६०० ई०]—
न्याय दीपिका

३७ विनय विजय [१६१३-१६८१ ई०]-
'न्यायकर्णिका'

३८ यशोविजयगणी [१६०८-१६८८ ई०]
१ न्याय प्रदीप, २ तर्कभाषा
३ न्यायरहस्य, ४ न्यायामृततरङ्गिणी
५ न्यायखण्ड खाद्य
६ अष्टसाहस्री विवरण, ७ न्यायालोक

नव्य न्याय

Imp. [भारत में बौद्ध धर्म के पतन के बाद, भारतीय इतिहास के एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ जिसका प्रभाव भारतीय संस्कृति के अन्य भागों की भांति दार्शनिक क्षेत्र पर भी पड़ा और न्याय साहित्य के निर्माण में उसने एक नवीन प्रकार का परिवर्तन उत्पन्न कर दिया।] दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियाँ इस परिवर्तन का संक्रान्तिकाल थीं। उनमें निर्माण होने वाले न्याय साहित्य की शैली भी बदली हुई है और १२ वीं शताब्दी में तो उसमें अत्यधिक परिवर्तन हो गया है। इसीलिये इस काल के न्याय साहित्य को 'नव्य न्याय' शब्द से कहा जाता है। इस नव्य न्याय के युग में जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसकी दो प्रमुख विशेषतायें हैं जो उसे प्राचीन न्याय से भिन्न करती हैं। प्राचीन न्याय का सारा साहित्य सूत्रों पर अवलम्बित था। उस समय जो ग्रन्थ बने वे या तो साक्षात् गौतम सूत्रों की व्याख्या रूप थे या उनके भाष्य की टीका प्रटीका आदि के रूप में लिखे गये थे और सूत्रक्रम का अवलम्बन कर उनमें प्रतिपादित पदार्थों को सूत्रकार की भावना के अनुसार समझाने का प्रयत्न करते थे। इस युग में बौद्धों के खण्डन में इतने विस्तृत न्याय साहित्य का निर्माण हुआ परन्तु 'उदयन' की 'न्यायकुसुमाञ्जलि' और 'आत्मतत्त्व विवेक' को छोड़कर सबका समावेश सूत्रानुसारी व्याख्या पद्धति के भीतर हो गया। सूत्रों को छोड़कर स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माण की पद्धति उस समय नहीं थी।

१. परन्तु नव्य न्याय की विशेषताओं में से पहिली विशेषता यह है कि उसके प्राचीन सूत्र पद्धति की उपेक्षा करके स्वतन्त्र रूप से ग्रंथों का निर्माण प्रारम्भ किया गया। न केवल न्याय में अपितु व्याकरणादि अन्य शास्त्रों में भी जिस साहित्य का निर्माण इस काल में हुआ वहाँ भी यही बात स्पष्ट दिखाई देती है। इसी ने उन शास्त्रों में भी नवीन व्याकरण, प्राचीन व्याकरण और नवीन वेदान्त, प्राचीन वेदान्त वादि भेद कर दिये हैं। नवीन व्याकरण का आधारभूत सिद्धान्त-कौमुदी ग्रन्थ लक्षणानुसारिणी प्राचीन आर्षपद्धति को छोड़ कर लक्ष्यानुसारिणी नवीन पद्धति से लिखा गया है। इसी प्रकार न्याय में नव्य पद्धति से जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसमें भी प्राचीन सूत्र पद्धति की सर्वथा उपेक्षा कर स्वतन्त्र रूप में ग्रन्थों का निर्माण हुआ है।

२. नव्य न्याय की पद्धति की दूसरी विशेषता है पदार्थों के महत्त्व में आपेक्षिक परिवर्तन। न्याय के षोडश पदार्थों में से जिनका महत्त्व प्राचीन पद्धति में अधिक था वह नव्य युग में बहुत कम हो गया है और जिनका महत्त्व कम था उनका बढ़ गया है। उदाहरण के लिये प्राचीन न्याय के सूत्रकार ने सारा पाँचवाँ अध्याय केवल 'जाति' और 'निग्रह स्थान' इन दो पदार्थों के वर्णन में व्यय कर दिया है, परन्तु नव्य न्याय में उनका उल्लेख केवल नाममात्र को मिलता है। इसके विपरीत अवयव आदि का वर्णन प्राचीन न्याय की अपेक्षा नव्य न्याय में कहीं अधिक पाया जाता है।

३. नव्य न्याय की तीसरी विशेषता है 'प्रकरण ग्रन्थ'। प्रकरण ग्रन्थ एक पारिभाषिक शब्द है जिसका लक्षण इस प्रकार है—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ।।

अर्थात् शास्त्र के एक अंश के प्रतिपादक और आवश्यकतानुसार अन्य शास्त्र के उपयोगी अंश को भी प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ भेद को प्रकरण ग्रंथ कहते हैं।

नव्य न्याय में इस प्रकार के जिन अनेक प्रकरण ग्रंथों का निर्माण हुआ है, उनको हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) न्याय के वे प्रकरण ग्रन्थ जो केवल एक प्रमाण पदार्थ का निरूपण करते हैं और शेष १५ पदार्थों को प्रमाण के भीतर ही अन्तर्भूत कर लेते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में श्री 'भासर्वज्ञ' [१००० ई०] के 'न्यायसार' का नाम उल्लेख योग्य है। 'भासर्वज्ञ' सम्भवतः काश्मीर के रहने वाले दशम शताब्दी के दार्शनिक हैं।

केवल एक प्रमाण पदार्थ के प्रतिपादन की यह शैली बौद्ध साहित्य से ली गई है। भासर्वज्ञ ने अपने सामने की उसी प्रचलित पद्धति से ही न्याय के पदार्थों का निरूपण कर दिया है। परन्तु उन्होंने न केवल प्राचीन न्याय पद्धति को परिवर्तित कर दिया है अपितु अनेक सिद्धान्तों को भी परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिये उन्होंने प्रमाण के तीन भेद प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम किये हैं। जब कि न्यायशास्त्रों में इनके अतिरिक्त 'उपमान' प्रमाण भी माना गया है। प्रमाणों का यह त्रिविध विभाग न्याय सिद्धान्त की अपेक्षा सांख्य और जैन सिद्धान्त से अधिक मिलता है क्योंकि वे तीन प्रमाण मानते हैं। लेखक ने अनुमान को स्वार्थानुमान और परार्थानुमान इन दो भेदों में विभक्त करने में भी बौद्ध और जैन दार्शनिकों के विभाग का अवलम्बन किया है। और उन्हीं की तरह दृष्टान्ताभास एवं हेत्वाभासों का वर्णन किया है। नव्य न्याय के अन्य लेखकों की भाँति 'जाति' और 'निग्रह स्थान' को उन्होंने छोड़ नहीं दिया बल्कि परार्थानुमान के प्रकरण में उनका भी वर्णन किया है। मोक्ष के सम्बन्ध में भी उनका सिद्धान्त प्राचीन न्याय से भिन्न है। वे मोक्ष में नित्य आनन्द की अभिव्यक्ति मानते हैं जब भाष्यकार वात्स्यायन ने अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक उसका खण्डन किया है।

इस प्रकार नव्य पद्धति पर न्यायशास्त्र के इस प्रथम ग्रंथ की रचना दसवीं शताब्दी में हुई और उसने अपने अनुरूप आदर पाया। उसके ऊपर १८ टीकायें लिखी गईं जिनमें से मुख्य मुख्य यह हैं—

१. न्यायसार टीका [विजयसिंह गणी]
२. न्यायसार टीका [जयतीर्थ]
३. न्यायसार विचार [भट्ट राघव]
४. न्यायतात्पर्यदीपिका [जयसिंह सूरि]

शेष का उल्लेख ग्रन्थों में मिलता है टीका उपलब्ध नहीं है।

(ख) दूसरे प्रकार के 'प्रकरण ग्रन्थ' वे हैं जो मुख्यतः न्याय के ग्रन्थ होते हुए भी वैशेषिक दर्शन के पदार्थों का भी समावेश कर लेते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में 'श्रीवरदराज' की 'तार्किकरक्षा' और 'केशवमिश्र' की 'तर्कभाषा' के नाम लिए जा सकते हैं। इन दोनों ने न्याय के षोडश पदार्थों का वर्णन किया है और दोनों ने 'वैशेषिक' के द्रव्यादि पदार्थों का अन्तर्भाव 'प्रमेय' में कर लिया है। इनमें से वरदराज का समय लगभग ११५० और केशवमिश्र का समय लगभग १२७५ है।

(ग) तीसरे प्रकार के 'प्रकरण ग्रन्थ' वे हैं जो मुख्यतः 'वैशेषिक' के ग्रन्थ हैं परन्तु न्यायदर्शन के 'प्रमाण' पदार्थ का पूर्णरूप से उनमें समावेश हो गया है। इनमें से कुछ में 'प्रमाण' का अन्तर्भाव 'वैशेषिक' के 'गुणप्रकरण' में किया गया है और कुछ में 'आत्मप्रकरण' में जो कि द्रव्य का एक भेद है। न्याय और वैशेषिक के पदार्थों को इस प्रकार मिलाकर प्रतिपादन करने की शैली भी श्री उदयन के बाद विशेष रूप से प्रचलित हुई। उदयन ने अपनी 'लक्षणावली' में वैशेषिक दर्शन के सात [अभाव सहित] पदार्थों का वर्णन किया है। परन्तु उनमें न्याय के 'प्रमाण' पदार्थ का निरूपण नहीं है। उससे पूर्व केवल 'प्रशस्तपादभाष्य' में 'प्रमाण' का भी समावेश हुआ है। इस प्रकार के ग्रन्थों में १२वीं शताब्दी के 'वल्लभाचार्य' की 'न्यायलीलावती', 'अन्नंभट्ट' [१६२३], का 'तर्कसंग्रह', विश्वनाथ 'न्यायपञ्चानन' [१६३४] का 'भाषापरिच्छेद', 'लौगाक्षि भास्कर' की 'तर्ककौमुदी' के नाम लिए जा सकते हैं।

(घ) चौथे प्रकार के प्रकरण ग्रन्थ वे हैं जिनमें कुछ न्याय और कुछ वैशेषिक के पदार्थों का निरूपण है जैसे 'शशधर' [११२५] का 'न्यायसिद्धान्तदीप'।

इसी प्रकरण में 'सर्वदर्शनसंग्रह' के लेखक श्री 'माधवाचार्य' के नाम का भी उल्लेख कर देना चाहिए।

तत्त्वचिन्तामणि (एक युग प्रवर्तक ग्रन्थ)—

पिछले प्रकरण में हमने जिन प्रकरण ग्रन्थों का उल्लेख किया है, वह सब नव्यग्रन्थ होते हुए नव्यन्याय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं हैं। नव्यन्याय के साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान गङ्गेशोपाध्याय के 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ का है। इसे ही वस्तुतः नव्यन्याय का आधारभूत ग्रन्थ और गङ्गेशोपाध्याय को नव्यन्याय का पिता माना जाता है। इस ग्रन्थ ने न्यायशास्त्र के इतिहास में वस्तुतः एक नवीन युग की सृष्टि की है। अब तो संस्कृत शिक्षा पर भी कुछ आंग्ल पद्धति का प्रभाव दिखाई देने लगा है। परन्तु अब से केवल एक पीढ़ी पूर्व तक 'तत्त्वचिन्तामणि' या उसके किसी एक खण्ड को पढ़े बिना दार्शनिक पाण्डित्य प्राप्त करना असम्भव समझा जाता था।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्री गङ्गेशोपाध्याय एक मैथिल विद्वान् थे जिन्होंने सन् १२०० के लगभग इस ग्रन्थ की रचना की। अपने निर्माण काल से ही यह ग्रन्थ मैथिल सम्प्रदाय की शिक्षा का चरम उद्देश्य बन गया। केवल इस [illegible] का

पाण्डित्य प्राप्त करने के लिए लोग अपने जीवन के १२ वर्ष प्रसन्नतापूर्वक व्यय कर सकते थे और उसमें गौरव का अनुभव करते थे। १६वीं शताब्दी में 'वासुदेव सार्वभौम' ने बंगाल के प्रधान विद्यापीठ 'नवद्वीप' में इस ग्रन्थ का प्रचार किया। वासुदेव सार्वभौम मैथिल विद्वान् 'पक्षधर मिश्र' के शिष्य थे। उन्होंने 'नवद्वीप' जाकर इसके पठन-पाठन को प्रचलित किया। १५०३ में 'नवद्वीप' विद्यापीठ की स्थापना होने के बाद इस ग्रन्थ का 'रघुनाथ शिरोमणि' आदि के द्वारा सारे बंगाल में प्रचार हो गया। इस प्रकार नवद्वीप और 'मिथिला' यह दोनों 'नव्यन्याय' के प्रधान केन्द्र रहे और आज भी इन दोनों विद्यापीठों को अपने नव्यन्याय के पाण्डित्य पर गर्व करने का उचित अधिकार है। नवद्वीप के बाद धीरे-धीरे महाराष्ट्र, मद्रास और काश्मीर में प्रचार होते-होते सारे भारत में उसका प्रचार हो गया।

इस ग्रन्थ में कुल चार खण्ड हैं जिनमें प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों का विवेचन क्रमशः एक-एक खण्ड में किया गया है। वह ग्रन्थ इस पद्धति से लिखा गया है कि उसका हिन्दी में अनुवाद कर सकना सर्वथा असम्भव है। संसार के सारे दार्शनिक ग्रन्थों में जितनी टीकाएँ इस ग्रन्थ की हुई हैं उतनी किसी दूसरे ग्रन्थ की नहीं। श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण के लेखानुसार मूल ग्रन्थ लगभग तीन सौ पृष्ठ का है और उस पर जो टीकाएँ लिखी गई हैं उनकी सम्मिलित पृष्ठ संख्या लगभग दस लाख से ऊपर है। इतनी अधिक टीकाएँ विश्वसाहित्य के विरले ग्रन्थ पर ही मिल सकेंगी। इससे इस नव्यन्याय के ग्रन्थ का महत्त्व और काठिन्य का कुछ आभास मिल सकेगा।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है 'मिथिला' और 'नवद्वीप' यह दो स्थान नव्यन्याय के प्रधान केन्द्र रहे हैं। वहीं के विद्वानों ने इसके पठन-पाठन और टीका-प्रटीका लिख कर इसे इतना महत्त्व प्रदान किया है। जिन विद्वानों ने इस प्रकार नव्यन्याय का विस्तार किया उनकी नामावली, काल तथा ग्रन्थ आदि के विवरण सहित हम आगे दे रहे हैं जिसमें दोनों शाखाओं के विद्वानों के नाम अलग-अलग दिए हैं।

मैथिल शाखा

१२००–१६००

सं०	नाम	काल	स्थान	विशेष	ग्रन्थ
१	गङ्गेशोपाध्याय	१२००	मिथि०	नव्य न्याय के प्रवर्तक	तत्त्वचिन्तामणि
२	वर्द्धमानोपाध्याय	१२५०	,,	गङ्गेशोपाध्याय के शिष्य	१ तत्त्वचिन्तामणि प्रकाश
					२ न्यायनिबन्धप्रकाश (न्या.वा.ता.परिशुद्धि की टीका)
					३ न्यायपरिशिष्ट प्रकाश (न्या० प० की टीका)
					४ प्रमेयनिबन्ध प्रकाश
					५ किरणावली प्रकाश
					६ न्यायकुसुमाञ्जलि प्रकाश
					७ न्यायलीलावती प्रकाश
					८ खण्डनखण्ड प्रकाश
३	पक्षधर मिश्र [जगदेव]	१२७५	,,	हरि मिश्र के शिष्य	१ तत्त्वचिन्तामणि आलोक
					२ द्रव्यपदार्थ
					३ लीलावती विवेक
					४ प्रसन्नराघव नाटक
					५ चन्द्रालोक
४	वासुदेव मिश्र	,,	,,	जयदेव मिश्र के शिष्य	१ तत्त्वचिन्तामणिटीका [पक्षधर के समर्थन में]
५	रुचिदत्त मिश्र	,,	,,	,,	१ तत्त्वचिन्तामणि प्रकाश
					२ न्यायकुसुमाञ्जलि प्रकाश–मकरन्द

सं०	नाम	काल	स्थान	विशेष	ग्रन्थ
६	भगीरथ [मेघ] ठक्कुर	१४००	मिथि०		१ जलद [कुसुमाञ्जलि प्रकाश वर्द्धमान की टीका] २ 'किरणावली प्रकाश प्रकाशिका' [,,] ३ लीलावती प्रकाश व्याख्या [,,]
७	महेश ठक्कुर	,,	,,	दरभंगा के राजवंश के संस्थापक हैं। इनके शिष्य रघुनंदन दास राय नैयायिक की विद्वत्ता से प्रसन्न होकर सम्राट् अकबर ने दरभंगा का प्रान्त उनको भेंट किया था जिसे उन्होंने गुरुदक्षिणा के रूप में महेश ठक्कुर को समर्पित कर दिया और इस प्रकार वे दरभंगा के राजवंश के संस्थापक बने।	१ पक्षधर मिश्र के 'आलोक' पर 'दर्पण' टीका
८	शङ्कर मिश्र	१४५०	,,		१ आत्मतत्त्वविवेक कल्पलता २ आनन्दवर्द्धन [खण्डनखण्डखाद्य की टीका] ३ तत्त्वचिन्तामणिमयूख ४ त्रिसूत्रीनिबन्ध व्याख्या [उदयन की टीका] ५ भेदरत्नप्रकाश [शाङ्कर वेदान्त का खण्डन] ६ गौरीदिगम्बरप्रहसन

					७ वैशेषिकसूत्रोपस्कार ८ वादिविनोद ९ बौद्धधिक्कार टीका [आत्मतत्त्वविवेक की टीका] १० अभेदधिक्कार [शङ्कर का खण्डन] ११ न्यायलीलावती कण्ठाभरण १२ पण्डितविजय
९	वाचस्पति मिश्र (द्वितीय)	१४५०	,,		१ अनुमानखण्ड टीका [त० चि० की टीका] २ खण्डनखण्डोद्धार ३ न्यायसूत्रोद्धार ४ शब्दनिर्णय
१०	मिसरू मिश्र	१४७५		न्यायदीपिकाकार मिसरुक दूसरे हैं।	१ पदार्थचन्द्र
११	दुर्गादत्त मिश्र	१५५०			१ न्यायबोधिनी
१२	देवनाथ ठक्कुर	१५६२			१ तत्त्वचिन्तामण्यालोक-परिशिष्ट
१३	मधुसूदन ठक्कुर	१५७५			१ तत्त्वचिन्तामण्यालोक-कण्टकोद्धार

नवद्वीप शाखा

१६००–१८००

सं०	नाम	काल	स्थान	विशेष	ग्रन्थ
१	वासुदेव सार्वभौम	१५५०	नवद्वीप	नवद्वीप के महेश्वर विशारद के पुत्र थे । व्याकरण आदि पढ़ने के बाद लगभग २५ वर्ष की अवस्था में मिथिला जाकर पक्षधर मिश्र के शिष्य बने । मैथिली पण्डित किसी बाहरी व्यक्ति को अपने ग्रन्थों की प्रतिलिपि नहीं करने देते थे । अत एव वासुदेव सार्वभौम ने समस्त तत्त्वचिन्तामणि और कुसुमाञ्जलि को कण्ठ कर लिया वहां से शिक्षा समाप्त कर काशी में वेदान्त का अध्ययन कर १६०० में वे नवद्वीप वापिस लौट आए । और	

				वहां न्यायकी शिक्षा देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार वे नव्यन्याय की नवद्वीपशाखा के प्रवर्तक हैं।	
२	रघुनाथ शिरोमणि	१६००	,,	नवद्वीप में वासुदेव सार्वभौम से नव्यन्याय की संपूर्ण शिक्षा प्राप्त कर मिथिला गए और पक्षधर मिश्र के शिष्य बने। एक दिन पक्षधर मिश्र ने किसी बात पर इनका अपमान कर दिया तो रात को छिपकर तलवार लेकर उनको मारने के लिए घर पर पहुँचे। उस समय पक्षधर मिश्र अपनी पत्नी से रघुनाथ की विद्वत्ता की प्रशंसा कर रहे थे जिसे उन्होंने बाहर से सुन लिया। और तलवार फेंक कर गुरु के चरणों पर गिर पड़े और क्षमा मांगी। वे एक आँख से काने थे।	१ तत्त्वचिन्तामणि-दीधिति २ बौद्धधिक्कार-शिरोमणि ३ पदार्थतत्त्वनिरूपण ४ किरणावली-प्रकाश-दीधिति ५ न्यायलीलावती-प्रकाश-दीधिति ६ अवच्छेदकत्वनिरुक्ति ७ खण्डनखण्डखाद्य-दीधिति ८ आख्यातवाद ९ नञ्वाद

सं०	नाम	काल	स्थान	विशेष	ग्रन्थ
३	हरिदास न्यायालङ्कार भट्टाचार्य	१६००	नवद्वीप	वासुदेव सार्वभौम के शिष्य	१ न्यायकुसुमाञ्जलि–कारिकाव्याख्या
					२ तत्त्वचिन्तामणि-प्रकाश
					३ भाष्यालोक–टिप्पणी
४	जानकीनाथ शर्मा	,,			१ न्यायसिद्धान्तमञ्जरी
५	कणाद तर्कवागीश	१६१०			१ मणिव्याख्या
					२ भाषारत्न
					३ अपशब्दखण्डन
६	रामकृष्ण भट्टाचार्य चक्रवर्ती	१६२५		१ रघुनाथ शिरोमणि के पुत्र एवं शिष्य	१ गुणशिरोमणिप्रकाश
					२ न्यायदीपिका
७	मथुरानाथ तर्कवागीश	,,		,,	१ तत्त्वचिन्तामणि रहस्य
					२ ,, आलोकरहस्य
					३ दीधितिरहस्य
					४ सिद्धान्त रहस्य
					५ किरणावलीप्रकाशरहस्य
					६ न्यायलीलावतीप्रकाशरहस्य
					७ ,, ,, ,, दीधितिरहस्य
					८ बौद्धधिक्काररहस्य
					९ आदिक्रियाविवेक
					१० आयुर्वेदभावना
८	कृष्णदास सार्वभौम भट्टाचार्य	,,			१ तत्त्वचिन्तामणि-दीधितिप्रसारिणी
					२ अनुमानालोक-प्रसारिणी

९	गुणानन्द विद्यावागीश	१६२५			१ अनुमान-दीधितिविवेक २ आत्मतत्त्वविवेक-दीधितिटीका ३ गुणविवृत्तिविवेक ४ न्यायकुसुमाञ्जलिविवेक ५ न्यायलीलावतीप्रकाशदीधितिविवेक ६ शब्दालोकविवेक
१०	रामभद्र सार्वभौम	१६३०			१ दीधितिटीका २ न्यायरहस्य ३ गुणरहस्य ४ न्यायकुसुमाञ्जलि-कारिकाव्याख्या ५ पदार्थविवेकप्रकाश ६ षट्चक्रकर्मदीपिका
११	जगदीश तर्कालङ्कार	”			१ त० चि० दीधितिप्रकाशिका [जागदीशी] २ ” मयूख ३ न्यायादर्श या न्यायसारावली ४ शब्दशक्तिप्रकाशिका ५ तर्कामृत ६ पदार्थतत्त्वनिर्णय ७ न्यायलीलावतीदीधितिव्याख्या
१२	रुद्र न्यायवाचस्पति	१६५०			१ त० चि० दीधितिपरीक्षा २ किरणावलीप्रकाशविवृत्तिपरीक्षा ३ पदार्थखण्डनव्याख्या ४ भावविलास [राजस्तुति का काव्य] ५ भ्रमरदूत

सं०	नाम	काल	स्थान	विशेष	ग्रन्थ
					६ वृन्दावनविनोद काव्य
१३	जयराम न्यायपञ्चानन	१७००			१ त० चि० दी० गूढार्थविद्योतन
					२ त० चि० आलोकविवेक
					३ न्यायसिद्धान्तमाला
					४ शब्दार्थमाला
					५ गुणदीधितिविवृत्ति
					६ न्यायकुसुमाञ्जलिकारिकाव्याख्या
					७ पदार्थमणिमाला
					८ काव्यप्रकाश तिलक
१४	गौरीकान्त सार्वभौम	१७२५			१ भावार्थदीपिका [तर्कभाषा की टीका]
					२ सद्‌युक्तिमुक्तावली
					३ आनन्दलहरीवटी
					४ विदग्धमुखमण्डन विटीका
१५	भवानन्द सिद्धान्तवागीश	१६२५			१ त० चि० दी० प्रकाशिका
					२ प्रत्यगालोकसारमञ्जरी
					३ तत्त्वचिन्तामणिटीका
					४ कारकविवेचन
१६	हरिराम तर्कवागीश	,,			१ त० च० टीका विचार
					२ आचार्यमतरहस्यविचार
					३ रत्नकोषविचार
					४ स्वप्रकाशरहस्यविचार

१७	विश्वनाथसिद्धान्तपञ्चानन	१६३४			१ अलङ्कारपरिष्कार
					२ नञ्वादटीका
					३ न्यायसूत्रवृत्ति
					४ सुबर्थतत्त्वालोक या कारकचक्र
					५ पदार्थतत्त्वालोक
					६ न्यायतन्त्रबोधिनी
					७ भाषापरिच्छेद
					८ पिङ्गलप्रकाश
१८	रामभद्र सिद्धान्त वागीश	१६६०			१ सुबोधिनी [शब्दशक्ति प्र० की टीका]
१९	गोविन्द न्यायवागीश	१६५०			१ न्यायसंक्षेप
					२ पदार्थखण्डनव्याख्या
					३ समासवाद
२०	रघुदेव न्यायालंकार	,,			१ त० चि० गूढार्थदीपिका
					२ नवीननिर्माण
					३ दीधितिटीका
					४ न्या० कुसु० कारिकाव्याख्या
					५ द्रव्यसारसंग्रह
					६ पदार्थखण्डनव्याख्या
२१	गदाधर भट्टाचार्य	,,			१ त० चि० दीधितिप्रकाशिका
					२ ,, व्याख्या
					३ ,, आलोकटीका
					४ मुक्तावलीटीका
					५ रत्नकोषवादरहस्य
					६ अनुमानचिन्तामणिदीधितिटीका

सं०	नाम	काल	स्थान	विशेष	ग्रन्थ
					७ आख्यातवाद
					८ कारकवाद
					९ नञ्वाद
					१० प्रामाण्यवाददीधितिटीका
					११ शब्दप्रामाण्यवादरहस्य
					१२ बुद्धिवाद
					१३ युक्तिवाद
					१४ विधिवाद
					१५ विषयतावाद
					१६ व्युत्पत्तिवाद
					१७ शक्तिवाद
					१८ स्मृतिसंस्कारवाद
२२	नृसिंह पञ्चानन	१६७५			१ न्यायसिद्धान्तमञ्जरीभूषा
२३	रामदेव चिरञ्जीव	१७००			१ विद्वदामोदतरङ्गिणी
					२ काव्यविलास
					३ माधवचम्पू
					४ वृत्तरत्नावली
२४	रामरुद्र तर्कवागीश	"			१ त० चि० दीधिति टीका
					२ व्याप्तिवादव्याख्या
					३ कारकनिर्णयटीका
					४ दिनकरीयप्रकाशतरङ्गिणी

					५ तत्त्वसंग्रहदीपिका–टिप्पणी
					६ सिद्धान्तमुक्तावली–टीका
२५	श्रीकृष्ण न्यायालङ्कार	१६५०			१ भावदीपिका [न्यायसिद्धान्तमञ्जरी की टीका]
२६	जयराम तर्कालङ्कार	१७००			१ शक्तिवाद–टीका
२७	रुद्रराम	१७५०			१ वादपरिच्छेद
					२ व्याख्याव्यूह
					३ चित्तरूप
					४ अधिकरणचन्द्रिका
					५ वैशेषिकशास्त्रीय–पदार्थनिरूपण
२८	कृष्णकान्त विद्यावागीश	१७८०			१ न्यायरत्नावली
					२ दायभाग टीका
					३ गोपाललीलामृत
					४ चैतन्यचन्द्रामृत
					५ कामिनीकामकौतुक
					६ उपमानचिन्तामणि-टीका
					७ शब्दशक्तिप्रकाशिका-टीका
२९	राजचूडामणि मखी	१६३०			१ तत्त्वचिन्तामणिदर्पण
३०	धर्मराजाध्वरीण	१६५०			१ ,, प्रकाश-टीका
३१	गोपीनाथ मौनी	,,			१ शब्दलोकरहस्य
					२ उज्ज्वला [तर्कभाषा-टीका]
					३ पदार्थविवेक-टीका
३२	कृष्णभट्ट आड़े	१७९०			१ गदाधरीयकर्षिका
३३	महादेव उत्तमकर	,,			१ व्याप्तिरहस्य टीका
३४	रघुनाथ शास्त्री	१८१५			१ गदाधरीयपञ्चवाद-टीका

तर्कभाषाकार केशवमिश्र

बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन तीनों सम्प्रदायों के अपने अपने मत के अनुसार 'तर्कभाषा' इस एक ही नाम से अलग-अलग ग्रन्थ हैं। इनमें से बौद्ध 'तर्कभाषा' के लेखक मोक्षाकार गुप्त [११००] हैं। यह मोक्षाकर की 'तर्कभाषा' तीनों में सबसे प्राचीन है। इसमें बौद्धन्याय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

ऊपर हमने न्याय साहित्य का जो विवरण दिया है उसमें 'तर्कभाषा' नामक तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। दूसरी जैन 'तर्कभाषा' के लेखक जैन विद्वान् श्री यशोविजय [१६८८ ई०] हैं। इसमें जैनन्याय के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। और तीसरी 'तर्कभाषा' के लेखक श्री केशवमिश्र [१२७५ ई०] हैं। इसमें ब्राह्मणों के न्यायसिद्धान्तों का मुख्य रूप से और उसके साथ ही वैशेषिक सिद्धान्तों का संक्षेप रूप से सम्मिलित विवेचन किया गया है। केशवमिश्र की यह 'तर्कभाषा' बौद्ध विद्वान् मोक्षाकर गुप्त की 'तर्कभाषा' के १७५ वर्ष बाद और यशोविजय की जैन 'तर्कभाषा' से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व लिखी गई थी। यह प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या उसी केशव-मिश्र विरचित 'तर्कभाषा' की हिन्दी व्याख्या है। केशवमिश्र की यह 'तर्कभाषा' न्याय के उन प्रकरण ग्रन्थों में से है जिनमें मुख्य रूप से न्याय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए आनुषङ्गिक रूप से वशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों का भी समावेश कर लिया गया है।

खेद की बात है कि अन्य ग्रन्थकारों के समान 'तर्कभाषा' के लेखक केशवमिश्र ने भी स्वयं अपना परिचय देने का कोई प्रयत्न नहीं किया है। इसलिए उनका देश-काल आदि सब ही कुछ अन्धकार में है। उनका जो कुछ थोड़ा सा परिचय प्राप्त होता है वह उनके शिष्य 'गोवर्धन मिश्र' के द्वारा हमको प्राप्त होता है। 'गोवर्धन मिश्र' ने अपने गुरु श्री केशवमिश्र की इस 'तर्कभाषा' पर 'तर्कभाषा-प्रकाश' नामक एक टीका लिखी है। इस टीका के प्रारम्भ में एक श्लोक लिखा है जिस से यह विदित होता है कि 'तर्कभाषा' के निर्माता केशवमिश्र टीकाकार 'गोवर्धनमिश्र' के गुरु हैं। वह श्लोक जो इस गुरुशिष्य-सम्बन्ध को बतलाता है इस प्रकार है—

विजयश्रीतनूजन्मा गोवर्धन इति श्रुतः।
तर्कानुभाषां तनुते विविच्य गुरुनिर्मिताम् ॥

इस में 'गोवर्धनमिश्र' ने अपना परिचय देते हुए 'तर्कभाषा' को अपने गुरु की बनाई हुई बतलाया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'केशवमिश्र' गोवर्धन मिश्र के गुरु थे। इसके आगे 'गोवर्धन मिश्र' ने एक श्लोक और लिखा है जिसमें

उन्होंने अपने गुरु श्री केशवमिश्र का परिचय देने का प्रयत्न किया है। वह श्लोक निम्न प्रकार है—

श्रीविश्वनाथानुज-पद्मनाभानुजो गरीयान् बलभद्रजन्मा।
तनोति तर्कानधिगत्य सर्वान् श्रीपद्मनाभाद्विदुषो विनोदम् ॥

'गोवर्धन मिश्र' ने इस श्लोक में 'केशवमिश्र' का जो परिचय दिया है उसके अनुसार उनके पिता का नाम 'बलभद्र' था। उनके दो बड़े भाई क्रमशः 'विश्वनाथ' तथा 'पद्मनाभ' नाम के थे। 'केशवमिश्र' ने अपने बड़े भाई 'पद्मनाभ' से तर्कशास्त्र का अध्ययन कर के 'स्वान्तःसुखाय' इस 'तर्कभाषा' की रचना की है।

केशवमिश्र के बड़े भाई 'पद्मनाभमिश्र' स्वयं एक बड़े अच्छे नैयायिक विद्वान् थे। उन्होंने वैशेषिक दर्शन के 'प्रशस्तपाद भाष्य' पर श्री उदयनाचार्य विरचित 'किरणावली' नामक टीका पर 'किरणावलीप्रकाश' नामक व्याख्या ग्रन्थ, तथा 'कणादरहस्यमुक्ताहार' नामक एक अन्य ग्रन्थ की रचना की है। 'किरणावली' पर नव्यन्याय के प्रवर्तक 'गंगेशोपाध्याय' के शिष्य 'श्री वर्धमानोपाध्याय' [१२५० ई०] ने भी 'किरणावली-प्रकाश' नाम से ही एक टीका लिखी है। परन्तु 'पद्मनाभ मिश्र' अपने 'किरणावली-प्रकाश' में 'वर्धमान' के 'किरणावली-प्रकाश' की अपेक्षा कुछ विशेषता बतलाते हैं। उन्होंने लिखा है कि 'वर्धमान' ने जिन अर्थों का स्पर्श भी नहीं किया है इस प्रकार के बिल्कुल नवीन और अपने गुरु द्वारा उपदिष्ट अर्थों का हम अपने इस 'किरणावली-प्रकाश' में वर्णन कर रहे हैं। उनका श्लोक इस प्रकार है—

उपदिष्टा गुरुचरणैरस्पृष्टा वर्धमानेन।
किरणावल्यामर्थास्तन्यन्ते पद्मनाभेन ॥

अर्थात् अपने गुरु जी द्वारा बतलाये गए ऐसे अर्थों का जिनको कि 'किरणावली-प्रकाश' नामक टीका के लेखक 'वर्धमानोपाध्याय' ने अपने ग्रन्थ में छुआ भी नहीं है उनको हम अर्थात् इस नवीन 'किरणावली-प्रकाश' के लेखक 'पद्मनाभ मिश्र' अपने इस ग्रन्थ में लिख रहे हैं।

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि 'पद्मनाभमिश्र' जो कि केशवमिश्र के बड़े भाई हैं वर्धमानोपाध्याय [१२५० ई०] के लगभग समकालीन किन्तु कुछ बाद के हैं। इसलिए 'पद्मनाभमिश्र' और उनके छोटे भाई केशवमिश्र दोनों का समय १२७५ ई० के लगभग निश्चित किया गया है।

'वर्धमानोपाध्याय' नव्यन्याय की 'मैथिल शाखा' के पण्डित थे इसलिए 'पद्मनाभ मिश्र' तथा 'केशव मिश्र' को भी प्रायः मैथिल ही माना जाता है। इस प्रकार तर्कभाषाकार केशवमिश्र १२७५ ई० के लगभग मिथिला में उत्पन्न हुए थे।

उनके पिता का नाम 'बलभद्र मिश्र' और दो बड़े भाइयों के नाम क्रमशः 'विश्वनाथ मिश्र' तथा 'पद्मनाभ मिश्र' थे। इनके शिष्य 'गोवर्धनमिश्र' थे जिन्होंने इनकी 'तर्कभाषा' पर 'तर्कभाषाप्रकाश' नामक व्याख्या लिखी है। इतना ही इनका परिचय इनके शिष्य 'गोवर्धन मिश्र' के द्वारा प्राप्त होता है।

तर्कभाषा की प्राचीन टीकाएँ—

केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' में बहुत संक्षेप में और बहुत सुन्दर रूप से न्याय के पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है इसलिए इस पुस्तक ने विद्वानों में अच्छा आदर पाया है। इसी कारण इस ग्रन्थ के ऊपर थोड़े से समय में ही प्रायः चौदह टीका लिखी गई हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१ श्री गोवर्धनमिश्र कृत [१३००]	तर्कभाषा-प्रकाशिका।
२ श्री गोपीनाथ कृत	उज्ज्वला टीका।
३ श्री रोमबिल्व वेंकटबुद्ध कृत	तर्कभाषा-भाव टीका।
४ श्री रामलिंग कृत	न्यायसंग्रह टीका।
५ श्री माधवदेव कृत	सारमञ्जरी।
६ श्री भास्कर भट्ट कृत	परिभाषादर्पण।
७ श्री बालचन्द्र कृत	तर्कभाषाप्रकाशिका।
८ श्री चिन्नभट्ट कृत [१३९०]	तर्कभाषाप्रकाशिका।
९ श्री गणेशदीक्षित कृत	तत्त्वप्रबोधिनी।
१० श्री कौण्डिन्यदीक्षित कृत	तर्कभाषाप्रकाशिका।
११ श्री केशवभट्ट कृत	तर्कदीपिका।
१२ श्री गौरीकण्ठ सार्वभौम कृत	तर्कभाषा-प्रकाशिका।
१३ श्री नागेशभट्ट कृत [१७९०]	युक्तिमुक्तावली टीका।
१४ श्री विश्वकर्मा कृत	न्यायप्रदीप।

'तर्कभाषा' जैसी छोटी सी पुस्तक पर इतनी अधिक टीकाओं का लिखा जाना उसकी लोकप्रियता और प्रौढता का प्रमाण है। यह छोटा सा ग्रन्थ भारतीय दर्शन का प्रवेश-द्वार है इसलिए सभी कलाकारों ने उसे अपनी-अपनी व्याख्याओं द्वारा अलंकृत करने का यत्न किया है। जिस प्रकार विगत ७०० वर्षों से यह ग्रन्थ विद्वानों में आदर प्राप्त करता आ रहा है उसी प्रकार आशा है इस नवयुग में भी इस नवीन व्याख्या से विभूषित यह ग्रन्थ विशेष रूप से प्रचार और विद्वज्जनों द्वारा आदर प्राप्त करेगा।

दीपावली २०१० **विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि**

तर्कभाषा

'तर्करहस्यदीपिका' विभूषिता

श्रीकेशवमिश्रप्रणीता

तर्कभाषा
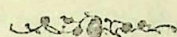
उपोद्घातः

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिता
'तर्करहस्यदीपिकाख्या' हिन्दीव्याख्या ।

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
नमो विश्वात्मभूताय पूताय परमात्मने ।
सच्चिदानन्दरूपाय तर्कतत्त्वावभासिने ॥

समुद्भूता पूता निगमनगतस्तर्कसरिता,
तता या तन्त्रे तैः सुगतजिनविप्रैस्त्रिपथगा ।
तदस्या धाराणां परिचयकृते सम्यगधुना,
वयं व्याख्याव्याजात्तमिममिनवां सन्तनुमहे ॥

अनुबन्धचतुष्टय—

मनुष्य एक मननशील प्राणी है। वह सदा विचारपूर्वक कार्य करता है, 'मत्वा कर्माणि सीव्यति'[2] इसी से मनुष्य कहलाता है। अतएव मनुष्य उसी कर्म में प्रवृत्त होता है जिसमें उसे 'इष्टसाधनता' और 'कृतिसाध्यता' का ज्ञान हो। 'इदं मदिष्टसाधनम्' यह कार्य मेरा इष्टसाधन है, इससे मेरे प्रयोजन की सिद्धि होगी, और 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' यह कार्य मेरे प्रयत्न से साध्य है, मैं इस कार्य को कर सकता हूँ ऐसा जान कर ही मनुष्य किसी काम में प्रवृत्त होता है। इस ज्ञान में 'इदं' पद से १ 'विषय', 'मत्' पद से २ 'अधिकारी', 'इष्ट' पद से ३ 'प्रयोजन' और 'साधनम्' या 'साध्यम्' 'पद से ४ 'सम्बन्ध' इन चारों का ज्ञान आ जाता है। इसलिए 'विषय' 'अधिकारी', 'सम्बन्ध' और 'प्रयोजन' इन

१ अथर्ववेद १०,७,३२ । २ निरुक्त ३,१,७ ।

बालोऽपि यो न्यायनये प्रवेशम् ,-अल्पेन वाञ्छत्यलसः श्रुतेन ।
संक्षिप्तयुक्त्यन्विततर्कभाषा, प्रकाश्यते तस्य कृते मयैषा ॥

चारों को 'अनुबन्धचतुष्टय' कहा जाता है। 'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्व-मनुबन्धत्वम्', प्रवृत्ति कराने वाले अर्थात् 'इदं मदिष्टसाधनम्' आदि ज्ञान के विषय जो; १ विषय, २ अधिकारी, ३ प्रयोजन और ४ सम्बन्ध हैं; वे चारों 'अनुबन्धचतुष्टय' कहलाते हैं। और उनका ज्ञान ही मनुष्य को किसी भी कार्य में प्रवृत्त कराता है। इसलिए किसी ग्रन्थ के अध्ययन में भी मनुष्य तब ही प्रवृत्त होता है जब उसे उसके विषय आदि का ज्ञान हो। अतएव ग्रन्थ में अधिकारी पाठकों की अभिरुचि और प्रवृत्ति हो सके इसके लिए ग्रन्थ के आरम्भ में ही उसके विषय, प्रयोजन आदि का उल्लेख कर देना आवश्यक है। इसीलिए प्राचीन संस्कृत साहित्य में सर्वत्र ग्रन्थारम्भ में 'अनुबन्धचतुष्टय' के निरूपण करने की परम्परा रही है। जैसा कि कहा भी है—

'सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः'[1] ॥

अर्थात् विषय, सम्बन्ध आदि का ज्ञान होने पर ही अधिकारी श्रोता व्यक्ति किसी शास्त्र या ग्रन्थ आदि के श्रवण या अध्ययन आदि में प्रवृत्त होता है। इसलिए ग्रन्थ के आरम्भ में विषय, सम्बन्ध, अधिकारी, प्रयोजन आदि का प्रतिपादन कर देना चाहिए।

इसी मर्यादा का अनुगमन करते हुए इस तर्कभाषा ग्रन्थ के रचयिता श्री 'केशवमिश्र' ने अपने ग्रन्थनिर्माण का प्रयोजन बतलाते हुए ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार किया है—

जो आलसी [कठिन परिश्रम न कर सकने वाला] बालक [ग्रहणधारण-पटुर्बालो न तु स्तनन्धयः, अर्थात् जो इस विषय को ग्रहण और धारण कर सके ऐसा बालक दुधमुँहा बच्चा नहीं] भी थोड़े से श्रवण [अध्ययन अथवा गुरुमुख से श्रवण] से न्याय [शास्त्र] के सिद्धान्तों में प्रवेश [उनका परिचय प्राप्त करना] चाहता है उसके लिए संक्षिप्त युक्तियों से अन्वित यह तर्कभाषा [ग्रन्थ] मैं [केशव मिश्र] प्रकाशित कर रहा हूँ।

---

१ मीमांसाश्लोकवार्तिकम् १,१७।

न्याय के सिद्धान्तों का सरलतापूर्वक परिज्ञान कराना इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। न्याय के प्रतिपाद्य प्रमाणादि षोडश पदार्थ इसके विषय हैं। न्याय-सिद्धान्त का परिज्ञान प्राप्त करने वाला जिज्ञासु इसका अधिकारी है। और ग्रन्थ का विषय के साथ प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव तथा अधिकारी के साथ बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार इस श्लोक में 'अनुबन्धचतुष्टय' की सूचना हुई।

नामकरण—

लेखक ने अपने ग्रन्थ का नाम 'तर्कभाषा' रखा है। यों तो न्यायसूत्रकार ने अपने षोडश पदार्थों में 'तर्क' नामक एक पदार्थ माना है और उसका लक्षण 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः'[1] इस प्रकार किया है। परन्तु तर्कभाषा के टीकाकारों ने 'तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते' इति तर्काः प्रमाणादयः षोडश पदार्थाः'। इस प्रकार तर्क शब्द की व्युत्पत्ति की है और उसका अर्थ प्रमाणादि षोडश पदार्थ किया है। तर्कभाषा के अतिरिक्त श्री अन्नंभट्ट के 'तर्कसंग्रह', श्री जगदीश तर्कालङ्कार के 'तर्कामृत' आदि अन्य ग्रन्थों के टीकाकारों ने भी 'तर्क' शब्द की इसी प्रकार की व्युत्पत्ति की है। अतएव इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते, इति तर्काः प्रमाणादयः षोडश पदार्थास्ते भाष्यन्तेऽनया इति तर्कभाषा'। अर्थात् प्रमाणादि षोडश पदार्थों की व्याख्या करने वाली पुस्तक होने के कारण इसका नाम 'तर्कभाषा' रखा गया है और वह सार्थक या अन्वर्थ संज्ञा है।

न्यायसूत्रकार ने 'कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः' यह जो तर्क का लक्षण किया है उसके अनुसार किसी तत्त्व के निर्णय के लिए कारणों और युक्तियों से ऊह अर्थात् अनुसन्धान का नाम तर्क है। आत्मा आदि विशेष विवादग्रस्त विषयों में तत्त्व निर्णय के लिए न्याय दर्शन ने विशेष रूप से युक्तियों और कारणों से ऊहापोह की है, और यही उसका प्रधान विषय रहा है इसलिए न्यायशास्त्र का नाम ही 'तर्क' अथवा 'तर्कशास्त्र' हो गया है। इसी प्रसङ्ग से न्याय में अनुमान, उस में प्रयुक्त होने वाले शुद्ध हेतुओं, तथा अशुद्ध हेतुरूप हेत्वाभास, आदि की विशेष विवेचना की गई है। और तत्त्व-निर्णय के लिए होने वाली कथाओं के 'वाद', 'जल्प', वितण्डा' आदि भेद कर के उनके नियम और 'निग्रहस्थान' आदि का विशेष वर्णन किया गया है। इस-

१ न्यायसूत्र १,१,४०।

लिए कारणों के ऊहापोहात्मक तर्क से विशेष रूप से सम्बद्ध होने के कारण यह न्यायशास्त्र अनेक स्थलों में तर्क अथवा तर्कशास्त्र नाम से व्यवहृत हुआ है वह उचित ही है। इसीलिए उस न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का परिचय देने वाले इस ग्रंथ का 'तर्कभाषा' नाम रखा गया है वह अन्वर्थ और उचित ही है।

पाश्चात्यतर्क—

पाश्चात्य दर्शनों में न्यायशास्त्र अथवा तर्कशास्त्र के लिए 'लाजिक' शब्द का प्रयोग होता है। यह लाजिक शब्द यूनानी भाषा की मूल 'लोगस' धातु से बना है। इस लोगस धातु का अर्थ विचार तथा वाणी दोनों हैं। इसलिए विचार तथा वाणी से सम्बन्ध रखने वाली अर्थात् वाणी द्वारा विचारों को अभिव्यक्त करने की शैली तथा नियमों का निर्धारण करने वाली विद्या का नाम लाजिक अथवा तर्कशास्त्र है। हमारे यहाँ न्याय शास्त्र के आदि प्रवर्तक महर्षि 'अक्षपाद गौतम' माने जाते हैं। इसी प्रकार पश्चिमी तर्कशास्त्र के प्रवर्तक यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक 'अरस्तू' माने जाते हैं। ये अरस्तू महोदय सुप्रसिद्ध यूनानी सम्राट् सिकन्दर, जिसने ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व भारत पर आक्रमण किया था, के गुरु थे। उनके तर्कशास्त्र में और अपने न्यायशास्त्र में अनेक भेद होते हुए कुछ समानताएं भी पाई जाती हैं। जैसे वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात पदार्थों के स्थान पर अरस्तू ने १ द्रव्य [सब्स्टैन्स], २ गुण [क्वालिटी], ३ कर्म [एक्शन], ४ समवाय [रिलेशन], ५ परिमाण [क्वान्टिटी], ६ काल [टाइम], ७ देश [स्पेस], ८ क्रियाभाव या नैष्कर्म्य [पैशन], ९ अधिकारसम्बन्ध [पजैशन] और १० स्थिति [सिचुएशन] रूप दस पदार्थों को माना है, जिन्हें कैटागरीज़ [Categories] कहते हैं। मीमांसकों के समान उन्होंने अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन ये तीन ही अवयव माने हैं।

नवीन तथा प्राचीन शैली का भेद—

न्याय, वेदान्त, व्याकरण आदि शास्त्रों में नव्य तथा प्राचीन नाम से दो प्रकार का साहित्य पाया जाता है। नव्य न्याय और प्राचीन न्याय, नव्य,

1. Substance, 2. Quality, 3. Action, 4. Relation, 5. Quantity, 6. Time, 7. Space, 8. Passion, 9. Possession, 10. Situation.

व्याकरण और प्राचीन व्याकरण, नवीन वेदान्त और प्राचीन वेदान्त आदि शब्दों का प्रयोग बहुधा होता है परन्तु इस नव्य और प्राचीन का भेद किस आधार पर किया जाय यह कहीं निर्दिष्ट नहीं किया गया है। इसलिए बहुधा लोग कालक्रम को ही इस नवीनता और प्राचीनता का भेदक मानते हैं। अर्थात् जो अधिक प्राचीन समय में लिखा गया वह प्राचीन और जो अपेक्षाकृत बाद में या आजकल लिखा गया उसको नवीन कहते हैं। परन्तु यह व्यवस्था ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें काल की कोई ऐसी सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है कि अमुक संवत् के पूर्व का लिखा साहित्य प्राचीन समझा जावे और उसके बाद का लिखा साहित्य नवीन समझा जावे। हमारे मत में नवीन और प्राचीन का यह भेद कालकृत नहीं अपितु प्रकारकृत हैं। इन सभी शास्त्रों में जिनमें नवीन और प्राचीन का व्यवहार होता है दो प्रकार की रचनाएँ पाई जाती हैं। न्याय, वेदान्त अथवा व्याकरण आदि शास्त्रों के आदि ग्रन्थों का निर्माण सूत्ररूप में हुआ था। न्याय दर्शन के मूल आधार अक्षपाद गौतम के न्यायसूत्र हैं। वेदान्त दर्शन का मूल आधार बादरायण व्यासकृत वेदान्तसूत्र है। इसी प्रकार व्याकरण का मूल आधार पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के सूत्र हैं। इस प्रकार इन सब के मूल ग्रन्थ सूत्ररूप में हैं। आगे इन विषयों पर जो ग्रन्थ लिखे गए उनमें दो प्रकार की पद्धति का अवलम्बन किया गया है। एक पद्धति के ग्रन्थकारों ने सूत्रकम का अवलम्बन करके उनकी व्याख्या में ही अपने ग्रन्थ लिखे। जैसे व्याकरण में 'काशिका', 'महाभाष्य' आदि, न्याय में 'वात्स्यायन भाष्य' 'न्याय वार्तिक' आदि, वेदान्त में शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य आदिकृत भाष्य। ये सब सूत्र क्रम का अनुसरण करके ही लिखे गए हैं। इस सूत्रक्रमानुसारिणी पद्धति को हम प्राचीन पद्धति कहना चाहते हैं। इन विषयों में दूसरी पद्धति के ग्रन्थ इस प्रकार के हैं जिनमें सूत्रक्रम का ध्यान न रख कर उस शास्त्र के विषय को स्वतन्त्र रूप से लिखा गया है। जैसे व्याकरण में 'सिद्धान्तकौमुदी', न्याय में 'तर्कभाषा' 'मुक्तावली' आदि वेदान्त में अद्वैत-सिद्धि', 'चित्सुखी' आदि। यह ग्रन्थ यद्यपि मूलग्रन्थों के विषय का ही प्रतिपादन करते हैं परन्तु उनमें मूलग्रन्थों के सूत्रक्रम का अवलम्बन नहीं किया गया है। इस पद्धति को नव्यशैली कहना चाहिये। इस दृष्टि से प्राचीनकाल में भी लिखे गए 'सिद्धान्तकौमुदी' आदि ग्रन्थ नव्य व्याकरण के और आधुनिक काल में भी सूत्रक्रम के अनुसार लिखे जाने वाले यह ग्रन्थ प्राचीन व्याकरण के अन्तर्गत

समझने चाहिये । हमने अपने 'दर्शनमीमांसा' नामक ग्रन्थ में इस भेद का निरूपण इस प्रकार किया है :—

"द्वैधं दर्शनसाहित्यं नूतनप्रत्नभेदतः ।
प्रत्नं सूत्रक्रमापेक्षि, तदुपेक्षि च नूतनत् ॥
सूत्रवार्तिकभाष्यादि, क्वचिट्टीकापरम्परा ।
प्रत्नं दर्शनसाहित्यं नूतनं च तथेतरत् ॥
सूत्रक्रमं परित्यज्य स्वतन्त्रैर्विबुधैस्ततः ।
ग्रन्था येऽत्र कृतास्ते तु साहित्ये नूतने मताः ॥
नूतनप्रत्नभेदोऽयं न कालापेक्षिको मतः ।
अङ्गीकृतोऽसौ सर्वत्र भङ्गीभेदात्तु केवलम्"[1] ॥

इस लक्षण के अनुसार तर्कभाषा नवीन शैली का अवलम्बन करके लिखी गई है अतएव उसकी गणना 'नव्यन्याय' के साहित्य में की जानी चाहिए ।

दो प्रकार के 'प्रकरण' ग्रन्थ—

नव्य शैली में सभी शास्त्रों में कुछ इस प्रकार के ग्रन्थ पाए जाते हैं जो उस-उस शास्त्र के केवल एक देश का प्रतिपादन करते हैं, अर्थात् शास्त्र के सम्पूर्ण विषय का प्रतिपादन नहीं करते हैं । ऐसे ग्रन्थों को 'प्रकरण ग्रन्थ' कहा जाता है । प्रकरण ग्रन्थ का लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् ।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः[2] ॥

तर्कभाषा में न्याय के मुख्य मुख्य पदार्थों का प्रतिपादन किया है उनके समस्त विषयों का पूर्ण रूप से वर्णन नहीं किया गया है अतएव इसको न्याय का 'प्रकरण ग्रन्थ' कहना ही उचित है । तर्कभाषा के अतिरिक्त अन्नंभट्ट का 'तर्कसंग्रह' विश्वनाथ की 'न्यायमुक्तावली' जगदीश तर्कालङ्कार का 'तर्कामृत', लौगाक्षि भास्कर की 'तर्ककौमुदी' आदि अन्य अनेक प्रकरण ग्रन्थ भी न्याय में लिखे गए हैं । इन प्रकरण ग्रन्थों में प्रायः न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शनों के पदार्थों का सम्मिलित रूप से वर्णन किया गया है । परन्तु उनमें से कुछ ग्रन्थों में न्याय को प्रधान और वैशेषिक को गौण और दूसरों में वैशेषिक को

१ दर्शनमीमांसा, अ० १। २ पाराशर उपपुराण अ० २८, २१ ।

प्रधान आधार बना कर न्याय के पदार्थों का गौण रूप से विवेचन किया गया है। न्याय में प्रमाणादि सोलह पदार्थों का वर्णन है और वैशेषिक में द्रव्यादि छः पदार्थों का। न्यायप्रधान प्रकरण ग्रन्थों में न्याय के प्रमाणादि सोलह पदार्थों का मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है। उनमें से प्रमेय नामक द्वितीय पदार्थ के अन्तर्गत 'अर्थ' नामक प्रमेय में वैशेषिक में प्रतिपादित द्रव्यादि छः पदार्थों का अन्तर्भाव करके उनका वर्णन किया है। तर्कभाषा में इसी पद्धति का अवलम्बन किया है। अतएव वह न्यायप्रधान प्रकरण ग्रन्थ है। इसके विपरीत 'तर्कसंग्रह' 'न्यायमुक्तावली' आदि में वैशेषिक के द्रव्यादि पदार्थों का मुख्य रूप से वर्णन किया गया है। और उसमें गुण नामक द्वितीय पदार्थ के अन्तर्गत 'बुद्धि' नामक पदार्थ में न्याय के प्रमाणादि पदार्थों का अन्तर्भाव करके वर्णन किया गया है। अतएव वह वैशेषिकप्रधान प्रकरण ग्रंथ है। हमने अपनी 'दर्शनमीमांसा'[1] में इस विषय का प्रतिपादन इस प्रकार किया है :—

"ग्रन्थाश्च प्रकरणाख्या नव्याः सन्ति तथाविधाः।
न्यायकाणादयोस्तत्त्वं यत्रैकत्रैव वर्ण्यते॥
क्वचित् पदार्था न्यायस्य, क्वचिद् वैशेषिकस्य च।
वर्णिता मुख्यतस्तेषु तथान्तर्भाविताः परे॥
षट्पदार्थान् कणादस्यैवान्तर्भाव्य प्रमेयके।
न्यायस्यार्थान् समालम्ब्य वर्णनं चैषु दृश्यते॥
वरदराजस्तार्किकरक्षां चक्रे तथाविधाम्।
कृता केशवमिश्रेण तर्कभाषा च तद्विधा॥
न्यायात् प्रमाणमादाय षट्पदार्थान् कणादतः।
अन्नंभट्टेन संगृह्य रचितस्तर्कसंग्रहः॥
न्यायलीलावतीं चैव चकार वल्लभस्तथा।
तर्कालङ्कारः कृतवान् जगदीशस्तर्कामृतम्॥
अथ भाषापरिच्छेदं न्यायमुक्तावलीं तथा।
न्यायपञ्चाननश्चक्रे विश्वनाथाभिधः सुधीः॥
लौगाक्षिभास्करेणाथ रचिता तर्ककौमुदी।
प्रकरणग्रन्थश्रेण्यामस्यामायाति च ध्रुवम्"॥

1 दर्शनमीमांसा अ० ३।

'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' ।[1]

इति न्यायस्यादिमं सूत्रम् ।

अस्यार्थः । प्रमाणादिषोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानान्मोक्षप्राप्तिर्भवतीति । न च प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तावद्भवति यावदेषामुद्देशलक्षण-परीक्षा न क्रियन्ते । यदाह भाष्यकारः—

'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति' ।[2]

उद्देशस्तु नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनम् । तच्चास्मिन्नेव सूत्रे कृतम् । लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम् । यथा गोः सास्नादिमत्त्वम् । लक्षितस्य

इस प्रकार प्रस्तुत तर्कभाषा नव्यन्याय का न्यायप्रधान प्रकरण ग्रन्थ है । अतएव ग्रन्थकार ने प्रमाण-प्रमेयादि न्याय के प्रथम सूत्र को उद्धृत करते हुए अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार किया है :—

१ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धान्त, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वाभास, १४ छल, १५ जाति, १६ निग्रहस्थानों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है ।

यह न्याय [दर्शन] का प्रथम सूत्र है ।

इसका अर्थ [यह है] प्रमाणादि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

और प्रमाणादि [सोलह पदार्थों] का तत्त्वज्ञान [अर्थात्] यथार्थज्ञान तब तक नहीं हो सकता है जब तक इनके १ उद्देश, २ लक्षण और ३ परीक्षा न किए जायँ । जैसा कि [न्याय दर्शन के] भाष्यकार [वात्स्यायन] ने कहा है [कि] इस [न्याय] शास्त्र की तीन प्रकार से प्रवृत्ति होती है । १ उद्देश, २ लक्षण और ३ परीक्षा ।

उनमें से नाममात्र से वस्तु का कथन उद्देश [कहा जाता] है । और वह [उद्देश] इसी [प्रमाणप्रमेयादिरूप प्रथम] सूत्र में कर दिया है । २ असाधारण कर्म का कथन लक्षण [कहलाता] है । जैसे गौ का 'सास्नादिमत्त्व' [गाय के गले के नीचे जो खाल लटकती रहती है उसको सास्ना या गलकम्बल कहते हैं । सास्ना

---

१ गौ० न्या० सू० १-१-१ । २ न्या. सू. वा. भा. १-१-२

लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा। तेनैते लक्षणपरीक्षे प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानार्थं कर्तव्ये।

गौ के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी के नहीं होती। अतएव यह गौ का असाधारण धर्म या लक्षण है। ३ जिसका लक्षण किया गया है वह उसका ठीक लक्षण है या नहीं इस विचार का नाम परीक्षा है। इसलिए [उद्देश के प्रथम सूत्र में ही हो जाने के बाद अब शेष ग्रन्थ में] प्रमाणादि के तत्त्वज्ञान के लिए [उनकी] यह लक्षण और परीक्षा करनी चाहिए।

शास्त्र-प्रवृत्ति के भेद—

यहाँ ग्रन्थकार ने 'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति' इस वात्स्यायन भाष्य को उद्धृत करते हुए न्याय शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति का वर्णन किया है। इस त्रिविध प्रवृत्ति का प्रतिपादन सर्वप्रथम भाष्यकार वात्स्यायन ने ही किया है। और वह मुख्यतः न्याय शास्त्र में ही लागू होता है। अन्य सब शास्त्रों में लागू नहीं होता। न्याय के 'समान-तंत्र' कहलाने वाले वैशेषिक में भी त्रिविध नहीं अपितु परीक्षा को छोड़ कर केवल उद्देश और लक्षण रूप द्विविध प्रवृत्ति का ही वर्णन है। और कहीं कहीं अत्यन्त श्रद्धाप्रधान [बौद्ध-जैनादिकों के धर्मसंग्रह आदि] ग्रंथों में केवल उद्देश रूप एकविध प्रवृत्ति भी पायी जाती है। द्विविध प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य पर 'कन्दली' टीका के लेखक श्रीधराचार्य लिखते हैं—

"अनुद्दिष्टेषु पदार्थेषु न तेषां लक्षणानि प्रवर्तन्ते निर्विषयत्वात्। अलक्षितेषु च तत्त्वप्रतीत्यभावः कारणाभावात्। अतः पदार्थव्युत्पादनाय प्रवृत्तस्य शास्त्रस्योभयथा प्रवृत्तिः। उद्देशो लक्षणं च। परीक्षायास्तु न नियमः।

यत्राभिहिते लक्षणे प्रवादान्तरव्याक्षेपात् तत्त्वनिश्चयो न भवति तत्र परपक्षव्युदासार्थं परीक्षाविधिरधिक्रियते। यत्र तु लक्षणाभिधानसामर्थ्यादेव तत्त्वनिश्चयः स्यात् तत्रायं व्यर्थो नार्थ्यते। योऽपि त्रिविधां शास्त्रस्य प्रवृत्तिमिच्छति तस्यापि प्रयोजनादीनां नास्ति परीक्षा। तत् कस्य हेतोर्लक्षणमात्रादेव ते प्रतीयन्त इति। एवं चेदर्थप्रतीत्यनुरोधात् शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्न त्रिविधैव। नामधेयेन पदार्थानामभिधानमुद्देशः। उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्तको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणं विचारः परीक्षा"[1]।

---

[1] 'न्यायकन्दली' पृष्ठ २६।

इसका अभिप्राय यह है कि, 'पदार्थों का उद्देश [नाममात्र से कथन] न करने पर उनके लक्षण नहीं हो सकते हैं क्योंकि लक्षण का कोई विषय उपस्थित नहीं है जिसका लक्षण किया जाय। [अतएव उद्देश करना आवश्यक है] यदि पदार्थों के लक्षण न किए जायँ तो [तत्त्वज्ञान का] कारण न होने से तत्त्वज्ञान नहीं होगा। इसलिए पदार्थ बोधन के लिए प्रवृत्त शास्त्र के उद्देश और लक्षण रूप दोनों प्रकार की प्रवृत्ति आवश्यक है। परन्तु परीक्षा का कोई नियम नहीं है।"

"जहाँ लक्षण कर देने पर भी दूसरे मतों के आक्षेप के कारण तत्त्वनिर्णय नहीं हो पाता है वहाँ परपक्ष के खण्डन के लिये परीक्षा विधि का अवलम्बन किया जाता है। और जहाँ लक्षण कथन मात्र से ही तत्त्व का निश्चय हो जाता है वहाँ परीक्षा विधि के व्यर्थ होने से उसका अवलम्बन नहीं किया जाता। और जो [भाष्यकार वात्स्यायन] त्रिविध शास्त्र-प्रवृत्ति मानते हैं उनके यहाँ भी प्रयोजन आदि की परीक्षा नहीं की गई है। यह क्यों है? इसलिए कि लक्षण-मात्र से ही उनकी प्रतीति हो जाती है। जब ऐसा है तब अर्थ की प्रतीति के अनुसार प्रवृत्ति होती है न कि तीन ही प्रकार की यह कहना चाहिए"।

इस प्रकार न्याय के भाष्यकार वात्स्यायन ने त्रिविध प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया है और वैशेषिक दर्शन के टीकाकार श्रीधराचार्य ने द्विविध प्रवृत्ति का वर्णन किया है। इसका कारण यह है कि न्याय दर्शन के अधिकांश विषयों के विवेचन में सूत्रकार ने ही परीक्षा विधि का भी अवलम्बन किया है। प्रयोजन आदि के वर्णन में यद्यपि परीक्षा विधि का प्रयोग न्यायसूत्रों में नहीं मिलता है फिर भी अधिकांश भाग में परीक्षा भी पाई जाती है इसलिए न्याय के भाष्यकार ने सामान्यरूप से त्रिविध प्रवृत्ति का वर्णन किया है। इसके विपरीत वैशेषिक दर्शन में सूत्रकार ने परीक्षा विधि का अवलम्बन नहीं किया है। केवल उद्देश और लक्षण ही अधिकतर किए गए हैं। अतएव वैशेषिक दर्शन के टीकाकार श्रीधराचार्य ने परीक्षा को छोड़ कर केवल द्विविध शास्त्र प्रवृत्ति का वर्णन किया है।

विभाग—

न्याय की इस त्रिविध प्रवृत्ति के अतिरिक्त 'न्यायवार्तिककार' श्री उद्योतकराचार्य तथा 'न्यायमञ्जरीकार' जयन्त भट्ट ने शास्त्र-प्रवृत्ति के चतुर्थ प्रकार 'विभाग' का प्रश्न उठाकर और अन्त में उसका उद्देश में ही समावेश दिखा कर त्रिविध प्रवृत्ति का ही समर्थन किया है: उन्होंने लिखा है:—

'त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्युक्तम् । उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधायां शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवति । तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्तः । न; उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात् । कस्मात् ? लक्षणसामान्यात् । समानं लक्षणं नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देश इति''[1] ।

अर्थात् शास्त्र की त्रिविध प्रवृत्ति होती है यह कहा गया है परन्तु उस त्रिविध प्रवृत्ति में उद्दिष्ट के 'विभाग' का अन्तर्भाव नहीं होता है इसलिए उद्दिष्ट के 'विभाग' को भी चौथा प्रकार मानना उचित है । [यह प्रश्न है इसका उत्तर करते हैं] नहीं, उद्दिष्ट के विभाग का अन्तर्भाव उद्देश में ही हो जाता है । क्योंकि दोनों का लक्षण समान है । नाममात्र से पदार्थों के कथन को ही उद्देश कहते हैं और 'विभाग' में विभक्त पदार्थों के नाममात्र का कथन ही होता है अतः विभाग का अन्तर्भाव उद्देश में ही हो सकता है । अतः उसके अलग परिगणन की आवश्यकता नहीं है ।

लक्षण का लक्षण—

इन तीनों विभागों में से उद्देश और परीक्षा का लक्षण सीधा है । और जो यहां ग्रन्थकार ने दिया है वही 'वात्स्यायन भाष्य' और 'न्यायकन्दली' आदि अन्य ग्रन्थों में भी दिया है । परन्तु 'लक्षण' का 'लक्षण' थोड़ा समझने योग्य है । यहाँ तर्कभाषाकार ने 'लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्' । अर्थात् असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं । जैसे गौ का लक्षण सास्नादिमत्त्व है । यह लक्षण की व्याख्या की है । असाधारण धर्म या विशेष धर्म वह कहलाता है । जो केवल लक्ष्य [जैसे गौ] में रहे । जो धर्म लक्ष्य से भिन्न अलक्ष्य महिष आदि में भी पाया जाय वह लक्षण नहीं कहलाता है क्योंकि उसमें 'अतिव्याप्ति' दोष होता है । 'अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः' जो धर्म अलक्ष्य अर्थात् लक्ष्य से भिन्न में रहे वह 'अतिव्याप्ति' दोषग्रस्त होने से लक्षण नहीं होता । जैसे शृङ्गित्व सींग होनेको गौ का लक्षण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि लक्ष्य गौ से भिन्न अर्थात् अलक्ष्य महिषादि में भी शृङ्गित्व धर्म पाया जाता है । अर्थात् सींग भैंस आदि के भी होते हैं, इसलिए 'शृङ्गित्व' गौ का लक्षण नहीं है ।

इसी प्रकार 'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः' जो धर्म लक्ष्य के एक अंश में न पाया जाय वह 'अव्याप्ति' दोष ग्रस्त होने से लक्षण नहीं कहा जाता । जैसे

[1] न्या० वा० १, १, ३, । न्यायमञ्जरी पृ० १२ ।

'शाबलेयत्व' अर्थात् चितकबरापन गाय का लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि लक्ष्य-गौ के एक बहुत बड़े भाग में अर्थात् बहुत सी गौओं में यह 'शाबलेयत्व' या चितकबरापन नहीं पाया जाता है। अतएव यह 'शाबलेयत्व' धर्म 'अव्याप्ति' दोषग्रस्त होने से गौ का लक्षण नहीं हो सकता है।

तीसरा दोष असम्भव है। 'लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः' अर्थात् जो धर्म लक्ष्यमात्र में न पाया जाय वह असम्भव दोष कहलाता है। जैसे 'एकशफत्व' असम्भवदोषग्रस्त होने से गौ का लक्षण नहीं हो सकता है। गौ द्विशफ प्राणी है अर्थात् उसके खुर बीच से चिरे हुए होने से दो शफ (खुर) होते हैं। ऊंट का पूरा खुर एक होता है जिससे उसे रेत में चलने में सहायता मिलती है। इसलिए ऊंट एकशफ एक खुर वाला प्राणी है। परन्तु गौ एकशफ नहीं अपितु द्विशफ प्राणी है। अतएव यदि कोई एकशफत्व को गौ का लक्षण बनाना चाहे तो यह लक्षण एक भी गौ में नहीं मिलेगा। लक्ष्यमात्र सारी गौओं में अविद्यमान होगा। अतएव वह गौ का लक्षण नहीं हो सकता। इस प्रकार १ 'अतिव्याप्ति' [अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः] २ अव्याप्ति [लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः] और ३ असम्भव [लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः] इन तीनों दोषों से रहित धर्म ही लक्षण होता है। ऐसे धर्म को ही असाधारण धर्म या 'लक्ष्यतावच्छेदकसमानियत' धर्म भी कहते हैं। इसलिए 'अतिव्याप्त्यादिदोषत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्' या 'लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतो धर्मो लक्षणम्।' अथवा 'असाधारणधर्मवचनम् लक्षणम्' यह तीनों ही 'लक्षण' के 'लक्षण' हो सकते हैं।

लक्षण का प्रयोजन—

लक्षण के दो प्रयोजन माने गए हैं एक व्यावृत्ति अर्थात् सजातीय या विजातीय अन्य पदार्थों से भेद करना और दूसरा व्यवहार को प्रवृत्त करना। 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्'। गौ का लक्षण करने का अभिप्राय उसके समानजातीय महिषादि चतुष्पद और उसके असमानजातीय चतुष्पद भिन्न प्राणी, तथा अचेतन पदार्थों से उसको भिन्न करना ही होता है। इसीको 'समानासमानजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः' कह कर लक्षणका प्रयोजन बताया है। यही धर्म या लक्षण गौ व्यवहार का प्रवर्तक होता है। इसलिये व्यवहार भी लक्षण का प्रयोजन है। इस प्रकार लक्षण के द्विविध प्रयोजन माने गए हैं।

प्रमाणलक्षण—

प्रथम सूत्र में न्याय शास्त्र के प्रतिपाद्य प्रमाणादि षोडश पदार्थों का

१—प्रमाणानि

प्रमाणम्

तत्रापि प्रथमसमुद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमुच्यते। प्रमाकरणं प्रमाणम्। अत्र च प्रमाणं लक्ष्यं, प्रमाकरणं लक्षणम्।

ननु प्रमायाः करणं चेत् प्रमाणं तर्हि तस्य फलं वक्तव्यम्, करणस्य फलवत्त्वनियमात्। सत्यम्। प्रमैव फलं, साध्यमित्यर्थः। यथा छिदाकरणस्य परशोश्छिदैव फलम्।

उद्देश अर्थात् नाममात्र से परिगणन कर दिया गया है। अब शेष ग्रन्थ में उनके लक्षण और परीक्षा करनी हैं। उद्देश सूत्र में सबसे पहिले प्रमाण को रखा है अतएव उसी क्रम से सबसे पहिले प्रमाण का लक्षण करते हैं। यद्यपि न्यायसूत्रकार ने प्रमाण सामान्य का लक्षणसूचक कोई सूत्र नहीं लिखा है परन्तु उनके भाष्यकार वात्स्यायन ने—'प्रमाण शब्द का निर्वचन ही उसका लक्षण है अतएव सूत्रकार को उसका अलग लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है'। इस प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए लिखा है—

'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद्बोद्धव्यम्। प्रमीयते अनेन इति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः'[1]।

इसका अभिप्राय यह है कि प्र उपसर्ग पूर्वक मा धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय करने से प्रमाण शब्द सिद्ध होता है अतएव प्रमा का करण अर्थात् साधन प्रमाण कहलाता है। यह प्रमाण का सामान्य लक्षण प्रमाण पद के निर्वचन से ही निकल आता है। अतएव उपलब्धि अर्थात् ज्ञान अथवा प्रमा के साधन अर्थात् करण को प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण का सामान्य लक्षण हुआ। इसी भाष्य के आधार पर तर्कभाषाकार प्रमाण लक्षण का सामान्य लक्षण करते हैं—

उन [षोडश पदार्थों] में भी प्रथम उद्दिष्ट [सबसे पहिले कहे हुए] प्रमाण का लक्षण सबसे पहिले कहते हैं। प्रमा का करण प्रमाण है। इस [लक्षण] में प्रमाण यह [पद] लक्ष्य [पद, अर्थात् जिसका लक्षण करना है वह] है और प्रमा का करण यह लक्षण [अंश] है।

[प्रश्न] अच्छा यदि प्रमा का करण [अर्थात् साधन] प्रमाण है तो उस [साधन रूप प्रमाण] का फल बतलाना चाहिये [क्योंकि] करण [अर्थात् साधन] का फल होना आवश्यक है।

---

१ न्याय भाष्य १, १, ३।

प्रमा

का पुनः प्रमा, यस्याः करणं प्रमाणम् ।

उच्यते । यथार्थानुभवः प्रमा । यथार्थ इत्ययथार्थानां संशय-विपर्यय-तर्कज्ञानानां निरासः । अनुभव इति स्मृतेर्निरासः ।

ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः । अनुभवो नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम् ।

[उत्तर] ठीक है [अर्थात् करण का फल अवश्य होता है । इसलिये] प्रमा ही [प्रमाणरूप करण या साधन का] फल अर्थात् साध्य है । [जिसका साधन होता है वही उसका फल होता है प्रमा का करण या साधन प्रमाण है तो उसका फल प्रमा ही होगी] जैसे छेदन [काटने] के करण फरसे का फल छेदन ही होता है । [इसी प्रकार यहां प्रमा के करण अर्थात् प्रमाण का फल प्रमा ही समझना चाहिए]

इस प्रकार प्रमाण का सामान्य लक्षण हुआ । परन्तु इस लक्षण में प्रमा और करण दो शब्द आए जब तक उनकी व्याख्या न हो तब तक यह लक्षण स्पष्ट नहीं होता । अतएव आगे प्रमा का लक्षण करते हैं ।

[प्रश्न] फिर प्रमा क्या है जिसका करण प्रमाण [कहा जाता] है ।

[उत्तर] कहते हैं । यथार्थ अनुभव [का नाम] प्रमा है । यथार्थ पद से अयथार्थ [ज्ञान रूप] संशय, विपर्यय, और तर्क ज्ञान का निराकरण किया [जिससे संशय-विपर्यय और तर्क ज्ञान में प्रमा का लक्षण न चला जाय] । अनुभव इस [पद] से स्मृति का निराकरण किया [अर्थात् अनुभव पद इस लिए रखा कि स्मृति में प्रमा का लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय] ।

[ज्ञान के दो भेद हैं एक अनुभव और दूसरा स्मृति । उनमें से] ज्ञात-विषयक ज्ञान को स्मृति कहते हैं और स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं ।

पदकृत्य—

'प्रमाकरणं प्रमाणम्' यह प्रमाण का सामान्य लक्षण किया था । उसके स्पष्टीकरण के लिए 'प्रमा' का लक्षण करना आवश्यक है अतएव 'यथार्थानुभवः प्रमा' यह 'प्रमा' का लक्षण किया है । इस लक्षण में भी 'प्रमा' यह पद लक्ष्य अंश है और 'यथार्थानुभवः' इतना लक्षण अंश है । लक्षण अंश में यथार्थ और अनुभव इन दो पदों का समावेश है । लक्षण में ये दोनों पद विशेष अभिप्राय से रखे गए हैं । ऊपर अतिव्याप्ति आदि लक्षण के दोषों का वर्णन किया है । इन पदों के रखने का प्रयोजन अतिव्याप्ति दोष का निराकरण करना

ही है। किस पद के रखने का क्या प्रयोजन है इसके जानने का सीधा मार्ग यह है कि उस पद को लक्षण से हटा दिया जाय और तब उसका क्या प्रभाव होता है इसको देखा जाय तब उस पद के रखने की उपयोगिता प्रतीत हो जावेगी। जैसे यहाँ यदि यथार्थ पद को हटा दिया जाय तो 'अनुभवः प्रमा' केवल इतना लक्षण रह जाता है। इस लक्षण के होने पर शुक्ति को रजत रूप में ग्रहण करने वाला 'भ्रम' या 'विपर्यय' ज्ञान भी अनुभव रूप होने से 'प्रमा' कहलाने लगेगा। अथवा अँधेरे में किसी ऊँचे से पेड़ के ठूंठ को खड़ा देख कर 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह संशयात्मक' ज्ञान भी अनुभव रूप होने से 'प्रमा' कहलाने लगेगा। इसी प्रकार तर्क ज्ञान में भी प्रमा का लक्षण चला जायगा। परन्तु संशय, विपर्यय और तर्क ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं हैं। उनको 'प्रमा' नहीं कहा जाता है। यदि 'अनुभवः प्रमा' इस लक्षण के साथ 'यथार्थ' पद जोड़ दिया जाय तो 'अयथार्थ' ज्ञान रूप 'संशय' 'विपर्यय' और 'तर्क' ज्ञान में प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए 'यथार्थ' पद का सन्निवेश 'प्रमा' के लक्षण में किया गया है।

इसी प्रकार स्मृति को भी प्रमा नहीं मानते हैं। अतएव स्मृति में प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति के निवारण के लिए अनुभव पद का निवेश इस लक्षण में किया गया है। लक्षणों में आए हुए पदों के इस प्रकार प्रयोजन-प्रदर्शन को 'पदकृत्य' कहते हैं। और इस प्रकार 'पदकृत्य' अर्थात् प्रत्येक पद के रखे जाने का प्रयोजन बताते हुए की गई व्याख्या को सपदकृत्य व्याख्या कहते हैं, 'सपदकृत्यं व्याख्यायताम्' कहने से इसी प्रकार पदकृत्य-सहित व्याख्या कराना ही अभिप्रेत होता है।

अप्रमा लक्षण—

जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप में ग्रहण करना यथार्थ ज्ञान अथवा 'प्रमा' कहलाता है। उससे भिन्न रूप में ग्रहण करना अयथार्थ ज्ञान या अप्रमा कहलाता है। इस अयथार्थ ज्ञानके संशय, विपर्यय और तर्कज्ञान ये तीन भेद यहाँ प्रदर्शित किए हैं। योगदर्शनमें 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्'[1] अर्थात् अतद्रूप में प्रतिष्ठित मिथ्या ज्ञान को विपर्यय कहते हैं यह विपर्यय का लक्षण किया है। जैसे शुक्ति को पड़ी देख कर कभी-कभी उसके 'चाकचिक्य' अर्थात् चमक आदि के कारण उसको रजत समझ लिया जाता है। ऐसी दशा में

१. योग, १,८

शुक्ति में जो रजत का ज्ञान होता है वह अतद्रूप अर्थात् अरजत रूप शुक्ति में प्रतिष्ठित होता है। अतएव अतद्रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण उसको मिथ्या ज्ञान अथवा विपर्यय कहते हैं और वह अयथार्थ ज्ञान होता है। नैयायिकों ने इसी अतद्रूपप्रतिष्ठ अर्थ का बोधन करने के लिये 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानमप्रमा' कहा है। जिसका अर्थ यह है कि 'तदभाववति अर्थात् रजतत्वाभाववति' जिसमें रजतत्व का अभाव हो उस शुक्ति आदि में तत्प्रकारक अर्थात् रजतत्वविशेषणक ज्ञानको अप्रमा कहते हैं। 'तत्प्रकारकम्'में प्रकार शब्द का अर्थ विशेषण होता है। 'तदभाववति अर्थात् रजतत्वाभाववति शुक्तिकादौ' रजतत्व से रहित शुक्तिका आदि में 'तत्प्रकारकम्' अर्थात् 'रजतत्वप्रकारकम्' जिसमें रजतत्व विशेषण रूप से प्रतीत हो अर्थात् 'इदं रजतम्' यह ज्ञान मिथ्या ज्ञान, विपर्यय, अप्रमा या भ्रम कहा जाता है।

संशय और तर्क का अप्रमात्व—

इस विपर्यय के अतिरिक्त संशय और तर्क ज्ञान को भी ग्रन्थकार ने अयथार्थ ज्ञान कहा है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ का एक निश्चित स्वरूप होता है। उस निश्चित रूप से जो उस पदार्थ का ग्रहण है वह तो उस का यथार्थ ज्ञान 'तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं यथार्थोऽनुभवः' है। परन्तु संशय में पदार्थ का निश्चयात्मक रूप से ग्रहण नहीं होता है। अतएव अनिश्चयात्मक संशय ज्ञान भी 'तदभाववति तत्प्रकारकम्' होने से अयथार्थ ज्ञान ही है।

तर्कज्ञान को भी ग्रन्थकार ने अयथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत माना है। इसका कारण यह है कि तर्क भी निश्चय से पूर्व की अनिश्चयावस्था का नाम है। तर्क का लक्षण न्याय सूत्र में 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थ-मूहस्तर्कः'[1]।

इस प्रकार किया गया है। इसके भाष्य में भाष्यकार ने लिखा है कि—

'कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थः, न तत्त्वज्ञानमेवेति। अनवधारणात्। अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या न त्ववधारयति, न व्यवस्यति, न निश्चिनोति एवमेवेदमिति'[2],

अर्थात् तर्क केवल एक पक्ष का समर्थन मात्र करता है उसका निश्चय नहीं करता है कि यह पदार्थ ऐसा ही है। अतएव अनवधारणात्मक या अनिश्चयात्मक

१. न्याय सूत्र १, १, ४०। २. वात्स्यायन भाष्य १, १, ४०।

होने से तर्क को यथार्थ ज्ञान नहीं कह सकते हैं। हाँ उससे तत्त्वज्ञान में सहायता मिलती है इसलिए सूत्रकार ने तर्क को 'तत्त्वज्ञानार्थः' तत्त्वज्ञान के लिए ऐसा कहा है तत्त्वज्ञान ही नहीं कहा है। इस प्रकार भाष्यकार के अनुसार तर्क भी अनवधारणात्मक, अनिश्चयात्मक ज्ञान है अतएव वह यथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत नहीं है। संशय और तर्क दोनों ज्ञान अनवधारणात्मक हैं परन्तु संशय अनुमान का प्रवर्तक होने से परम्परया और तर्क तत्त्वज्ञान में साक्षादुपयोगी है इसलिए संशय और तर्क एक नहीं हैं। इस प्रकार प्रमा का लक्षण करते समय संशय विपर्यय और तर्क ज्ञान में प्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण में यथार्थ पद का निवेश किया गया है।

ज्ञान के भेद—

ज्ञान के भी 'अनुभव' तथा 'स्मृति' भेद से दो भेद माने गये हैं। उनमें से ज्ञात विषयक ज्ञान को 'स्मृति' कहते हैं, और उससे भिन्न अर्थात् अज्ञात विषयक ज्ञान को 'अनुभव' कहते हैं। ज्ञात विषयक ज्ञान भी दो प्रकार का होता है जिनमें एक को 'स्मृति' और दूसरे को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। किसी वस्तु को जब हम देखते या किसी प्रकार से जानते हैं तब उस ज्ञान से हमारे आत्मा में एक संस्कार उत्पन्न हो जाता है। वस्तु का ज्ञान तो स्थिर नहीं रहता है परन्तु वह 'संस्कार' बराबर बना रहता है। और कालान्तर में जब किसी कारण से वह संस्कार उद्बुद्ध हो जाता है तब बिना बाह्य इन्द्रिय आदि की सहायता के उस पदार्थ का पुनः ज्ञान होने लगता है। इसी ज्ञान को 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति सदा 'ज्ञात विषय' की ही होती है। इसलिए 'ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण है। स्मृति का कारण सदा संस्कार का उद्बोध ही होता है इसलिए 'संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह भी स्मृति का दूसरा लक्षण हो सकता है। स्मृति को पैदा करने वाले संस्कार के उद्बोधक सादृश्यादि हैं। यथा 'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः'[1]। सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता आदि स्मृति के बीज अर्थात् संस्कार के उद्बोधक हैं। जिस पदार्थ को हम पहिले देख चुके हैं उनके सदृश पदार्थ को देखने पर उसकी स्मृति हो आती है कि ऐसा पदार्थ या व्यक्ति हमने वहाँ देखा था। यहाँ सादृश्य संस्कार का उद्बोधक होता है। कभी किसी बात को भूल जाने पर सोचने से उसका स्मरण हो आता है यहाँ चिन्ता या सोचना संस्कार का उद्बोधक और स्मृति का जनक है। और कभी अदृष्ट वश

१ तर्कभाषा संस्कार प्रकरण।

विना सादृश्यदर्शन या चिन्ता के भी संस्कार का उद्बोध और स्मृति की उत्पत्ति हो जाती है। जैसा कि महाकवि और प्रकाण्ड दार्शनिक श्रीहर्ष ने लिखा है—

'अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम्'[1]।

स्मृति और प्रत्यभिज्ञा—

ज्ञान का एक भेद और भी है जिसको 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण 'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा' यह किया गया है। अर्थात् 'तत्ता, और 'इदन्ता' दोनों को अवगाहन करने वाली प्रतीति 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है। तत्ता का अर्थ तद्देश और तत्काल सम्बन्ध अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बन्ध है। और 'इदन्ता' का अर्थ एतद्देश और एतत्कालसम्बन्ध है। जिसमें पूर्वदेश पूर्वकाल और वर्तमान देश वर्तमान काल दोनों की प्रतीति हो उस प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यह प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण है। यह वही देवदत्त है जिसे हमने काशी में देखा था। इसमें 'सः' पद 'तत्ता' अर्थात् पूर्वदेश पूर्वकाल सम्बन्ध का द्योतक और 'अयं' पद 'इदन्ता' अर्थात् एतद्देश एतत्काल सम्बन्ध अर्थात् वर्तमान देश और काल के सम्बन्ध का बोधक है अर्थात् 'सः' पद देवदत्त की पूर्वदृष्ट देश कालादि विशिष्ट अवस्था को और 'अयं' पद देवदत्त की वर्तमान देशकालादि विशिष्ट अवस्था को प्रकाशित करता है। इसमें 'तत्ता' रूप पूर्वदेश पूर्वकाल का द्योतक 'सः' अंश स्मरणात्मक है और उसकी उत्पत्ति पूर्वदर्शनजन्य संस्कार के उद्बोधन से होती है। इसके विपरीत 'अयं' पद से बोधित एतद्देश एतत्काल रूप 'इदन्ता' अंश प्रत्यक्षात्मक है, और उसकी उत्पत्ति इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होती है। इस प्रकार 'प्रत्यभिज्ञा' स्मृति और अनुभव उभयात्मक ज्ञान है। उसकी उत्पत्ति में संस्कार तथा इन्द्रिय सन्निकर्ष दोनों ही कारण हैं। वह एक अंश में ज्ञात-विषयक ज्ञान भी है अतएव उसमें स्मृति का 'ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः' यह लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है। इसलिये अन्य लोग 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः' यह स्मृति का लक्षण करते हैं। इसमें भी मात्र पद संस्कार और इन्द्रिय सन्निकर्ष दोनों से उत्पन्न होने वाले 'प्रत्यभिज्ञा' ज्ञान में स्मृति के लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए रखा गया है।

इस प्रकार ज्ञान के तीन भेद हुए एक 'अनुभव', दूसरा 'स्मृति' और तीसरा 'प्रत्यभिज्ञा'। इनमें से केवल 'यथार्थ अनुभव' को 'प्रमा' कहते

१ नैषध, १, १, ३९।

करणम्

किं पुनः करणम् ? साधकतमं करणम् । अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः ।

कारणम्

ननु साधकं कारणमिति पर्यायस्तदेव न ज्ञायते किन्तत्कारणमिति ।

उच्यते । यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत्कारणम् । यथा तन्तुवेमादिकं पटस्य कारणम् ।

है। और इस यथार्थ अनुभव के 'करण' को 'प्रमाण' कहते हैं। इस, यथार्थानुभवरूप प्रमा की उत्पत्ति ही प्रमाणरूप करण का साध्य या फल है। यह बात यहाँ तक कही। प्रमाण के 'प्रमाकरणम् प्रमाणं' इस लक्षण में 'प्रमा' पद आया है उसकी व्याख्या यहाँ तक हो गई, अब लक्षण का दूसरा पद 'करण' रह जाता है। इसलिये आगे 'करण' और उसके प्रसङ्ग से 'कारण' की व्याख्या करते हैं।

[प्रश्न] फिर करण किसको कहते हैं ?

[उत्तर] साधकतम को करण कहते हैं। अतिशयित साधक अर्थात् सर्वोत्कृष्ट कारण [साधकतम होने से करण कहलाता है।]

[प्रश्न] साधक और कारण तो पर्याय वाचक हैं। यही नहीं मालूम है कि वह कारण क्या है। [अर्थात् कारण किसको कहते हैं यही जब तक न मालूम हो तब तक साधकतम अर्थात् प्रकृष्ट कारणरूप कारण का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतएव कारण का लक्षण बतलाने की आवश्यकता है।]

[उत्तर] बताते हैं। जिसकी कार्य [अर्थात् उत्पन्न होने वाले घटादि पदार्थ] से पहिले सत्ता निश्चित हो और जो अन्यथासिद्ध न हो उसको कारण कहते हैं। जैसे तन्तु और वेमा [अर्थात् कपड़ा बुनने का साधनरूप दण्ड विशेष] आदि पट के कारण हैं।

यह कारण का सामान्य लक्षण किया। इस कारण के लक्षण में 'नियतः' और 'अनन्यथासिद्धश्च' ये दो विशेषण पद विशेष महत्त्व के हैं। इनको इस लक्षण में रखने का क्या प्रयोजन है इसके जानने का प्रकार यह है कि उनमें से एक एक पद को हटा देने से क्या हानि होती है यह देखा जाय। इस प्रकार के विचार को 'पदकृत्य' कहते हैं। कारण के 'यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतः' इस लक्षण में यदि 'नियतः' पद न रखा जाय और 'यस्य कार्यात् पूर्वभावः'

यद्यपि पटोत्पत्तौ दैवादागतस्य रासभादेः पूर्वभावो विद्यते, तथापि नासौ नियतः ।

केवल इतना लक्षण रखा जाय तो कुम्हार जब घड़ा बनाता है उस समय जो वस्तुएँ उपस्थित हों वे सभी घट के प्रति कारण कहलाने लगेंगी । जैसे यदि कोई देखने वाला पुरुष अथवा गर्दभ आदि कोई अन्य प्राणी वहाँ उपस्थित हो गया है तो घटोत्पत्ति के पूर्व उसकी भी सत्ता होने से उसमें कारण का लक्षण चला जायगा । अतएव उसके वारण करने के लिए 'नियतः' पद रखा है । दैवात् आये हुए रासभ [गदहा] आदि की पूर्वसत्ता तो है परन्तु वह नियत नहीं है । अर्थात् जब जब घड़ा बने तब तब रासभ आदि अवश्य उपस्थित हों यह आवश्यक नहीं है । इसलिए रासभ आदि में कारण का लक्षण नहीं जायगा । और तन्तु वेमा आदि का पूर्व भाव नियत है अर्थात् जब पट की उत्पत्ति होगी उसके पूर्व तन्तु वेमादिक की उपस्थिति अवश्य होगी । इसलिए नियत पूर्व भावी होने से तन्तु वेमादिक पट के कारण कहलाते हैं । परन्तु रासभादि 'पूर्व भावी' होते हुए भी 'नियत पूर्वभावी' न होने से कारण नहीं कहलाते हैं । यही बात आगे कहते हैं ।

यद्यपि पट की उत्पत्ति [के समय] में दैवात् आए हुए रासभ [गदहा] आदि का पूर्वभाव [हो सकता] है, फिर भी वह निश्चित् नहीं है । [अर्थात् जब जब कपड़ा बने तब रासभ की उपस्थिति अवश्य हो यह बात अनिवार्य नहीं है । इसलिए रासभादि में कारण का लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता]

तन्तु तो पट का कारण है ही । तब जहाँ तन्तु रहेगा वहाँ उसका रूप भी रहेगा । इसलिए जैसे तन्तु पट के प्रति कारण है इसी प्रकार नियत पूर्व भावी होने से तन्तुरूप भी पट के प्रति कारण हो सकता है, यह शङ्का उत्पन्न होती है । उसका समाधान यह किया है कि तन्तुरूप पट के प्रति नहीं अपितु पट के रूप के प्रति कारण है, पट के प्रति तो वह 'अन्यथासिद्ध' होने से कारण नहीं है । क्योंकि कारण के लक्षण में 'अनन्यथासिद्ध' विशेषण भी रखा गया है । उसका अभिप्राय यह है कि जो नियत पूर्वभावी होने पर 'अन्यथासिद्ध' न हो उसको कारण कहते हैं । तन्तुरूप पटरूप के प्रति, तो कारण है परन्तु पट के प्रति कारण नहीं है । क्योंकि पटरूप के उत्पादन में ही तन्तु रूप का उपयोग समाप्त हो जाता है । अतः पट के प्रति वह 'अन्यथासिद्ध' होने से कारण नहीं है । यही आगे कहते हैं—

तन्तुरूपस्य तु नियतः पूर्वभावोऽस्त्येव किन्त्वन्यथासिद्धः पटरूपजननोपक्षीणत्वात्, पटं प्रत्यपि कारणत्वे कल्पनागौरवप्रसङ्गात्।

तेनानन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्। अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्।

तन्तुरूप का नियत पूर्वभाव तो है ही, किन्तु वह अन्यथासिद्ध [होने से पट के प्रति कारण नहीं हो सकता] है। पट के रूप के उत्पादन में ही उसकी [शक्ति या उपयोगिता की] समाप्ति हो जाती है। [इसलिए] पट के प्रति भी (तन्तु रूप के) कारणत्व [मानने] में कल्पना गौरव होने लगेगा। [इसलिए तन्तुरूप पटरूप के प्रति कारण नहीं है]

इसलिए 'अन्यथासिद्ध नियत पूर्वभावित्व' [यह] कारणत्व [अर्थात् कारण का लक्षण] है। और 'अनन्यथासिद्ध नियतपश्चाद्भावित्व' [ही] कार्यत्व [अर्थात् कार्य का लक्षण] है।

कारण के इस लक्षण में 'अनन्यथासिद्ध' पद विशेष महत्त्व का है। इसलिए उसको विशेष रूप से समझ लेना उपयोगी होगा। श्री विश्वनाथ ने न्याय मुक्तावली में पाँच प्रकार के अन्यथासिद्ध प्रतिपादित किए हैं—

येन[1] सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्॥
जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः॥
एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम्।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम्॥
तृतीयन्तु भवेद्व्योम, कुलालजनकोऽपरः।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ॥

१ 'येन सह पूर्वभावः' जिस धर्म के सहित कारण का कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत होता है वह धर्म कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध होता है। यह प्रथम अन्यथासिद्ध का लक्षण है। जैसे—दण्ड घट का कारण है। उसकी कारणता दण्डत्व धर्म विशिष्ट दण्ड में गृहीत होती है। अतएव दण्डत्व के साथ पूर्वभाव गृहीत होने से दण्डत्व घट के प्रति प्रथम प्रकार का अन्यथासिद्ध है।

२ 'कारणमादाय वा यस्य' यह द्वितीय अन्यथासिद्ध का लक्षण है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसका कार्य के साथ स्वतन्त्र रूप से अन्वय व्यतिरेक न

---

१ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली १९। २२।

हो, अपितु अपने कारण के द्वारा अन्वय व्यतिरेक हो वह अन्यथा सिद्ध कहाता है। जैसे—घट के प्रति दण्डरूप का स्वतः अन्वय व्यतिरेक नहीं है अपितु अपने कारण दण्ड के द्वारा अन्वय व्यतिरेक होता है। इसलिए दण्डरूप घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। यह अन्यथासिद्ध का दूसरा भेद हुआ।

३ 'अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम्'। यह तृतीय अन्यथासिद्ध का लक्षण है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी अन्य के प्रति पूर्वभाव ज्ञात होने पर ही जिसका कार्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत हो सके वह तृतीय अन्यथासिद्ध होता है। जैसे—आकाश घट के प्रति अन्यथासिद्ध है। आकाश प्रत्यक्ष नहीं है। उसकी सिद्धि शब्द के समवायि कारण के रूप में अनुमान द्वारा ही होती है। इसलिए अन्य अर्थात् शब्द के प्रति पूर्वभाव अर्थात् कारण के रूप में आकाश में सिद्ध होने पर ही उसकी घट के प्रति पूर्ववृत्तिता सम्भव हो सकती है। इसलिए आकाश, घटादि के प्रति तृतीय प्रकार का-अन्यथासिद्ध है।

४ 'जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते'। यह चतुर्थ अन्यथासिद्ध का लक्षण है। इसका आशय यह है कि कारण का जो कारण है वह चतुर्थ अन्यथासिद्ध होता है। जनक अर्थात् कारण के प्रति पूर्ववृत्तिता अर्थात् कारणत्व के विना जिसकी कार्य के प्रति पूर्ववृत्तिता गृहीत न हो। अर्थात् जो कारण का कारण है वह चतुर्थ अन्यथासिद्ध कहलाता है। जैसे कुम्भकार का पिता घट के प्रति अन्यथासिद्ध है।

५ 'अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः'। यह पञ्चम अन्यथासिद्ध का लक्षण है। इसका भाव यह है कि नियतावश्यक पूर्वभावी से अतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब पञ्चम अन्यथासिद्ध है। जैसे पटोत्पत्ति के प्रति दैवादागत रासभ। 'अनन्यथासिद्धिनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्' इस कारण लक्षण की व्याख्या करते समय नियत पद का प्रयोजन रासभ में अतिव्याप्ति वारण दिखाया था। वह रासभ पञ्चम प्रकार का अन्यथासिद्ध कहलाता है।

इस प्रकार 'मुक्तावलीकार' ने पाँच प्रकार के 'अन्यथासिद्ध' दिखलाये हैं। परन्तु इन सबों में 'पञ्चम' अन्यथासिद्ध ही सबसे मुख्य है। इसी लिये मुक्तावलीकार ने 'एतेष्वावश्यकस्त्वसौ' लिखकर उसकी महत्ता को सूचित किया है। इसी कारण तर्कभाषाकार ने इस पञ्चम अन्यथासिद्ध को उसके महत्वको ध्यान में रखते हुए, अन्य 'अन्यथासिद्धों' से अलग विशेषरूप से नियतपद से सूचित किया। अन्यथा 'अनन्यथासिद्धपूर्वभावित्वं कारणत्वम्' इतना ही कारण का लक्षण किया जा सकता

यत्तु कश्चिदाह कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणमिति, तदयुक्तम्। नित्यविभूनां व्योमादीनां कालतो देशतश्च व्यतिरेकासम्भवेनाकारणत्वप्रसङ्गात्।

था। उस लक्षण में नियत पद के रखने की आवश्यकता न थी। क्योंकि उसका काम अनन्यथासिद्ध पद से ही पूरा हो जाता। परन्तु उसके इस विशेष महत्त्व के कारण ही कारण के लक्षण में उसका समावेश किया गया है।

इस शैली का अवलम्बन भाष्यकार वात्स्यायन ने भी न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र की व्याख्या में किया है। न्याय के षोडश पदार्थों में से संशय दृष्टान्त आदि पदार्थों का अन्तर्भाव प्रमेय पदार्थ में ही हो सकता है। परन्तु न्यायशास्त्र की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व होने से सूत्रकार ने उसका पृथक् परिगणन किया है। भाष्यकार का लेख इस प्रकार है :—

'तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकं, संशयादयो हि यथासंभवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्ते इति।

'सत्यमेतत्, इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या। तस्याः, पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः। तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात्, यथोपनिषदः। तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते'[1]

इन पाँच प्रकार के अन्यथासिद्धों में तृतीय अन्यथासिद्ध का उदाहरण आकाश को बताया है। 'तृतीयन्तु भवेद् व्योम'। परन्तु यह उदाहरण ठीक नहीं है क्योंकि आकाश को कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण माना गया है। जैसा कि मूल ग्रन्थ की अगली ही पङ्क्ति में आता है। इसलिए आकाश को अन्यथासिद्ध का उदाहरण न बनाकर उसका कोई अन्य ही उदाहरण देना चाहिए था। मुक्तावलीकार का 'तृतीयं तु भवेद् व्योम' लिखकर आकाश को अन्यथासिद्ध बनाना उचित नहीं है, क्योंकि आकाश को अन्यथासिद्ध मान लेने पर ग्रन्थ की अगली पङ्क्ति का समन्वय नहीं हो सकेगा।

और जो किसी ने कहा है कि 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह कारण का लक्षण है वह अयुक्त है। क्योंकि वैसा कहने पर नित्य और विभु आकाश काल आदि पदार्थों का किसी काल या देश में व्यतिरेक [अभाव] सम्भव न होने

---

१. न्याय वा० भा० १, १, १।

से उनका अकारणत्व प्राप्त होने लगेगा । [अर्थात् 'यदि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह कारण का लक्षण किया जायगा तो नित्य और सर्वव्यापक आकाश आदि पदार्थों का किसी देश या किसी काल में अभाव सम्भव न होने से उनमें कारण का यह लक्षण नहीं जा सकेगा । इसलिए अव्याप्तिदोष ग्रस्त हो जाने से यह लक्षण ठीक नहीं है ।]

मीमांसक आदि 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह कारण का लक्षण करते हैं । इस लक्षण का अभिप्राय यह है कि 'कार्येण अनुकृतौ अन्वय-व्यतिरेकौ यस्य तत्कारणम्' अर्थात् कार्य जिसके अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करता है उसको कारण कहते हैं । इसमें अन्वय और व्यतिरेक का लक्षण 'तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः' और 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' किया जाता है। साधारणतः कारणता का निर्णय अन्वयव्यतिरेक से ही होता है । जैसे अग्नि दाह के प्रति कारण है यह बात अन्वयव्यतिरेक से ही सिद्ध होती है । अग्नि और दाह का अन्वयव्यतिरेक इस प्रकार होगा—'अग्निसत्त्वे दाहसत्ता' अर्थात् अग्नि के होने पर दाह होता है यह अन्वय हुआ और 'अग्न्यभावे दाहाभावः' अग्नि के अभाव में दाह का अभाव होता है यह व्यतिरेक हुआ । इन दोनों के होने से ही अग्निदाह के प्रति कारण सिद्ध होता है । इसी आधार पर कुछ लोग 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह कारण का लक्षण करते हैं ।

नैयायिकों का सिद्धान्त पक्ष यह है कि 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह कारण का लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि आकाश काल आदि जो नित्य और विभु पदार्थ हैं उनमें कारण का यह लक्षण सम्भव न होगा । आकाश, काल आदि पदार्थ नित्य हैं अतएव किसी काल में उनका अभाव नहीं मिलेगा । और वे विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक हैं अतएव किसी देश में उनका अभाव नहीं मिलेगा । इसलिए यद्यपि 'आकाशसत्त्वे घटसत्ता' यह अन्वय तो बन जायगा परन्तु 'आकाशाभावे घटाभावः' यह व्यतिरेक नहीं बन सकेगा। क्योंकि आकाश के नित्य होने से किसी काल में और विभु होने से किसी देश में उसका अभाव नहीं मिलेगा । इसी प्रकार 'कालसत्त्वे घटसत्ता' यह अन्वय तो बन जायगा परन्तु 'कालाभावे घटाभावः' यह व्यतिरेक नहीं मिल सकेगा। इसलिए अन्वय बन जाने पर भी व्यतिरेक के असम्भव होने से कारण यह लक्षण आकाश, काल आदि नित्य विभु पदार्थों में नहीं घट सकेगा । अतः अव्याप्ति दोषग्रस्त होने से यह कारण का लक्षण ठीक नहीं है ।

तच्च कारणं त्रिविधम् । समवायि-असमवायि-निमित्त-भेदात् । तत्र यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम् । यथा तन्तवः पटस्य समवायिकारणम् । यतस्तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते, न तुर्यादिषु ।

आकाश काल आदि को कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण माना गया है। यद्यपि तर्कभाषाकारने कारण के समवायि कारण, असमवायि कारण और निमित्त कारण ये तीन ही भेद किए है। परन्तु वाक्यवृत्ति में प्रकारान्तर से साधारण कारण और असाधारण कारण ये दो भेद भी किए हैं। उनमें से १ ईश्वर तथा उसके २ ज्ञान, ३ इच्छा तथा ४ कृति, ५ प्रागभाव, ६ आकाश, ७ काल, ८ दिक् इन आठों को कार्य मात्र के प्रति साधारण कारण माना है। और कहीं-कहीं प्रतिबन्धकसंसर्गाभाव को भी कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण माना गया है। इस प्रकार ९ साधारण कारण होते हैं।

योगदर्शन के व्यास भाष्य में भी उत्पत्तिकारण और स्थितिकारण आदि भेद से नौ प्रकार के कारणों का वर्णन करते हुए यह लिखा है[1] :—

'उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः ।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥'

नित्य और विभु पदार्थों को कारण मानने का सिद्धान्त श्री उदयनाचार्य ने भी अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि में प्रतिपादित किया है और कारण का 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्' यही लक्षण माना है[2] ।

'पूर्वभावो हि हेतुत्वं मीयते येन केनचित् ।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा न हि ॥'

इस प्रकार नित्य और विभु आकाश आदि, कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण हैं। इस लिए न्यायमुक्तावलीकार श्री विश्वनाथ ने जो आकाश को तृतीय अन्यथा सिद्ध का उदाहरण बना दिया है वह उचित नहीं हुआ है। इसी प्रकार आकाशादि में अव्याप्त होने के कारण 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम्' यह कारण का लक्षण भी ठीक नहीं है।

और वह कारण १ समवायि कारण, २ असमवायि कारण और ३ निमित्त कारण इस भेद से तीन प्रकार का होता है।

उसमें से जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है उसको 'समवायिकारण' कहते हैं। जैसे—तन्तु पट के समवायि कारण हैं। क्योंकि तन्तुओं में ही समवाय सम्बन्ध से पट पैदा होता है। तुरी आदि में नहीं।

---

१ योग० २, २८ ।   २ न्यायकुसुमाञ्जलिः ४, १, १९ ।

ननु तन्तुसम्बन्ध इव तुर्यादिसम्बन्धोऽपि पटस्य विद्यते, तत्कथं तन्तुष्वेव पटः समवेतो जायते न, तुर्यादिषु ?

सत्यम् । द्विविधः सम्बन्धः संयोगः समवायश्चेति । तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः । अन्ययोस्तु संयोग एव ।

कौ पुनरयुतसिद्धौ ? ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ ।

इसका अभिप्राय यह है कि पट की उत्पत्ति के प्रति 'तुरी' 'तन्तु' 'वेमा' आदि अनेक कारण हैं । परन्तु उनमें से समवायि कारण केवल तन्तु ही है, 'तुरी' 'वेमा' आदि पट के समवायि कारण नहीं अपितु निमित्त कारण होते हैं । पट के प्रति तुरी, तन्तु, वेमादिक की इसी कारणता का वर्णन महाकवि श्रीहर्ष ने अपने नैषधीय चरित नामक महाकाव्य में बड़ी सुन्दरता से इस प्रकार किया है—

'सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्‌गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाङ्गावरणं रणाङ्गणे यशः पटं तद्भटचातुरी तुरी' ॥

अर्थात्, रणभूमि के प्राङ्गण में महान् असिरूप वेमा की सहकारिणी नल के सैनिकों की चातुरीरूप तुरी, उसके शुभ्र वर्ण के शौर्यादि गुणरूप तन्तुओं से दिगङ्गना के आवरण के लिए कीर्तिरूप पट को बुन रही थी । इस समस्त वस्तु विषयक साङ्गरूपक द्वारा कवि ने इस कार्य कारण भाव को प्रदर्शित किया है[1] ।

[प्रश्न] तन्तु [के साथ] सम्बन्ध के समान तुरी आदि के साथ भी पट का सम्बन्ध है तब फिर क्यों तन्तुओं में ही समवाय सम्बन्ध से पट उत्पन्न होता है और तुरी आदि में नहीं ।

[उत्तर] ठीक है । [पट का तुरी और तन्तु दोनों के साथ सम्बन्ध अवश्य है] परन्तु सम्बन्ध दो प्रकार का होता है [एक] संयोग और [दूसरा] समवाय । उनमें से दो अयुतसिद्ध [पदार्थों] का सम्बन्ध समवाय [होता है] और अन्यों का तो संयोग [सम्बन्ध] ही [होता है, समवाय नहीं । इनमें से तन्तु और पट अयुतसिद्ध हैं इसलिए उनका सम्बन्ध समवाय है और तुरी पट अयुतसिद्ध नहीं हैं । इसलिए उनका संयोग सम्बन्ध है । अतः तन्तु पट के समवायि कारण हैं और तुरी पट का समवायि कारण नहीं अपितु निमित्त कारण मात्र है]

[प्रश्न] किन दो को अयुतसिद्ध कहते हैं ?

[उत्तर] जिन दो में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे के आश्रित ही रहता है वे दोनों ही [परस्पर] अयुतसिद्ध [कहलाते] हैं ।

---

१ नैषध० ५, १२ ।

इसका आशय यह हुआ कि जिन दो पदार्थों में से कोई एक पदार्थ दूसरे के आश्रित ही रहता है अर्थात् जिनको एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता है वे दोनों परस्पर अयुतसिद्ध कहलाते हैं। और उनका परस्पर समवाय सम्बन्ध होता है। जैसे १ मेज और मेज का रूप, इन दोनों को अलग नहीं किया जा सकता है। इसलिए वे दोनों अयुतसिद्ध हैं। इनमें मेज गुणी है और रूप उसका गुण। इसलिए यह कहा जा सकता है कि गुण को गुणी से अलग नहीं किया जा सकता है। अतएव 'गुण और गुणी परस्पर अयुतसिद्ध' हैं। और उनका सम्बन्ध समवाय कहलाता है। इसी प्रकार २ 'अवयव' और 'अवयवी' अर्थात् तन्तु और पट को अलग नहीं किया जा सकता है। अतएव दोनों अयुतसिद्ध हैं और उनका भी समवाय सम्बन्ध ही होता है। इसी प्रकार ३ 'क्रिया और क्रियावान्' जैसे क्रियावान् गेंद में लुढ़कने की क्रिया रहती है उस क्रिया को गेंद से अलग नहीं किया जा सकता है। अतएव क्रिया और क्रियावान् अयुतसिद्ध हैं और उनका समवाय सम्बन्ध होता है। ४ 'जाति और व्यक्ति' में व्यक्तिरूप अश्वादि में रहने वाली अश्वत्व आदि जाति को अश्व से अलग नहीं किया जा सकता है अतएव जाति और व्यक्ति भी अयुतसिद्ध हैं और उनका सम्बन्ध समवाय कहा जाता है। इसी प्रकार ५ परमाणु आदि 'नित्य पदार्थ' और उनमें रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म जिसको 'विशेष' कहते हैं ये दोनों भी अयुतसिद्ध हैं क्योंकि 'विशेष' को 'नित्य द्रव्य' परमाणु आदि से अलग नहीं किया जा सकता है। अतएव 'नित्य द्रव्य और विशेष' दोनों का सम्बन्ध भी समवाय कहलाता है।

इस प्रकार १ 'अवयव अवयवी' २ 'गुण गुणी' ३ 'क्रिया क्रियावान्' ४ 'जाति व्यक्ति' और ५ 'नित्यद्रव्य तथा विशेष' इन पाँचों को अयुतसिद्ध में परिगणित किया जाता है और उनका सम्बन्ध समवाय कहलाता है। इन में से अन्तिम 'नित्यद्रव्य और विशेष' में से 'विशेष' पदार्थ के कुछ स्पष्टीकरण की आवश्यकता है।

घटत्व पटत्व आदि एक-एक जाति के अनेक पदार्थ मिलते हैं। जैसे—घटत्व जाति के दस घट व्यक्ति उपस्थित होते हैं। उन सब विभिन्न व्यक्तियों में घटः, घटः, इस प्रकार की अनुगत प्रतीति अर्थात् एकाकार प्रतीति होती है। इस एकाकार प्रतीति का कारण घटत्वादि सामान्य है उसी को 'जाति' कहते हैं। जहाँ जाति अर्थात् घटत्वादि सामान्य के कारण दस घट व्यक्तियों में 'अयं घटः' 'अयं घटः' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति होती वहाँ उसके साथ ही दस घट व्यक्तियों का परस्पर भेद भी प्रतीत होता है। इस भेदप्रतीति का भी कोई

कारण होना चाहिए। इसलिए एक घड़ा दूसरे घड़े से क्यों भिन्न है यह प्रश्न हो सकता है। इस प्रश्न का उत्तर उसके कारण भेद अर्थात् अवयव भेद के आधार पर यह दिया जा सकता है कि दोनों घड़े अलग-अलग अवयवों से बने हैं इसलिए भिन्न हैं। घट के अवयवों को कपाल कहते हैं। अर्थात् दोनों घड़ों के कपाल भिन्न हैं इसलिए दोनों घड़े भी भिन्न हैं। फिर कपालों के विषय में भी यही प्रश्न उत्पन्न होगा कि वह कपाल एक दूसरे से क्यों भिन्न है। इसका उत्तर भी अवयव भेद के आधार पर दिया जा सकता है कि उन दोनों कपालों के अवयव अर्थात् कपालिकाएँ भिन्न हैं अतएव उन भिन्न कपालिकाओं से बने कपाल भिन्न हैं। इसके बाद जब कपालिकाओं के विषय में यही प्रश्न होगा तो वहाँ भी अवयव भेद की पद्धति से काम चल जायगा। अर्थात् कपालिकाएँ क्यों भिन्न हैं इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि उनका निर्माण भिन्न अवयवों अर्थात् भिन्न-भिन्न क्षुद्र कपालिकाओं से हुआ है अतएव कपालिकाएँ परस्पर भिन्न हैं। इस प्रक्रिया से घट का विश्लेषण करते-करते हम द्व्यणुक तक पहुँचते हैं। तब द्व्यणुक के विषय में भी यही प्रश्न होता है कि दो द्व्यणुकों में परस्पर भेद क्यों है। इसका उत्तर भी वही होगा कि उनके अवयव अर्थात् परमाणु भिन्न हैं इसलिए भिन्न परमाणुओं से बने हुए द्व्यणुक भिन्न हैं। अब यही प्रश्न परमाणु के विषय में उपस्थित होता है कि वे दो परमाणु जो एक दूसरे से भिन्न हैं उसका क्या कारण है। यहाँ अब तक दिए हुए अवयव भेद वाले उत्तर से काम नहीं चलेगा क्योंकि परमाणु के अवयव नहीं होते। स्थूल पदार्थ का विश्लेषण करते-करते जो सबसे छोटा अन्तिम अवयव है उसको ही परमाणु कहते हैं। उसके आगे और अवयव विभाग नहीं हो सकता है। इसलिए परमाणु के अवयव नहीं होते अपितु परमाणु नित्य है। तब इन परमाणुओं में परस्पर भेद के लिए वैशेषिक दर्शन में 'विशेष' नामक एक पदार्थ की कल्पना की गई है। इसी 'विशेष' नामक पदार्थ के प्रतिपादन के आधार पर इस दर्शन को 'वैशेषिक' दर्शन कहते हैं। एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न इसलिए है कि उनमें रहने वाला 'विशेष' भिन्न-भिन्न है। और विशेष का स्वरूप ही 'स्वतो व्यावृत्त' माना गया है। इस प्रकार नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म 'विशेष' कहा जाता है। हर परमाणु के रहने वाला विशेष एक दूसरे से भिन्न और स्वतो व्यावृत्त ही है इसलिए उसके आगे और कोई भेदक धर्म नहीं है। विशेष अन्तिम भेदक धर्म है और वह नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहता है। परन्तु जैसे जाति को व्यक्ति से या गुण को गुणी से अलग नहीं किया जा

सकता है इसी प्रकार विशेष को नित्य द्रव्य परमाणु आदि से अलग नहीं किया जा सकता है इसलिए नित्य द्रव्य और विशेष ये दोनों अयुतसिद्ध कहे जाते हैं और उनका सम्बन्ध समवाय कहा जाता है।

इस प्रकार 'ययोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ विज्ञातव्यौ' अर्थात् जिन दो में से कोई एक, दूसरे के आश्रित ही रहे उससे अलग न किया जा सके उन दोनों को अयुतसिद्ध कहते हैं। इसी लिए १ 'अवयव अवयवी', २ 'गुण गुणी', ३ 'क्रिया क्रियावान्', ४ 'जाति व्यक्ति' और ५ 'नित्यद्रव्य तथा विशेष' ये पाँच अयुतसिद्ध माने गए हैं। यहां तक अयुतसिद्ध के लक्षण का स्पष्टीकरण हो गया। परन्तु लक्षण में 'अविनश्यत्' पद भी दिया हुआ है। अयुतसिद्ध के लक्षण में इस 'अविनश्यत्' पद के रखने का क्या प्रयोजन है इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। यदि इस लक्षण में 'अविनश्यत्' पद न रखा जाय तो इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आ जायगा। 'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः' जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में न जावे उसे अव्याप्ति दोषग्रस्त कहा जाता है। यदि 'अयुतसिद्ध' के इस लक्षण में से 'अविनश्यत्' पद को हटा कर केवल 'ययोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ' इतना ही लक्षण किया जाय तो अयुतसिद्ध के जो पांच भेद अभी प्रदर्शित किए हैं उनमें से पहिले तीनों में यह लक्षण नहीं जा सकेगा। क्योंकि गुण आदि सदा गुणी आदि के आश्रित ही नहीं रहते हैं अपितु एक समय ऐसा भी आता है जब कि गुण, क्रिया तथा अवयवी ये सब निराश्रित भी हो जाते हैं। इसलिए 'एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते' यह लक्षण उनमें नहीं घट सकता है। जाति और व्यक्ति में भी जाति के नित्य होने पर भी व्यक्ति के अनित्य होने से व्यक्ति का नाश होने पर जाति के निराश्रय हो जाने की सम्भावना है। केवल नित्य द्रव्य और विशेष इन में दोनों के नित्य होने से अयुतसिद्ध का लक्षण घट सकेगा। शेष चार में अव्याप्त हो जायगा फलतः लक्ष्यैकदेश में अवृत्ति होने से यह लक्षण अव्याप्त हो जायगा। उसका वारण करने के लिए लक्षण में 'अविनश्यत्' पद का प्रयोग आवश्यक है।

घटरूप का कारण घट है इसी प्रकार घट में रहने वाली क्रिया का कारण भी घट है। इस गुण तथा क्रिया के नाश के अन्य प्रकारों से अतिरिक्त एक प्रकार यह भी है कि कारण के नाश से कार्य का नाश होता है। अर्थात् घट के नाश से घटगत रूप तथा क्रिया आदि का नाश होता है। इस दशा में घट का नाश कारण है, और रूपादि गुण तथा क्रिया का नाश कार्य होगा। कारण और कार्य में पौर्वापर्य का होना आवश्यक है। अतएव पहिले घट का नाश

तदुक्तम्—

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अनश्यदेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥

होगा तब उसके बाद घटगत रूप अथवा क्रिया का नाश होगा। इसलिए घटनाश और घटगत रूपादि गुण तथा क्रिया के विनाश में कम से कम एक क्षण का अन्तर अवश्य होगा। यह जो एक क्षण का काल है वही गुण तथा क्रिया का 'विनश्यत्ताकाल' है और उस काल में गुण तथा क्रियादि निराश्रय हो जाते हैं। जब घट का नाश हो गया और घटगत रूपादि गुण अथवा क्रिया का नाश अगले क्षण में होना है तब उस एक क्षण में रूपादि का कोई आश्रय नहीं है क्योंकि उनका आश्रय भूत घट पहिले क्षण में नष्ट हो चुका है। इस लिए इस क्षण में रूपादि गुण निराश्रित हो जाते हैं। इस क्षण के अगले क्षण में रूपादि गुणों का भी नाश हो जाता है। यह क्षण उनके नाश के अव्यवहित पूर्व का क्षण है। विनाश से अव्यवहित पूर्व का क्षण ही उसका 'विनश्यत्ता काल' कहा जाता है। 'विनश्यत्ता' का अर्थ 'विनाश कारणसामग्री सान्निध्य' है। अर्थात् जिस क्षण में विनाश के समग्र कारण उपस्थित हो जाँय वही 'विनश्यत्ता काल' है। उस विनाश कारण सामग्री के एकत्र हो जाने पर अगले क्षण में कार्य का विनाश अवश्य हो जायगा। आश्रयभूत घटादि का नाश ही रूपादि के विनाश की सामग्री का सान्निध्य है। इसलिए इस 'विनश्यत्ता काल' में रूपादि निराश्रय भी रहते हैं। अतएव यदि 'ययोर्मध्ये एकमपराश्रितमेवावतिष्ठते तावेवायुतसिद्धौ विज्ञातव्यौ' यही अयुतसिद्ध का लक्षण रखा जाय तो 'गुण गुणी' 'क्रिया क्रियावान्' और 'अवयव अवयवी' में यह लक्षण नहीं घट सकेगा क्योंकि गुणादि अपराश्रित ही नहीं अपितु विनश्यत्ता काल में निराश्रित भी रहते हैं। इस दोष के निवारण के लिए ही अयुतसिद्ध के लक्षण में 'अविनश्यत्' पद का समावेश किया गया है। इसका प्रयोजन यह हुआ कि अविनश्यदवस्था में जो पराश्रित ही रहे उसको अयुतसिद्ध कहेंगे 'विनश्यत्ता काल' में पराश्रित होना आवश्यक नहीं है। उस काल में निराश्रित भी रह सकता है। इस प्रकार 'अयुतसिद्ध' के लक्षण में 'अविनश्यत' पद का समावेश कर देने से उक्त दोष का परिहार हो जाता है। गुण क्रिया आदि 'विनश्यत्ता काल' में निराश्रित रहते हैं परन्तु अविनश्यत्ता काल में तो अपराश्रित ही रहते हैं। इसलिए उनमें लक्षण का समन्वय हो जाता है। इसी बात को ग्रन्थकार प्रतिपादित करते हैं:—

इसी से कहा है:—

उन ही दो को अयुतसिद्ध समझना चाहिए जिन दोनों में से एक अविनश्यदवस्था में दूसरे के आश्रित ही रहता है।

यथा अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति। अवयव्यादयो हि यथाक्रममवयवाद्याश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः। विनश्यदवस्थास्त्वनाश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽवयव्यादयः। यथा तन्तुनाशे सति पटः। यथा वा आश्रयनाशे सति गुणः। विनश्यत्ता तु विनाशकारण सामग्रीसान्निध्यम्।

तन्तुपटावप्यवयवावयविनौ, तेन तयोः सम्बन्धः समवायोऽयुतसिद्ध-

जैसे १ 'अवयव अवयवी', २ 'गुण गुणी', ३ 'क्रिया क्रियावान्', 'जाति और व्यक्ति' तथा ५ 'नित्यद्रव्य और विशेष'। अवयवी आदि यथाक्रम अवयवादि के आश्रित ही रहते हैं। विनश्यदवस्था में तो अवयवी आदि निराश्रित ही रहते हैं जैसे तन्तु [रूप अविनश्यदवस्था में अवयव] के नाश होने पर पट [रूप अवयवी निराश्रित हो जाता है] अथवा जैसे आश्रय [घटादि] के नाश हो जाने पर [उसमें रहने वाले रूपादि] गुण [विनश्यता काल में निराश्रित हो जाते हैं] विनश्यत्ता तो विनाश कारण की सामग्री का सान्निध्य [समस्त विनाश कारणों का एकत्र हो जाना] है।

पूना वाले संस्करण में यहाँ मूल पुस्तक में 'अवयवादयो हि यथाक्रमसवयव्याद्याश्रिता एवावतिष्ठन्तेऽविनश्यन्तः' इस प्रकार का पाठ रखा है। परन्तु यह पाठ ठीक नहीं है। क्योंकि अवयव अवयवी के आश्रित नहीं रहते हैं अपितु अवयवी अवयव के आश्रित रहता है। आगे जो उदाहरण दिया है 'यथा तन्तु॰नाशे सति पटः'। वह भी इसी बात का समर्थक है कि तन्तु रूप अवयव के नष्ट हो जाने पर पट रूप अवयवी निराश्रित हो जाता है। अर्थात् पट रूप अवयवी तन्तु रूप अवयव के आश्रित रहता है। और तन्तु रूप अवयव पट रूप अवयवी के आश्रित नहीं रहते। इसलिए ओरिएण्टल बुक एजेन्सी पूना द्वारा प्रकाशित नवीन संस्करण के इस स्थल का पाठ अशुद्ध है। यहाँ 'यथाक्रम' शब्द ने पाठ संशोधन में कदाचित् कुछ भ्रान्ति पैदा कर दी हो। अयुतसिद्धों का परिगणन करते हुए ऊपर की पंक्ति में पहिले अवयव को और पीछे अवयवी को रखा है। 'अवयव अवयविनौ'। उसके बाद अगली पंक्ति में 'यथाक्रम' पद का प्रयोग है, इसलिए इसको यथाक्रम करने से 'अवयवादयो हि यथाक्रममवयव्याद्याश्रिता एवावतिष्ठन्ते' यह पाठ बन गया है। यही कदाचित् पाठ संशोधक की भ्रान्ति का बीज है। परन्तु जैसा कि आगे के उदाहरण से भी स्पष्ट है यह पाठ ठीक नहीं है। अतएव हमने यहाँ उस पाठ को संशोधित कर शुद्ध पाठ को मूल में स्थान दिया है। इस प्रकार अयुतसिद्ध का लक्षण कर अब समवाय सम्बन्ध का उपपादन करते हैं।

तन्तु और पट भी अवयव और अवयवी हैं। इसलिए अयुतसिद्ध होने से

त्वात्। तुरीपटयोस्तु न समवायोऽयुतसिद्धत्वाभावात्। नहि तुरी पटाश्रितै-वातिष्ठते नापि पटस्तुर्याश्रितः। अतस्तयोः सम्बन्धः संयोग एव। तदेवं तन्तुसमवेतः पटः।

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। अतस्तन्तुरेव समवायि-कारणं पटस्य न तु तुर्यादि।

पटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम्। एवं मृत्पिण्डोपि घटस्य समवायिकारणं, घटश्च स्वगतरूपादेः समवायिकारणम्।

उनका सम्बन्ध समवाय है। तुरी और पट में अयुतसिद्धत्व का अभाव होने से उनका समवाय [सम्बन्ध] नहीं है। [तुरी और पट अयुतसिद्ध इस लिए नहीं हैं कि] न तुरी पट के आश्रित ही रहती है और न पट तुरी के आश्रित ही रहता है। इसलिए [अयुतसिद्ध न होने से] उन दोनों का सम्बन्ध संयोग ही है। इस प्रकार [यह स्पष्ट हो गया कि तन्तु और पट के अयुतसिद्ध होने से] तन्तु में पट समवेत [समवाय सम्बन्ध से रहने वाला] है।

जिस में समवेत [समवाय सम्बन्ध से] कार्य की उत्पत्ति होती है वह सम-वायि कारण [कहलाता] है। इसलिए तन्तु ही पट का समवायि कारण है तुरी आदि नहीं।

[तन्तु और पट अवयव अवयवी हैं, इसलिए तन्तु अवयव, पटरूप अवयवी का समवायि कारण है यह बात इस उदाहरण से सिद्ध हुई। आगे गुण और गुणी के सम्बन्ध से दूसरा उदाहरण बताते हैं] और पट अपने में रहने वाले रूप आदि [गुणों] का समवायि कारण है। इसी प्रकार मिट्टी का पिण्ड घट का समवायि कारण है और घट अपने में रहने वाले रूपादि [गुणों] का समवायि कारण है।

यहाँ पट स्वगत रूप का और घट स्वगत रूपादि का समवायि कारण है। यह जो गुण गुणी भाव की दृष्टि से समवायि कारण का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया है वह केवल दूसरा उदाहरण देने की दृष्टि से ही नहीं दिया गया है अपितु गुणों के उत्पत्ति क्रम के सम्बन्ध में एक विशेष सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए ही यहां उसका उल्लेख हुआ है। साधारणतः यह प्रतीत होता है कि गुण और गुणी इन दोनों की उत्पत्ति एक साथ होती है। जिस समय घट उत्पन्न होता है उसी समय घट के रूपादि गुण भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए उनमें कार्य कारण भाव नहीं हो सकता है। क्योंकि कार्य कारण भाव के लिए पौर्वापर्य आवश्यक है। जैसा कि 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वं कारणत्वम्' और 'अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वं कार्यत्वम्' इन कारण और कार्य के लक्षणों से भी उनका पौर्वापर्य सूचित होता है। अतः 'गुण और गुणी का समानकालीन जन्म होने से गुणी का गुणों का समवायि कारण नहीं कहा जा सकता है'। यह

तदा कारणभेदोऽप्यस्ति । घटो हि घटं प्रति न कारणमेकस्यैव पौर्वापर्याभावात् । न हि स एव तमेव प्रति पूर्वभावी पश्चाद्भावी चेति । स्वगुणान् प्रति तु पूर्वभावित्वाद् भवति गुणानां समवायिकारणम् ।

नन्वेवं सति प्रथमे क्षणे घटोऽचाक्षुषः स्याद्, अरूपिद्रव्यत्वाद् वायुवत् । तदेव हि द्रव्यं चाक्षुषं, यन्महत्त्वे सत्युद्भूतरूपवत् ।

तब [प्रथम क्षण में निर्गुणघट की उत्पत्ति होती है और उसके बाद उस घट में रूपादि गुण उत्पन्न होते हैं ऐसा मानने पर गुण और गुणी अर्थात् घट और रूपादि में] कारण भेद भी [हो सकता] है । घट घट के प्रति [अर्थात् स्वयं अपने प्रति] कारण नहीं होता है एक [उसी घट] में ही पौर्वापर्य का अभाव होने से वही [घट] उसी [स्वयं अपने] के प्रति पूर्व भावी [कारण] और पश्चाद्भावी [कार्य] नहीं हो सकता है । अपने [अर्थात् घट गत रूपादि] गुणों के प्रति तो पूर्वभावी होने से गुणों का समवायि कारण हो सकता है । [इस लिए प्रथम क्षण में निर्गुण घट की उत्पत्ति होने के बाद अगले क्षण में उसमें रूपादि गुण उत्पन्न होते हैं यही सिद्धान्त मानना उचित है । और इस दशा में घटादि गुणी स्वगत रूपादि गुणों के समवायि कारण हो सकते हैं ।]

इस पर पूर्वपक्षी फिर शंका करता है कि यदि प्रथम क्षण में निर्गुण घट उत्पन्न होता है इस सिद्धान्त को माना जाय तो उस में दो दोष आ जावेंगे । पहिला दोष तो यह होगा कि उस प्रथम क्षण में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष उसी द्रव्य का हो सकता है जिसमें महत् परिमाण और उद्भूत रूप ये दो गुण रहते हैं । प्रथम क्षण का घट क्योंकि निर्गुण उत्पन्न होता है इस लिए उसमें रूपादि गुण रहते ही नहीं इसलिए रूप रहित होने से घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । जैसे वायु रूप रहित द्रव्य है उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता । इसी प्रकार प्रथम क्षण का निर्गुण घट भी रूप रहित है अतः उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । यह पहिला दोष निर्गुण उत्पत्ति पक्ष में आता है ।

दूसरा दोष यह होगा कि प्रथम क्षण के घट को द्रव्य नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' जो गुण का आश्रय हो, जिसमें गुण रहते हों उसी को द्रव्य कहते हैं यह द्रव्य का लक्षण है । प्रथम क्षण का घट गुणाश्रय नहीं है निर्गुण होने से उसमें गुण नहीं रहते इसलिए उसमें द्रव्य का लक्षण न घट सकने से उसको द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता है । इसलिए प्रथम क्षण में निर्गुण घट उत्पन्न होता है यह नहीं मानना चाहिये । यही पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं ।

[प्रश्न] अच्छा तो ऐसा [निर्गुणोत्पत्ति होने पर प्रथम क्षण में घट

ननु यदैव घटादयो जायन्ते तदैव तद्गतरूपादयोऽपि, अतः समानकालीनत्वाद् गुणगुणिनोः सव्येतरविषाणवत्कार्यकारणभाव एव नास्ति पौर्वापर्याभावात्। अतो न समवायिकारणं घटादयः स्वगतरूपादीनाम्। कारणविशेषत्वात् समवायिकारणस्य।

अत्रोच्यते। न गुणगुणिनोः समानकालीनं जन्म, किन्तु द्रव्यं निर्गुणमेव प्रथममुत्पद्यते पश्चात् तत्समवेता गुणा उत्पद्यन्ते। समानकालोत्पत्तौ तु गुणगुणिनोः समानसामग्रीकत्वाद् भेदो न स्यात्। कारणभेदनियतत्वात्कार्यभेदस्य। तस्मात्प्रथमे क्षणे निर्गुण एव घट उत्पद्यते गुणेभ्यः पूर्वभावीति भवति गुणानां समवायिकारणम्।

पूर्वपक्ष उठा कर प्रथम क्षण में निर्गुण घट उत्पन्न होता है और अगले क्षण में उसमें रूपादि गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार गुणी और गुणों की उत्पत्ति में पौर्वापर्य बन जाता है और गुणी गुण का समवायि कारण होता है इस सिद्धांतपक्ष को स्थिर करने के लिए यह दूसरा उदाहरण दिया गया है। पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है :—

[प्रश्न] जब ही घटादि [गुणी] उत्पन्न होते हैं। तब ही उनमें रहने वाले रूपादि [गुण] भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए गुण और गुणी के समानकालीन होने से [समान काल में उत्पन्न होने वाले] बायें और दाहिने सींगों के समान उनमें कार्य कारण भाव ही पौर्वापर्य के अभाव के कारण नहीं हो सकता है। अतएव घट आदि [गुणी] स्वगत रूपादि [गुणों] के समवायि कारण नहीं हो सकते। [यह पूर्वपक्ष हुआ]।

इसका समाधान करते हैं। गुण और गुणी का समानकालीन जन्म नहीं होता किन्तु पहिले निर्गुण द्रव्य ही उत्पन्न होता है और उसके बाद उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण उत्पन्न होते हैं। गुण और गुणी की समानकालीन [एक साथ ही] उत्पत्ति [मानने] में तो उनकी कारण सामग्री के [भी] समान होने से गुण और गुणी का भेद भी नहीं बनेगा। क्योंकि कार्य का भेद कारण के भेद के साथ नियत है। [अर्थात् कार्य में भेद तभी हो सकता है जब उनके कारण भिन्न हों। गुण और गुणी का समानकालीन जन्म होने पर उनकी कारण सामग्री भी समान ही होगी उस दशा में रूपादि को गुण और घटादि को गुणी कहा जाय यह भेद भी नहीं बनेगा। इस लिए गुण और गुणी का समानकालीन जन्म मानना उचित नहीं है] इस लिए प्रथम क्षण में निर्गुण घट ही उत्पन्न होता है और गुणों से पूर्वभावी होता है इसलिए [स्वगत रूपादि] गुणों का समवायि कारण हो सकता है।

अद्रव्यं च स्याद् गुणाश्रयत्वाभावात् । गुणाश्रयो द्रव्यमिति हि द्रव्यलक्षणम् ।

सत्यम् । प्रथमे क्षणे घटो यदि चक्षुषा न गृह्यते का नो हानिः । न हि सगुणोत्पत्तिपक्षेऽपि निमेषावसरे घटो गृह्यते । तेन व्यवस्थितमेतन्निर्गुण एव प्रथमं घट उत्पद्यते । द्वितीयादिक्षणेषु चक्षुषा गृह्यते ।

न च प्रथमे क्षणे गुणाश्रयत्वाभावाद् द्रव्यत्वापत्तिः । समवायिकारणं

अचाक्षुष हो जायगा [अर्थात् उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा] वायु के समान रूप रहित द्रव्य होने से । जो द्रव्य महत् परिमाण और उद्भूत रूप से युक्त होता है वही चाक्षुष [प्रत्यक्ष का विषय होता] है । [इस प्रकार निर्गुणोत्पत्ति पक्ष में प्रथम क्षण में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा यह प्रथम दोष है । दूसरा दोष आगे कहते हैं]

[प्रथम क्षण के निर्गुण घट में] गुणाश्रयत्व का अभाव होने से [वह] द्रव्य भी नहीं हो सकेगा । [क्यों कि] गुण का आश्रय द्रव्य [होता] है, यह द्रव्य का लक्षण है । [प्रथम क्षण के घट के निर्गुण होने से उसमें गुणाश्रयत्व रूप द्रव्य का लक्षण नहीं घट सकता है अतएव प्रथम क्षण का घट द्रव्य भी नहीं कहा जा सकता है । ये दोष निर्गुणोत्पत्ति पक्ष में आते हैं । आगे उनका समाधान करते हैं ।]

[उत्तर आपका कहना] ठीक है । [प्रथम क्षण में घटादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होगा । परन्तु] यदि प्रथम क्षण में चक्षु से घट का ग्रहण नहीं होता तो इसमें हमारी क्या हानि है । [आप के] सगुणोत्पत्ति पक्ष में भी [यदि प्रथम क्षण में देखने वाले के पलक मारने का] निमेषावसर [होने पर] में घट का ग्रहण नहीं होगा । [इसलिए यदि प्रथम क्षण में घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता तो इसमें कोई हानि नहीं है । अर्थात् प्रथम क्षण में ही घट का प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं है । द्वितीय क्षण में रूपादि गुण उत्पन्न हो जाने पर ही उसका प्रत्यक्ष होगा] इसलिए यह निश्चित हुआ कि प्रारम्भ में [प्रथम क्षण] में निर्गुण घट ही उत्पन्न होता है और द्वितीयादि क्षणों में [रूप आदि गुणों के उत्पन्न हो जाने पर] चक्षु से गृहीत होता है ।

और न प्रथम क्षण में गुणाश्रय न होने से [घटादि का] अद्रव्यत्व हो सकता है। [क्योंकि 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण नहीं है अपितु हमारे मत में 'समवायि कारणं द्रव्यम्' यह द्रव्य का लक्षण है अतः] समवायिकारण द्रव्य [होता] है इस द्रव्य के लक्षण का सम्बन्ध [प्रथम क्षण के घट में भी] होने

द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणयोगात्। योग्यतया गुणाश्रयत्वाच्च। योग्यता च गुणानामत्यन्ताभावाभावः।

असमवायिकारणं तदुच्यते यत्समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणम्। तन्तुसंयोगस्य गुणस्य, पटसमवायिकारणेषु तन्तुषु गुणिषु, समवेतत्वेन समवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वात्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वेन पटं प्रति कारणत्वाच्च।

से [प्रथम क्षण का घट भी द्रव्य लक्षण से युक्त होने से द्रव्य ही है। उसे अद्रव्य नहीं कहा जा सकता]

[यदि आप 'समवायिकारणं द्रव्यम्' इस द्रव्य लक्षण को न मान कर 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' इसको ही द्रव्य लक्षण मानना चाहते हैं तो] योग्यता से गुणाश्रय होने से भी [प्रथम क्षण के घट को अद्रव्य नहीं कह सकते हैं। अर्थात् प्रथम क्षण का घट यद्यपि उस प्रथम क्षण में गुणों का आश्रय नहीं है परन्तु उसमें गुणाश्रय होने की योग्यता तो उस क्षण में भी विद्यमान है। अगले क्षण में वह गुणाश्रय हो जायगा इस योग्यता के कारण उसको गुणाश्रय मान कर भी लक्षण का समन्वय किया जा सकता है।] यह योग्यता [का अभिप्राय] गुणोंके अत्यन्ताभाव का अभाव है।

अर्थात घट में गुणों का अत्यन्ताभाव त्रैकालिक अभाव नहीं है। इसलिए घट में गुणों के अत्यन्ताभाव अर्थात् त्रैकालिक अभाव न होने से वर्तमान एक क्षण में गुण का अभाव होने पर भी अगले क्षण में गुणोत्पत्ति के योग्य होने से उसको गुणाश्रय मान कर 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' इस द्रव्य लक्षण का भी समन्वय हो सकता है। इसलिए प्रथम क्षण में निर्गुण घट उत्पन्न होता है और द्वितीय आदि क्षण में उसमें रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है। अतः गुण और गुणी का समान कालीन जन्म न होने से घटादि गुणी, स्वगत रूपादि गुणों के प्रति समवायि कारण हो सकते हैं। यह सिद्ध हुआ।

आगे असमवायि कारण का लक्षण करते हैं :—

असमवायिकारण उसको कहते हैं। जो समवायिकारण में रहता [प्रत्यासन्न] हो और [कार्योत्पादन में] जिसकी सामर्थ्य निश्चित हो [अर्थात् जिसमें 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्' यह कारण का लक्षण घटता हो] उसको असमवायिकारण कहते हैं। जैसे तन्तु संयोग पट का असमवायि कारण है। तन्तु संयोग गुण [है उस] के पट के समवायिकारण तन्तुओं [रूप] गुणियों में समवाय सम्बन्ध

एवं तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम् ।

से विद्यमान होने से [पट के] समवायिकारण में प्रत्यासन्न होने और [पट के प्रति] अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्व [रूप कारण लक्षण से युक्त] होने से पट के प्रति कारण होने से । [तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण होता है । क्योंकि 'समवायि कारणे प्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं च' यह असमवायिकारण का लक्षण उसमें घट जाता है]

इसी प्रकार तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण है ।

जैसे गुण और गुणी के असमानकालीन जन्म अथवा निर्गुणोत्पत्ति के सिद्धान्त के प्रतिपादन करने के विशेष प्रयोजन से समावायिकारण का दूसरा उदाहरण दिया था । इसी प्रकार असमवायिकारण का यह दूसरा उदाहरण भी समावायिकारण में प्रत्यासत्ति साक्षात् तथा परम्परया दो प्रकार से मानी जा सकती है इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के विशेष प्रयोजन से दिया गया है ।

यहां तन्तुरूप को पटरूप का असमवायिकारण कहा है । इसमें शङ्का यह होती है कि समवायिकारण में प्रत्यासन्न और अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावी धर्म को असमवायिकारण कहते हैं, यह असमवायिकारण का लक्षण अभी किया है । पटरूप के असमवायिकारण को हमें देखना है । पटरूप गुण है अतएव उसका समवायिकारण गुणीरूप पट है । इसलिए पटगत कोई धर्म पटरूप का असमवायिकारण हो सकता है । तन्तुरूप तो तन्तु का गुण होने से तन्तु में रहता है पट में नहीं । तब तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण कैसे होगा ?

इस शङ्का का उत्तर यह है कि समवायिकारण में जो प्रत्यासत्ति यहां कही है वह साक्षात् और परम्परया दो प्रकार से हो सकती है । कोई धर्म कार्य के साथ एक ही अर्थ में रहने से समवायिकारण में प्रत्यासन्न कहा जाता है । जैसे तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण पहिले दिखाया था । वह पट के समवायिकारण तन्तुओं में कार्यभूत पट के साथ साक्षात् एकार्थ समवेत है । अर्थात् पट समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में रहता है उन्हीं तन्तुओं में तन्तुसंयोगरूप गुण भी रहता है । इसलिए तन्तुसंयोग साक्षात् कार्यरूप पट के साथ तन्तुरूप एक अर्थ में समवेत है । उस प्रकार की प्रत्यासत्ति को साक्षात् प्रत्यासत्ति कहते हैं । इसी को दूसरे शब्दों में 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' अर्थात् कार्य पट के साथ कारण तन्तुसंयोग की एक अर्थ तन्तु में प्रत्यासत्ति भी कहते हैं ।

दूसरे प्रकार की प्रत्यासत्ति को 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति अथवा परम्परया प्रत्यासत्ति भी कहते हैं । जो धर्म कार्य के साथ नहीं अपितु कारण के साथ

ननु पटरूपस्य पटः समवायिकारणं, तेन तद्गतस्यैव कस्यचिद्धर्मस्य-पटरूपं प्रत्यसमवायिकारणत्वमुचितम् । तस्यैव समवायिकारणप्रत्यासन्न-त्वात् । न तु तन्तुरूपस्य । तस्य समवायिकारणप्रत्यासत्त्यभावात् । मैवम् । समवायिकारणसमवायिकारणप्रत्यासन्नस्यापि परम्परया समवायिकारणप्रत्यासन्नत्वात् ।

एक अर्थ में प्रत्यासन्न हो उसको 'कारणैकार्थप्रत्यासन्न' कहेंगे । जैसे 'तन्तुरूप' कार्यभूत 'पट-रूप के साथ नहीं अपितु पट-रूप के कारण पट के साथ एक अर्थ तन्तु में प्रत्यासन्न है । अर्थात् पटरूप का कारण पट है वह अपने समवा-यिकारण तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है । उसी 'तन्तु' गुणी में 'तन्तु-रूप' गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है इसलिये 'तन्तुरूप' और 'पट' दोनों तन्तुओं में प्रत्यासन्न हुए । इस प्रकार 'तन्तुरूप' यद्यपि 'पट-रूप' के साथ एकार्थ समवेत नहीं है परन्तु 'पटरूप' के कारण पट के साथ 'तन्तुस्वरूप' एकार्थ में समवेत है, इसलिए उसे भी परम्परया या 'कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या' समवायिकारण में प्रत्यासन्न माना जा सकता है । अर्थात् समवायिकारण के समवायिकारण में प्रत्यासन्न धर्म को भी परम्परया समवायिकारण में प्रत्यासन्न मान कर 'तन्तुरूप' को 'पटरूप' का असमवायिकारण कहा जा सकता है । इसी बात को आगे कहते हैं ।

[प्रश्न] पटरूप का समवायिकारण [तो] पट है इसलिए उस [पट] में रहने वाले किसी धर्म का ही 'पटरूप' के प्रति असमवायिकारणत्व [मानना] उचित है । [क्योंकि] उस [पटगत धर्म] का ही समवायिकारण प्रत्यासन्नत्व [हो सकता] है । तन्तुरूप का [पटरूप के प्रति समवायिकारण प्रत्यासन्नत्व] नहीं [हो सकता है] उस [तन्तुरूप] के [पटरूप के] समवायिकारण [पट] में प्रत्यासन्न न होने से ['तन्तुरूप' का पटरूप के प्रति असमवायिकारणत्व मानना उचित नहीं है]

[यह पूर्व पक्ष हुआ । आगे उसका उत्तर देते हैं] :—

यह नहीं [कहना चाहिए] उस [पटरूपादि] के समवायिकारण [पट] के समवायिकारण [तन्तु] में प्रत्यासन्न [तन्तुरूपादि] का भी परम्परया [कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति से] समवायिकारण [में] प्रत्यासन्नत्व [अभीष्ट] होने से [तन्तुरूप भी पटरूप के समवायिकारण में प्रत्यासन्न माना जा सकता है । अतः तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण हो सकता है] ।

इस प्रकार समवायिकारण और असमवायिकारण के लक्षण कर चुकने के बाद अब तीसरे निमित्तकारण का लक्षण करते हैं ।

निमित्तकारणं तदुच्यते । यन्न समवायिकारणं, नाप्यसमवायिकारणम् । अथ च कारणं तन्निमित्तकारणम् । यथा वेमादिकं पटस्य निमित्तकारणम्, तदेतद् भावानामेव त्रिविधं कारणम् । अभावस्य तु निमित्तमात्रं, तस्य क्वचिदप्यसमवायात् । समवायस्य भावद्वयधर्मत्वात् ।

तदेतस्य त्रिविधस्य कारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम् । तेन व्यवस्थितमेतल्लक्षणं प्रमाकरणं प्रमाणमिति ।

यत्तु, अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमिति लक्षणम्, तन्न, एकस्मिन्नेव घटे घटोऽयं घटोऽयमिति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामप्रामाण्यप्रसङ्गात् ।

निमित्तकारण उसको कहते हैं । जो न समवायिकारण है और न असमवायिकारण है । फिर भी जो कारण है [अर्थात् जिसमें कारण का लक्षण 'अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम्' घट जाता है] उसको निमित्तकारण कहते हैं । जैसे वेमा आदि पट के निमित्तकारण हैं ।

यह तीन प्रकार के [समवायि, असमवायि और निमित्त] कारण, भाव [अर्थात् सत्] पदार्थों के ही होते हैं । [अर्थात् अभाव के नहीं] अभाव का तो केवल [एक] निमित्त कारण ही होता है । उस [अभाव] का कहीं भी [किसी भी पदार्थ के साथ] समवाय सम्बन्ध न होने से [कोई पदार्थ उसका समवायिकारण नहीं हो सकता है । और जब समवायिकारण ही नहीं तब असमवायिकारण भी नहीं हो सकता है । इसलिए अभाव का केवल निमित्तकारण ही होता है] । समवाय के दो भाव पदार्थों का ही धर्म होने से । [अभाव का किसी से समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता है । और उसके अभाव में समवायि अथवा असमवायिकारण नहीं बन सकने से अभाव का केवल एक निमित्तकारण ही होता है । त्रिविध कारण केवल भाव पदार्थों के होते हैं । अभाव के नहीं] ।

इसलिए इस त्रिविध कारण में से जो [कारण] किसी प्रकार से भी [अन्यों की अपेक्षा] अधिक उत्कृष्ट [कारण] है, वही करण [कहलाता] है ।

इसलिए [अब प्रमा और करण दोनों पदों की पूर्ण व्याख्या हो जाने से] प्रमा का करण प्रमाण [होता] है यह [प्रमाण का] लक्षण निश्चित हो गया ।

और जो [यह भट्टमतानुयायी मीमांसकों तथा दिङ्नाग आदि बौद्ध आचार्यों ने] अनधिगत अर्थात् अज्ञात अर्थ के ज्ञापक को प्रमाण कहते हैं यह लक्षण किया है वह ठीक नहीं है । एक ही घट में [निरन्तर कई क्षण तक] यह घड़ा है, यह घड़ा है इस प्रकार ज्ञात घट का ज्ञान कराने वाली धारावाहिक [द्वितीय

न चान्यान्यक्षणविशिष्टविषयीकरणादनधिगतार्थगन्तृता। प्रत्यक्षेण सूक्ष्मकालभेदानाकलनात्। कालभेदग्रहे हि क्रियादिसंयोगान्तानां चतुर्णां यौगपद्याभिमानो न स्यात्। क्रिया, क्रियातो विभागो, विभागात् पूर्वसंयोगनाशः; ततश्चोत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिरिति।

आदि] बुद्धियों के [गृहीतग्राही होने से] अप्रामाण्य प्राप्त होने से [अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणं यह प्रमाण का लक्षण ठीक नहीं है]।

[यदि मीमांसक आदि यह कहें कि प्रथम द्वितीय आदि] अलग अलग क्षण विशिष्ट घट का ग्रहण होने से [द्वितीयादि ज्ञानों में भी] अनधिगतार्थगन्तृता हो सकती है। [इसलिए धारावाहिक बुद्धिस्थल में अप्रामाण्य नहीं होगा] यह भी, प्रत्यक्ष से सूक्ष्म [क्षण रूप] कालभेद के ग्रहण न होने से, ठीक नहीं है। [प्रत्यक्ष से क्षणरूप सूक्ष्म] कालभेद का ग्रहण होने पर तो [किसी वस्तु के गिरने या एक स्थान से हटकर दूसरे स्थान पर जाने में होने वाली] क्रिया से लेकर संयोग पर्यन्त चारों [व्यापारों] में यौगपद्य [एक साथ होने] की प्रतीति न हो। [जब एक वस्तु एक स्थान को छोड़ कर दूसरी जगह जाती है तब उसके दूसरी जगह पहुँचने तक चार व्यापार होते हैं] १. क्रिया. २. क्रिया से विभाग, ३. विभाग से पूर्वसंयोग नाश, और ४ उत्तरदेश संयोग की उत्पत्ति। [परन्तु यह चारो व्यापार अलग अलग अनुभव में नहीं आते क्योंकि वह अत्यन्त शीघ्रता से हो जाते हैं। इसलिए सूक्ष्म कालभेद का प्रत्यक्ष से ग्रहण सम्भव न होने से धारावाहिक बुद्धिस्थल में क्षण विशिष्ट घट का ग्रहण नहीं माना जा सकता है। अतः द्वितीयादि ज्ञानों के गृहीतग्राही होने से 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' यह लक्षण उसमें अव्याप्त होगा। अतः यह ठीक नहीं है]

धारावाहिक ज्ञान के विषय में न्याय का मत—

धारावाहिक बुद्धि के प्रामाण्य के विषय में न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, बौद्ध, जैन आदि अनेक दर्शनों में विचार किया गया है। अधिकांश लोग धारावाहिक बुद्धिस्थल में द्वितीयादि क्षणों में होने वाले 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान के प्रामाण्य का ही प्रतिपादन करते हैं परन्तु उनके पतिपादन की शैली भिन्न भिन्न है। इसके प्रामाण्य सिद्ध करने की चिन्ता विशेष रूप से उनको करनी पड़ती है। जो 'अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्' इस प्रकार प्रमाण का लक्षण करते हैं। न्याय वैशेषिक आदि में प्रमाण के लक्षण में अनधिगतत्व का कोई उल्लेख नहीं किया गया है इसलिए उनके यहाँ अधिगत विषयक ज्ञान भी प्रमाण ही है। इसीलिए वाचस्पतिमिश्र, श्रीधराचार्य; जयन्तभट्ट, उदयनाचार्य आदि न्याय और वैशेषिक

के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में धारावाहिक ज्ञानों को अधिगतार्थविषयक कह कर भी प्रमाण माना है। 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' में वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है :—

'अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकविज्ञानानामधिगतार्थगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे। न च कालभेदेनानधिगत गोचरत्वं धारावाहिकानामिति युक्तम्। परमसूक्ष्माणां कालकलादिभेदानां पिशितलोचनैरस्मादृशैरनाकलनात्।

न चाद्येनैव विज्ञानेनोपदर्शितत्वादर्थस्य, प्रवर्तितत्वात्पुरुषस्य, प्रापितत्वाच्चोत्तरेषामप्रामाण्यमेव ज्ञानानामिति वाच्यम्। न हि विज्ञानस्यार्थप्रापणं प्रवर्तनादन्यद् न च प्रवर्तनमर्थप्रदर्शनादन्यत्। तस्मादर्थप्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञानप्रवर्तकं प्रापकं च। प्रदर्शनं च पूर्ववदुत्तरेषामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाणं नोत्तराण्यपि।

इस प्रकार न्याय और वैशेषिक के आचार्यों ने धारावाहिक बुद्धिस्थल में उत्तर विज्ञानों का प्रामाण्य ही माना है और उसमें सूक्ष्मकालभेद का ग्रहण नहीं माना है। जैसा कि यहां तर्कभाषाकार ने दिखाया है। तर्कभाषा का प्रकृत लेख न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका से उद्धृत पंक्तियों के प्रारम्भिक एक अनुच्छेद के लेख से मिलता हुआ ही है।

धारावाहिकज्ञान के विषय में मीमांसकों का मत—

मीमांसकों ने भी इस विषय पर विचार किया है। मीमांसकों के प्रभाकर तथा कुमारिलभट्ट दोनों का अनुगमन करने वाली परम्पराओं में धारावाहिक ज्ञानों का प्रामाण्य स्वीकार किया है परन्तु उनके उपपादन का प्रकार भिन्न भिन्न हैं। प्रभाकर मतानुयायी शालिकनाथ आदि नैयायिकों के समान सूक्ष्म काल भेद का समावेश किए बिना ही अनुभूति मात्र होने से उनको प्रमाण मानते हैं। परन्तु कुमारिलभट्ट के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि सूक्ष्म कालभेद का ग्रहण मान कर उस प्रामाण्य को स्थापित करते हैं। प्रभाकर मतानुयायी शालिकनाथ ने अपनी 'प्रकरणपञ्जिका' में इस विषय का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

'धारावाहिकेषु तर्हि उत्तरविज्ञानानि स्मृतिप्रमोषादविशिष्टानि कथं प्रमाणानि? तत्राह, अन्योन्यनिरपेक्षा धारावाहिकबुद्धयः। व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारण-

१ न्यायवार्तिक तात्पर्य टी० पृ० २१, कन्दली पृ० ६१, न्यायमञ्जरी पृ० २२, न्यायकुसुमाञ्जलि ४, १।

कलाप उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्परस्यातिशेरत इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता ।'[1]

अर्थात् धारावाहिक बुद्धिस्थल में सब ज्ञान परस्पर निरपेक्ष होते हैं। पूर्व विज्ञान की कारणसामग्री के व्यापार से ही उत्तर विज्ञानों की भी उत्पत्ति हो जाती है। इसलिये इन सब विज्ञानों में न उत्पत्तिकृत और न प्रतीतिकृत कोई विशेषता है अतएव सबका ही प्रामाण्य है।

इसके विपरीत कुमारिल भट्ट के अनुयायी 'शास्त्रदीपिका'-कार पार्थसारथि मिश्र आदि सूक्ष्म कालभेद का ग्रहण मान कर ही उत्तर विज्ञानों के प्रामाण्य को स्थापित करते हैं। उसका कारण यह है कि उन्होंने अपने प्रमाणलक्षण में 'अपूर्व' पद का निवेश कर 'अनधिगतार्थगन्तृता' को ही प्रमाण का लक्षण माना है। इसलिए धारावाहिक बुद्धि के प्रामाण्य के लिए उन्हें सूक्ष्म कालभेद का भी ग्रहण मानना पड़ा है। पार्थसारथि मिश्र ने अपनी 'शास्त्रदीपिका' में इस विषय का प्रतिपादन करते हुए लिखा है :—

'नन्वेवं धारावाहिकेषूत्तरेषां पूर्वगृहीतार्थविषयकत्वादप्रामाण्यं स्यात् तस्मादनुभूतिः प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणम् ।...तस्मात् यथार्थमगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणमिति वक्तव्यम् । धारावाहिकेष्वप्युत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्याग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम् । सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृश्यत इति चेत्,

अहो सूक्ष्मदर्शी देवानां प्रियः । यो हि समानविषयया विज्ञानधारया चिरमवस्थायोपरतः सोऽप्यनन्तरक्षणसम्बन्धितयार्थं स्मरति, तथाहि किमत्र घटोऽवस्थित इति पृष्टः कथयति, अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इति । तथा प्रातरारभ्यैतावत्कालं मयोपलब्ध इति । कालभेदे त्वगृहीते कथमेवं वदेत् । तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम्[2] ।

अर्थात् क्या यहां घड़ा था या है इस प्रकार का प्रश्न करने पर, अभी इसी क्षण मैंने देखा था। अथवा सबेरे से अब तक तो मैंने देखा था। इस प्रकार का उत्तर दिया जाता है। यह उत्तर बिना कालभेद के ग्रहण के कैसे बनेगा। इसलिये कालभेद का ग्रहण होता है यह मानना ही चाहिए। और उसके मान लेने पर उत्तर विज्ञानों में उस काल भेद के आधिक्य से अगृहीतग्राहित्व बन जावेगा। इसलिए उनका प्रामाण्य सिद्ध ही है। इस प्रकार कुमारिलभट्ट के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र सूक्ष्म कालभेद के ग्रहण का उपपादन कर धारावाहिक बुद्धि के प्रामाण्य को सिद्ध करते हैं।

१ प्रकरणपञ्जिका पृष्ठ ४२, । बृहती पृष्ठ १०३ ।
२ शास्त्रदीपिका पृष्ठ १२४, १२६ ।

धारावाहिक ज्ञान के विषय में बौद्धों का मत—

बौद्धपरम्परा में आचार्य दिङ्नाग ने 'अनधिगतार्थगन्तृता' को प्रमाण लक्षण में समावेश करने का प्रयत्न किया है। प्रमाणसमुच्चय की टीका में, पृष्ठ ११ पर :—

'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्'।

इस प्रकार प्रमाण का लक्षण किया गया है। अर्थात् अगृहीतग्राही ज्ञान ही प्रमाण है। गृहीतग्राही ज्ञान के विषय में धर्मोत्तराचार्य ने लिखा है :—

'अतएव अनधिगतविषयं प्रमाणम्। येनैव हि ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः। तत्रैवार्थे किमन्येन ज्ञानेन अधिकं कार्यम्। ततोऽधिगतविषयमप्रमाणम्।'

अर्थात् धर्मोत्तराचार्य के मत में अधिगत विषयक ज्ञान का अप्रामाण्य ही अभीष्ट है। परन्तु इसके विपरीत हेतुबिन्दु की टीका में 'अर्चट' ने धारावाहिक ज्ञानों में से योगियों के धारावाही ज्ञान में भट्ट मीमांसकों के अनुसार सूक्ष्म कालभेद का ग्रहण मान कर उसको प्रमाण माना है और लौकिक पुरुषों के धारावाहिक ज्ञान में न्याय के अनुसार सूक्ष्म कालभेद का ग्रहण संभव न होने से उसको अप्रमाण कहा है। यहां न्याय का साम्य केवल इतने अंश में है कि सूक्ष्म कालभेद का लौकिक प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं हो सकता है। शेष धारावाहिक ज्ञान का अप्रमाण होना इस अंश में न्याय के साथ समानता नहीं है। क्योंकि न्याय तो धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण ही मानता है। न्याय के प्रमाण लक्षण में अज्ञातार्थज्ञापकत्व अभीष्ट नहीं है। बौद्धों ने 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्' यह प्रमाण का सामान्य लक्षण माना है अतएव उनके मत में धारावाहिक बुद्धि का प्रामाण्य सूक्ष्म कालभेद का ग्रहण होने पर ही सम्भव है। और वह काल भेद योगिप्रत्यक्ष में तो गृहीत हो सकता है साधारण लौकिक प्रत्यक्ष में नहीं। इसलिए योगि-प्रत्यक्ष में धारावाहिक ज्ञानों का प्रामाण्य है और लौकिक धारावाहिक ज्ञानों का अप्रामाण्य है।

धारावाहिक ज्ञान के विषय में जैनों का मत—

जैनदर्शन की परम्परा में दिगम्बर परम्परा के अनुसार धारावाहिक ज्ञान उसी दशा में प्रमाण माने जा सकते हैं जब क्षणभेदादि के ज्ञानयुक्त विशिष्ट प्रमा के जनक हों अन्यथा अप्रमाण ही हैं। इस प्रकार इस मत में भी बौद्ध आचार्य 'अर्चट' के समान धारावाहिक ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों,

१ प्रमाणसमुच्चय पृ० ११।   २ न्यायबिन्दु टीका पृष्ठ ३।

ननु प्रमायाः कारणानि बहूनि सन्ति प्रमातृप्रमेयादीनि। तान्यपि किं करणानि उत नेति ?

प्रकार-भेद से, अभिप्रेत हैं। योगिप्रत्यक्षादि में कालभेद का ग्रहण संभव होने से उनका धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण है। और लौकिक प्रत्यक्ष में कालभेद का ग्रहण सम्भव न होने से लौकिक धारावाहिकज्ञान प्रमाण नहीं है।

इसके विपरीत श्वेताम्बर सम्प्रदाय की परंपरा में प्रत्यक्ष के लक्षण में अपूर्व या अनधिगत आदि पदों का समावेश नहीं किया गया है इसलिए वह धारावाहिक ज्ञान को, और उसी की तरह स्मृति को भी प्रमाण मानने के पक्ष में हैं। क्योंकि उनके मत से गृहीतग्राहित्व प्रामाण्य का विघातक नहीं है।

हमने अपनी 'दर्शनमीमांसा' में इस विषय को इस प्रकार सङ्कलित किया है-

धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामपि।
यथार्थत्वे मतं तेषां प्रामाण्यं गौतमे नये॥
सूक्ष्मकालकलायोगादर्थभेदं प्रकल्प्य च।
तस्यागृहीतग्राहित्वात् प्रामाण्यं भट्टसम्मतम्॥
क्षणभेदेऽर्थभेदस्य कल्पनास्मिन् मते तु या।
बौद्धानां क्षणवादस्य छायां किन्नावलम्बते॥
सूक्ष्मकालकलाभानं विना प्राभाकरैस्तथा।
अनुभूतिमात्रादेव प्रामाण्यं तस्य सम्मतम्॥
प्रमाणं योगिनामेवाप्रमाणमन्यदेव च।
हेतुबिन्दोस्तु टीकायामर्चटो बौद्ध आब्रवीत्॥
धर्मोत्तरश्च टीकायां न्यायबिन्दोस्तथैव च।
अप्रामाण्यं परो बौद्धो लिलेखाधिगते तथा॥
क्षणभेदादिवैशिष्ट्याद् योगजे च दिगम्बराः।
प्रामाण्यमन्यथात्वस्याप्रामाण्यं सम्प्रचक्षते॥
श्वेताम्बरास्तु सर्वेऽपि तत्र प्रामाण्यवादिनः।
तेनानधिगतं नैव लक्षणे तैर्निवेशितम्॥
बौद्धाः स्मृतेर्विकल्पस्य स्मृतेर्मीमांसकास्तथा।
व्यावृत्तये प्रमाणस्यागृहीतग्राहितां जगुः[1]॥

[प्रश्न] प्रमाता प्रमेय आदि प्रमा के कारण तो बहुत से हैं। वे सब भी [प्रमा के] 'करण' होते हैं अथवा नहीं ?

---

१ दर्शनमीमांसा अ० ३।

उच्यते। सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च, प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ सति, अविलम्बेन प्रमोत्पत्तेरत इन्द्रियसंयोगादिरेव करणम्। प्रमायाः साधकत्वाविशेषेऽप्यनेनैवोत्कर्षेणास्य प्रमात्रादिभ्योऽतिशयितत्वादतिशयितं साधकं साधकतमं तदेव करणमित्युक्तम्। अत इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणत्वात् प्रमाणं न प्रमात्रादि।

तानि च प्रमाणानि चत्वारि। तथा च न्यायसूत्रम् :—

'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।'[1]

इति।

[उत्तर] कहते हैं। प्रमाता और प्रमेय के होने पर भी [इन्द्रिय सन्निकर्ष के बिना] प्रमा की उत्पत्ति न होने से, और इन्द्रिय संयोगादि के होने पर अविलम्ब प्रमा की उत्पत्ति होती है इसलिए इन्द्रिय संयोगादि ही [प्रमा का] करण है। [प्रमाता प्रमेय और प्रमाण तीनों में] प्रमा के साधकत्व में [समानता होने पर भी या] भेद न होने पर भी इसी उत्कर्ष के कारण [कि इन्द्रिय संयोग के होने पर अविलम्ब प्रमा उत्पन्न हो जाती है] इस [इन्द्रिय संयोगादि] का प्रमाता आदि की अपेक्षा अतिशय होने से और अतिशय युक्त साधन के ही साधकतम होने से वही करण कहा जाता है। इसलिए प्रमा का करण होने से इन्द्रिय संयोगादि ही प्रमाण कहा जाता है। प्रमाता आदि नहीं।

और वह प्रमाण चार [प्रकार का] है जैसा कि न्यायसूत्र [में कहा] है

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द [चारों] प्रमाण हैं।

इस प्रकार प्रमाण के सामान्य लक्षण के प्रसङ्ग में १ प्रमा का लक्षण, २ करण का लक्षण, ३ कारण का लक्षण, ४ अन्यों के कारण लक्षण का खंडन, ५ कारण के त्रिविध भेद, ६ समवायिकारण असमवायिकारण निमित्तकारण के लक्षण, ७ समवाय और संयोग सम्बन्ध का निरूपण, ८ निर्गुणोत्पत्ति का निरूपण, और ९ धारावाहिक ज्ञान के प्रामाण्य का निरूपण यह सब इस प्रसक्तानुप्रसक्त रूप से ग्रन्थकार ने इस प्रकरण में दिखाने का प्रयत्न किया है। अब आगे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में से एक-एक को लेकर उसका निरूपण करेंगे। उनमें सबसे पहिले प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

---

१ न्यायसूत्र १, १, ३।

प्रत्यक्षम्

किं पुनः प्रत्यक्षम् ?

साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम् । साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा । सा च द्विधा सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात् । तस्याः करणं त्रिविधम् । कदाचिद् इन्द्रियं, कदाचिद् इन्द्रियार्थसन्निकर्षः, कदाचिज् ज्ञानम् ।

[प्रश्न] फिर प्रत्यक्ष किसको कहते हैं ?

[उत्तर] साक्षात्कारिणी प्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहते हैं। और साक्षात्कारिणी प्रमा उसको ही कहते हैं जो इन्द्रिय जन्य [प्रमा] होती है। वह दो प्रकार की है [एक] सविकल्पक और [दूसरी] निर्विकल्पक भेद से। उसके करण तीन प्रकार के हैं। १ कभी इन्द्रिय २ कभी इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष, और कभी (निर्विकल्पक) ज्ञान ।

'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग मुख्यतः, साक्षात्कारिणी प्रमा के 'करण' के लिए होना चाहिए। परन्तु उस करण से उत्पन्न होने वाली प्रमा जो उस प्रमाण का फल है वह भी 'प्रत्यक्ष' नाम से व्यवहार में कही जाती है। अन्य प्रमाणों में तो फल और करण में अलग-अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं। जैसे अनुमान प्रमाण के फल के लिए अनुमिति, उपमान प्रमाण के फल के लिए उपमिति, शब्द प्रमाण के फल के लिए शाब्दबोध, शब्दों का प्रयोग प्रायः होता है। इसलिए उनमें 'प्रमाण' और 'प्रमा' का व्यवहार भिन्न-भिन्न शब्दों से होता है। परन्तु प्रत्यक्ष स्थल में 'प्रमाण' और 'प्रमा' दोनों के लिए ही प्रत्यक्ष पद का प्रयोग होता है। इसलिए यथास्थान उसका उचित अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद किए हैं एक सविकल्पक और दूसरा 'निर्विकल्पक'। 'नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम्' अर्थात् जिसमें वस्तु के स्वरूप की प्रतीति के साथ उसके नाम जाति आदि का भी भान होता है उसको सविकल्पक कहते हैं। जैसे घटः पटः आदि की प्रतीति के साथ उनके नाम जात्यादि का भान होने से, साधारणतः व्यवहार में आने वाले सभी ज्ञान सविकल्पक के उदाहरण हैं। परन्तु जहां केवल वस्तु का स्वरूप प्रतीत होता है उसके नाम जाति आदि की प्रतीति नहीं होती उसको निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। साधारणतः हमारे सभी व्यवहार में आने वाले ज्ञान सविकल्पक ही होते हैं। इसलिए हम निर्विकल्पक ज्ञान की कल्पना नहीं कर पाते हैं। इसलिए निर्विकल्पक ज्ञान का उदाहरण विशेष रूप से बालक तथा गूंगे आदि पुरुषों के ज्ञान को बताया गया है॥

बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्'।

जैसे बालक एक घड़ी को देखता है तो उसको भी घड़ी के स्वरूप का ज्ञान उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार बड़े व्यक्ति को। जहाँ एक वस्तु के स्वरूपज्ञान का सम्बन्ध है बड़े और अत्यन्त अबोध बालक के ज्ञान में कोई अंतर नहीं है। अर्थात् अर्थ के ग्रहण काल में दोनों का ज्ञान एकसा ही होता है। परन्तु बड़ा व्यक्ति उसके नाम जाति आदि को भी जानता है अतएव व्यवहार काल में वह उसके नाम जाति का उपयोग करता है। उस अवस्था में उसका वह ज्ञान सविकल्पक हो जाता है। बालक उसके नाम जाति आदि से अनभिज्ञ है इसलिए वह नाम आदि से उसका व्यवहार नहीं कर सकता है। इस प्रकार बालक और प्रौढ़ पुरुष के ज्ञान में अर्थज्ञानकाल में कोई अंतर नहीं है अपितु व्यवहारकाल में उन दोनों में अन्तर हो जाता है। इस प्रकार बालक और मूकादि पुरुषों का ज्ञान निर्विकल्पक और अन्य प्रौढ़ पुरुषों का ज्ञान सविकल्पक ज्ञान है। अर्थ के ग्रहण काल में प्रौढ़ पुरुषों को भी बालक के ज्ञान के समान नाम जात्यादि रहित निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है। परन्तु 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्' अर्थात् सम्बन्धियों में किसी एक का ज्ञान तुरन्त ही दूसरे सम्बन्धी का स्मरण करा देता है इस नियम के अनुसार प्रौढ़ पुरुष को अर्थ का स्वरूप ज्ञान होते ही अत्यन्त शीघ्रता से उसके नाम जात्यादि का स्मरण हो जाता है। इसलिए उसका ज्ञान तुरन्त सविकल्पक रूप में परिवर्तित हो जाता है।

इस ज्ञान के कारण तीन प्रकार के बताये हैं। एक इन्द्रिय, दूसरा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और तीसरा ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान। इन तीनों के आगे चौथे सविकल्पक ज्ञान और पांचवें हानोपादानोपेक्षाबुद्धि इन दो फलों को और जोड़ लेने से पांच कड़ी की एक श्रृङ्खला बन जाती है और उस से त्रिविध करण का स्पष्टीकरण बहुत अच्छे और सरल ढंग से हो जाता है। इन पांचों में १ करण, २ अवान्तर व्यापार और ३ फल इन तीन का समावेश होता है। इन पाँच की श्रृंखला में से यदि प्रथम को करण माना जाय तो दूसरे को अवान्तर व्यापार और तीसरे को फल मानना चाहिए। इसी प्रकार यदि दूसरे को करण माना जाय तो तीसरे को अवान्तर व्यापार और चौथे को फल कहना चाहिए इसी प्रकार यदि तीसरे को करण मानेंगे तो चौथे को अवान्तर व्यापार और पांचवें को उसका फल कहना होगा। इस प्रक्रिया को ध्यान में रख लेने से त्रिविध करणों को सरलता से समझा जा सकेगा। और उनकी व्याख्या भी स्पष्ट हो जावेगी।

जब संख्या एक अर्थात् इंद्रिय को करण मानेंगे तब तीसरा अर्थात् निर्वि-

कदा पुनरिन्द्रियं करणम् ? यदा निर्विकल्पकरूपा प्रमा फलम् । तथा हि, आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन । इन्द्रियाणां वस्तुप्राप्यप्रकाशकारित्वनियमात् । ततोऽर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण निर्विकल्पकं नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञानं जन्यते । तस्य ज्ञानस्येन्द्रियं करणं, छिदाया इव परशुः । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽवान्तरव्यापारः छिदाकरणस्य परशोरिव दारुसंयोगः । निर्विकल्पकं ज्ञानं फलं, परशोरिव छिदा ।

कल्पक ज्ञान उसका फल और बीच का दूसरा अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अवान्तर व्यापार होगा । अर्थात् इन्द्रिय को कब करण कहा जायगा जब निर्विकल्पक ज्ञान को फल और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को अवान्तर व्यापार माना जाय । इसी प्रकार जब दूसरी संख्या के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को करण माना जायगा तब तीसरी संख्या के निर्विकल्पक ज्ञान को अवान्तर व्यापार और चौथी संख्या के सविकल्पक ज्ञान को फल कहा जायगा । इसी प्रकार जब तीसरी संख्या के निर्विकल्पक ज्ञान को करण कहा जायगा तब चौथी संख्या का सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और पाँचवीं संख्या की हानोपादानोपेक्षाबुद्धि फल होगी । इसी पद्धति से आगे तीन प्रकार के करणों की व्याख्या कहते हैं ।

[प्रश्न] फिर इन्द्रिय कब करण होती है ?

[उत्तर] जब [तृतीय संख्या वाला] निर्विकल्पक [ज्ञान] रूप प्रमा फल होती है । जैसे कि [पहिले १] आत्मा का मन के साथ संयोग होता है [फिर २] मन का इन्द्रिय के साथ [३] इन्द्रिय अर्थ के साथ [संयुक्त होती है] इन्द्रियों के वस्तु को प्राप्त करके [अर्थात् वस्तु से सम्बद्ध होकर] ही अर्थ को प्रकाशित [अर्थात् पदार्थ का ज्ञान करा सकती है ऐसा] करने का नियम होने से ।

तब [अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने के बाद] अर्थ से संयुक्त इन्द्रिय के द्वारा नाम जाति आदि की योजना से रहित वस्तु [के स्वरूप] मात्र का ग्रहण करने वाला यह कुछ [नाम जात्यादि रहित सी वस्तु] है इस प्रकार का निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है । उस [नाम जात्यादि योजना रहित निर्विकल्पक] ज्ञान का कारण इन्द्रिय होती है । जैसे छेदन [अर्थात् लकडी आदि के काटने की] क्रिया का [करण] फरसा [होता है] २ इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार होता है जैसे काटने के साधनभूत फरसे का [लकड़ी के काटने में [लड़की [दारु] के साथ संयोग [अवान्तर व्यापार होता है] [और ३ संख्या का] निर्विकल्पक ज्ञान फल [होता है] जैसे फरसे [रूप करण का फरसा और लकड़ी के संयोग रूप अवान्तर व्यापार द्वारा] का (फल) कटना (होता है)।

कदा पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम् ?

यदा निर्विकल्पकानन्तरं सविकल्पकं नामजात्यादियोजनात्मकं डित्थोऽयं, ब्राह्मणोऽयं, श्यामोऽयमिति विशेषणविशेष्यावगाहि ज्ञानमुत्पद्यते, तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षः करणम्। निर्विकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, सविकल्पकं ज्ञानम् फलम्।

कदा पुनर्ज्ञानं करणम् ?

यदा, उक्तसविकल्पकानन्तरं हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो जायन्ते तदा निर्विकल्पकं ज्ञानं करणम्। सविकल्पकं ज्ञानमवान्तरव्यापारः, हानादिबुद्धयः फलम्।

यहां इन्द्रिय को 'करण', निर्विकल्पक ज्ञान को 'फल' और उनके बीच में होने वाले इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को 'अवान्तर व्यापार' बताया है। अवान्तर व्यापार का लक्षण है 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः'। जो स्वयं तत् अर्थात् उस करण से जन्य हो और उस करण से जन्य = उत्पन्न होने वाले अन्य फल का जनक हो उसको 'अवान्तर व्यापार' कहते हैं। जैसे कुल्हाड़ा से लकड़ी के काटने में कुल्हाड़ी और लकड़ी का संयोग 'अवान्तर व्यापार' है। यह संयोग रूप 'अवान्तर व्यापार' तज्जन्य अर्थात् परशुजन्य है और साथ ही परशुजन्य जो छेदन रूप फल है उसका जनक भी है। इसलिए 'तज्जन्यत्वे सति' अर्थात् परशुजन्यत्वे सति 'तज्जन्यजनकः' अर्थात् परशुजन्यच्छिदाजनको दारुपरशुसंयोगोऽवान्तरव्यापारः। दारु और परशु अर्थात् कुल्हाड़ी और लकड़ी का संयोग 'अवान्तर व्यापार' है। इसी प्रकार इन्द्रियरूप करण से निर्विकल्पक ज्ञानरूप फल की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष रूप 'अवान्तर व्यापार' है। क्योंकि वह इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष स्वयं इन्द्रियजन्य है और इन्द्रियजन्य निर्विकल्पक ज्ञान का जनक है। अतः उसको 'अवान्तर व्यापार' कहते हैं।

२. और इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष कब करण होता है ?

जब निर्विकल्पक के बाद नाम-जात्यादि योजना सहित यह डित्थ है [नाम युक्त प्रतीति], यह ब्राह्मण है [जातियुक्त प्रतीति], यह श्याम है [श्याम रूप, गुणविशिष्ट प्रतीति] इस प्रकार का विशेषणविशेष्य [भाव] विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है तब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष करण, निर्विकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और सविकल्पक ज्ञान फल [होता] है।

३. और ज्ञान [निर्विकल्पक ज्ञान] कब करण होता है ?

जब उक्त सविकल्पक ज्ञान के अनन्तर [ज्ञात वस्तु के] परित्याग करने,

तज्जन्यस्तज्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः। यथा कुठारजन्यः कुठारदारु-संयोगः कुठारजन्यच्छिदाजनकः । अत्र कश्चिदाह–सविकल्पकादीनामपीन्द्रियमेव करणम् । यावन्ति त्वान्तरालिकानि सन्निकर्षादीनि तानि सर्वाण्यवान्तरव्यापार इति ।

ग्रहण करने अथवा उपेक्षा करने की बुद्धि उत्पन्न होती है तब [उस हान उपादान अथवा उपेक्षा बुद्धि रूप फल के प्रति] निर्विकल्पक ज्ञान करण [होता है] सविकल्पक ज्ञान अवान्तर व्यापार और हानादि बुद्धि फल होती है ।

इन तीनों करणों के निरूपण में 'अवान्तरव्यापार' शब्द का प्रयोग हुआ है । अत एव 'अवान्तरव्यापार' किस को कहते हैं यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है । उसके निराकरण के लिए आगे 'अवान्तरव्यापार' का लक्षण करते हैं—

[जो स्वयं] तत् अर्थात् उस [करण] से जन्य हो और तज्जन्य अर्थात् उस करण से जन्य, का जनक हो, वह अवान्तर व्यापार है । जैसे कुठारजन्य कुठार दारु [लकड़ी] का संयोग कुठार से उत्पन्न होने वाली छेदन क्रिया का जनक होता है ।

यहां [अर्थात् त्रिविध करण के प्रतिपादन होने] पर कोई कहते हैं कि सविकल्पक आदि सब ही [फलों] का करण [केवल एक] इन्द्रिय ही है और बीच के जितने हैं वे सब अवान्तर व्यापार हैं । [अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप एक अवान्तर व्यापार है । सविकल्पक की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष और निर्विकल्पक ज्ञान ये दो अवान्तर व्यापार हैं। और हानोपादान उपेक्षा बुद्धि की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान ये तीनों अवान्तर व्यापार हैं ।]

निर्विकल्पक ज्ञान के विषय में बौद्ध और जैन मत—

प्रत्यक्ष ज्ञान के इस निर्विकल्पक और सविकल्पक स्वरूप के विषय में प्रायः तीन प्रकार के सिद्धान्त दार्शनिक क्षेत्र में पाए जाते हैं । बौद्ध दार्शनिक केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं । 'दिङ्नागाचार्य' ने अपने 'प्रमाण समुच्चय' में लिखा है :—

'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्'

'दिङ्नागाचार्य' के समान ही 'धर्मकीर्ति' आदि बौद्ध आचार्यों ने भी केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष माना है । सविकल्पक को नहीं । इसके विपरीत जैन दर्शन की परम्परा में केवल सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष माना गया है निर्विकल्पक को नहीं । आचार्य हेमचन्द्र ने अपने जैन दर्शन की परम्परा के अनुसार सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानने के कारण निर्विकल्पक को 'अनध्यवसाय' रूप कह कर

---

१ प्रमाण समुच्चय १,

प्रमाद कोटि से भी बाहर रखा है। न्याय, वैशेषिक आदि वैदिक दर्शन की परम्परा में सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों को प्रत्यक्ष माना है।

'नाम-जात्यादि-योजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि ज्ञानं निर्विकल्पकम्' यह निर्विकल्पक ज्ञान का लक्षण किया गया है। अर्थात् जिस में विशेष्य विशेषण भाव आदि की प्रतीति न हो उस ज्ञान को 'निर्विकल्पक' कहते हैं। यह 'निर्विकल्पक' शब्द, न्याय, वैशेषिक आदि वैदिक परम्परा का शब्द है। इसको 'आलोचन मात्र' भी कहा गया है।

'अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्'[1]

ज्ञान की उत्पत्ति-प्रक्रिया में सर्वप्रथम इस प्रकार का वस्तुमात्रावगाहि ज्ञान उत्पन्न होता है। इसको बौद्ध और जैन परम्परा में भी माना गया है। जैन परम्परा जो निर्विकल्पक को प्रत्यक्ष नहीं मानती है वह भी इस प्रकार के ज्ञान का अस्तित्व तो स्वीकार करती है किन्तु उसको 'दर्शन' नाम से कहती है।

निर्विकल्पक ज्ञान के विषय में वैयाकरण मत—

परन्तु मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य की दो वेदान्त-परम्पराएँ और भर्तृहरि तथा उनके पूर्ववर्ती वैयाकरणों की परम्परा, ज्ञान के उत्पत्ति क्रम में किसी प्रकार के सामान्य मात्र बोध का अस्तित्व स्वीकार नहीं करती हैं। उक्त तीनों परम्पराओं में विशेष्य विशेषण भाव रहित कोई ज्ञान स्वीकार नहीं किया गया है। उनके मतानुसार प्रत्येक ज्ञान में किसी प्रकार के विशेष का भान अवश्य होता है। कहीं कम हो कहीं अधिक यह दूसरी बात है। अतएव सारा ज्ञान सविकल्पक ही होता है। और जहाँ कहीं निर्विकल्पक ज्ञान कहा जाता है वहाँ उसका इतना ही अभिप्राय होता है कि उसमें अन्यों की अपेक्षा विशेष का भान कम होता है। ज्ञान मात्र को सविकल्पक मानने वाली इन तीनों परम्पराओं में भर्तृहरि की शाब्दिक परम्परा ही प्राचीन[2] है। मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य ने सम्भवतः उस को अपना लिया है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है एक परोक्ष और दूसरा अपरोक्ष। जिस ज्ञान में कोई दूसरा ज्ञान करण होता है उसको परोक्ष कहते हैं। जैसे अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान और शाब्दबोध मे पदज्ञान करण होता है। अतएव यह तीनों 'ज्ञानकरणक ज्ञान' होने से 'परोक्ष' ज्ञान कहलाते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में कोई दूसरा ज्ञान करण नहीं होता है। अतः वह अपरोक्ष ज्ञान कहलाता है। अपरोक्ष ज्ञान का लक्षण 'ज्ञानकरणकान्यत्वमपरोक्षत्वम्' है। अर्थात् ज्ञानकरणक से भिन्न ज्ञान अपरोक्ष कहलाता है।

१ श्लोक वार्तिक १७२। २ इण्डियन बाइकालाजी पृ० ५२–५४।

निर्विकल्पक ज्ञान का अस्तित्व मानने वाले सभी लोग उसको केवल प्रत्यक्ष या अपरोक्ष मानते हैं परन्तु जैन परम्परा में जिसने निर्विकल्पक को 'दर्शन' नाम से व्यवहृत किया है इस 'दर्शन' को परोक्ष भी माना है। क्योंकि उनके यहां परोक्ष 'मतिज्ञान' को भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है।

प्रत्यक्ष के प्रकारान्तर से लौकिक और अलौकिक ये दो भेद प्रायः सभी को स्वीकृत हैं। अस्मदादि लौकिक पुरुषों का प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष है। और वह इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि कारण सामग्री के होने पर ही सम्भव है। परन्तु योगियों के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि कारण सामग्री की आवश्यकता नहीं है। योगी जब अपनी योगज सामर्थ्य से इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के बिना भी भूत, भविष्यत् , सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट सभी वस्तुओं को ग्रहण कर सकते हैं। उनका यह ज्ञान यथार्थ और साक्षात्कारात्मक निर्विकल्पक ज्ञान होता है। इस प्रकार लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के निर्विकल्पक ज्ञान और उनकी कारण सामग्री के विषय में प्रायः सभी निर्विकल्पकवादी एक मत हैं।

परन्तु शाङ्कर वेदान्त में इस कारण सामग्री के विषय में एक नवीन मत प्रस्तुत किया गया है। अन्य कोई दर्शन प्रत्यक्ष को छोड़कर अनुमानादि अन्य किसी प्रमाण से अपरोक्ष ज्ञान अथवा निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानते हैं। परन्तु शाङ्कर वेदान्त में 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य से अपरोक्ष निर्विकल्पक की उत्पत्ति मानी है। और इसका उपपादन करने के लिए 'दशमस्त्वमसि' यह लौकिक उदाहरण दिया है। कोई व्यक्ति अपने साथियों की गणना करता है वह एक से लेकर नौ तक हर एक व्यक्ति को गिन जाता है परन्तु उसके दसवें साथी का उसको पता नहीं चलता है। तब उसको कोई दूसरा व्यक्ति बताता है कि 'दशमस्त्वमसि'। इस वाक्य को सुनकर जैसे दशम व्यक्ति रूप में उसको स्वयं अपना अपरोक्ष ज्ञान होता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों में भी शब्द प्रमाण से अपरोक्ष निर्विकल्पक ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार शाङ्कर वेदान्त में शब्द प्रमाण को भी अपरोक्ष निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति का कारण माना है।

निर्विकल्पक के प्रमाण्याप्रामाण्य विषयक द्विविध न्याय मत—

निर्विकल्पक ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में भी जैसा कि ऊपर लिख आए हैं कई पक्ष हैं। बौद्ध दर्शन तथा वेदान्त दर्शन तो निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं और उनके अनुसार निर्विकल्प ही मुख्यतः प्रमाण है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों को ही प्रमाण माना है।

इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षड्विध एव। तद्यथा, संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः विशेष्यविशेषणभावश्चेति ।

तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं, घटोऽर्थः ।

परन्तु उनमें भी नव्य और प्राचीन भेद से कुछ मतभेद है । प्राचीन परम्परा के अनुसार निर्विकल्पक को प्रमा रूप माना जाता है । जैसा कि श्रीधराचार्य ने 'कन्दली' के पृष्ठ १९८ पर स्पष्ट किया है । परन्तु नव्य न्याय में आकर निर्विकल्पक ज्ञान के प्रमात्व विषय में दो प्रकार के मत हो गए हैं । 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' की कारिका १३४ में 'भ्रमभिन्नं ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा' यहां भ्रम भिन्न ज्ञान को प्रमा कहा है । इससे निर्विकल्पक ज्ञान भी भ्रम भिन्न होने से प्रमा श्रेणी में आ जाता है । अर्थात् विश्वनाथ को निर्विकल्पक ज्ञान का प्रमात्व अभीष्ट है ।

परन्तु नव्य न्याय के प्रमुख व्यवस्थापक गङ्गेशोपाध्याय के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान न प्रमा कहा जा सकता है और न अप्रमा । क्यों कि उनके यहाँ प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों प्रकारता [विशेषणता] आदि घटित ज्ञान हैं और निर्विकल्पक ज्ञान प्रकारतादि शून्य है । इसलिए वह प्रमा और अप्रमा दोनों से विलक्षण है । इस नव्य मत का उल्लेख करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है:—

'अथवा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम् ।
तत्प्रमा, न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥
प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्'[2] ।

अर्थात् प्रमात्व और अप्रमात्व दोनों प्रकारतादि [विशेषणता आदि] घटित ज्ञान में रहते हैं और निर्विकल्पक ज्ञान प्रकारतादि से शून्य होता है । इसलिए निर्विकल्पक ज्ञान को न प्रमा कहा जा सकता है और न अप्रमा कहा जा सकता है इसलिए वह दोनों से विलक्षण है ।

इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान अनेक रूपों में दार्शनिओं की चर्चा का विषय रहा है ।

[प्रत्यक्ष का करणभूत] इन्द्रिय और अर्थ का जो सन्निकर्ष साक्षात्कारिप्रमा का हेतु है वह छः प्रकार का ही है । १ संयोग, २ संयुक्तसमवाय, ३ संयुक्तसमवेतसमवाय, ४ समवाय, ५ समवेत समवाय और ६ विशेष्यविशेषणभाव ।

१ उनमें, जब चक्षु से घटविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है तब चक्षुः इन्द्रिय, और घट अर्थ [होता है और] इन दोनों का सन्निकर्ष संयोग ही [होता] है ।

१—२ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली का० १३४, १३५, १३६ ।

अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव, अयुतसिद्ध्यभावात्। एवं मनसाऽन्तरिन्द्रियेण यदात्मविषयकं ज्ञानं जन्यतेऽहमिति, तदा मन इन्द्रियम्, आत्माऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव।

कदा पुनः संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादिकं गृह्यते घटे श्यामं रूपमस्तीति, तदा चक्षुरिन्द्रियं, घटरूपमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवाय एव। चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। एवं मनसाऽऽत्मसमवेते सुखादौ गृह्यमाणे, अयमेव सन्निकर्षः।

घटगतपरिमाणादिग्रहे चतुष्टयसन्निकर्षोऽप्यधिकं कारणमिष्यते। सत्यपि संयुक्तसमवाये तदभावे दूरे परिमाणाद्यग्रहणात्। चतुष्टयसन्निकर्षो

अयुतसिद्धि का अभाव होने से [अर्थात् यदि चक्षुः और घट अयुतसिद्ध होते तो उनका परस्पर समवाय सम्बन्ध होता। परन्तु यह दोनों अयुतसिद्ध नहीं हैं इसलिए उनका सम्बन्ध संयोग ही है]

इसी प्रकार अन्तःकरण मन से जब आत्मविषयक ज्ञान होता है तब मन, इन्द्रिय और आत्मा अर्थ [होता है और] इन दोनों का सम्बन्ध संयोग ही होता है। [यह दो उदाहरण संयोग सन्निकर्ष के दिये। इनमें से प्रथम बाह्येन्द्रिय के सन्निकर्ष का और दूसरा अन्तरिन्द्रिय अन्तःकरण–मन–के सन्निकर्ष का है। आगे संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष के भी इसी प्रकार के दो उदाहरण देते हैं]

२ [प्रश्न] फिर संयुक्तसमवाय का सन्निकर्ष कब होता है ?

[उत्तर] जब चक्षुः आदि [इन्द्रिय] से घटगत रूपादिक [गुण] का ग्रहण होता है कि घट में श्याम रूप है तब चक्षुः इन्द्रिय [और] घटरूप अर्थ [होता है] और इन दोनों का सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवाय' ही होता है। चक्षु से संयुक्त घट में रूप का समवाय होने से [चक्षु इन्द्रिय और घटरूप अर्थ का 'संयुक्त-समवाय' सन्निकर्ष होता है।]

इसी प्रकार [अन्तरिन्द्रिय] मन से आत्मा में रहने वाले सुखादि [गुणों] के ग्रहण होने पर यह [संयुक्तसमवाय] सन्निकर्ष ही होता है।

[घटगत रूपादि गुणों के समान घटगत परिमाणादि का ग्रहण भी 'संयुक्त समवाय' सम्बन्ध से ही होता है परन्तु] घटगत परिमाण आदि के ग्रहण में [इन्द्रिय और अर्थ दोनों के अवयव, दोनों के अवयवी, पहिले का अवयव और दूसरे का अवयवी या दूसरे का अवयव और पहिले का अवयवी इस प्रकार इन चार के] 'चतुष्टय सन्निकर्ष' को भी अतिरिक्त कारण मानना अभीष्ट है।

यथा । इन्द्रियावयवैरर्थावयविनाम् ।, २ इन्द्रियावयविनामर्थावयवानाम् । ३ इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम् । ४ अर्थावयविनामिन्द्रियावयविनां सन्निकर्ष इति ।

यदा पुनश्चक्षुषा घटरूपसमवेतं रूपत्वादिसामान्यं गृह्यते, तदा चक्षुरिन्द्रियं, रूपत्वादिसामान्यमर्थः, अनयोः सन्निकर्षः संयुक्तसमवेतसमवाय एव । चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं, तत्र रूपत्वस्य समवायात् ।

कदा पुनः समवायः सन्निकर्षः ?

यदा श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दोऽर्थः, अनयोः सन्निकर्षः समवाय एव । कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः श्रोत्रम् । श्रोत्रस्या-

---

[क्योंकि] उस [चतुष्टय सन्निकर्ष] के अभाव में [परिमाण आदि के साथ चक्षुः का] संयुक्त समवाय [सम्बन्ध] होने पर भी दूर में [पदार्थ के] परिमाणादि का [ठीक] ग्रहण नहीं होता [इसलिए परिमाणादि के ग्रहण में 'संयुक्तसमवाय' के अतिरिक्त 'चतुष्टय सन्निकर्ष' को भी कारण मानना आवश्यक है ।]

[वह] 'चतुष्टय सन्निकर्ष' [इसी प्रकार होगा] जैसे १ इन्द्रियावयव और अर्थावयवी का सन्निकर्ष] २ इन्द्रिय अवयवी के साथ अर्थ के अवयवों का । ३ इन्द्रिय के अवयवों के साथ अर्थ के अवयवों का और ४ इन्द्रिय अवयवी और अर्थावयवी का सन्निकर्ष ।

३ जब चक्षुः से घटरूप में समवेत रूपत्व आदि सामान्य का ग्रहण किया जाता है तब चक्षुः इन्द्रिय, रूपत्वादि सामान्य अर्थ और उन दोनों का सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवेतसमवाय' ही होता है । क्योंकि चक्षुः से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से रहता है और उस [रूप] में रूपत्व [जाति] का समवाय [सम्बन्ध] है । [इसलिए रूपत्व जाति के साथ चक्षुः का परम्परया 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सम्बन्ध हुआ]

४ फिर 'समवाय' सन्निकर्ष कब होता है ?

जब श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है तब श्रोत्र इन्द्रिय और शब्द अर्थ [होता] है, और इन दोनों का सम्बन्ध समवाय ही [होता] है । [क्योंकि] कर्णशष्कुली [अर्थात् शष्कुली कचौड़ी के आकार का बना जो कर्ण का बाह्य गोलक उस] से घिरा हुआ [उसका मध्यवर्त्ती] आकाश श्रोत्र है । [अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय आकाश स्वरूप ही है आकाश से अतिरिक्त नहीं] । इसलिए श्रोत्र के आकाश रूप होने से और शब्द के आकाश का गुण होने तथा गुण गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से ['कर्णशष्कुली-अवच्छिन्न 'आकाश' रूप

काशात्मकत्वाच्छब्दस्य चाकाशगुणत्वाद् गुणगुणिनोश्च समवायात् ।

कदा पुनः समवेतसमवायः सन्निकर्षः ?

यदा पुनः शब्दसमवेतं शब्दत्वादिकं सामान्यं श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते, तदा श्रोत्रमिन्द्रियं, शब्दत्वादि सामान्यमर्थः । अनयोः सन्निकर्षः समवेत-समवाय एव । श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात् ।

कदा पुनर्विशेष्यविशेषणभाव इन्द्रियार्थसन्निकर्षो भवति ?

यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते 'इह भूतले घटो नास्ति' इति, तदा विशेष्यविशेषणभावः सम्बन्धः । तदा चक्षुःसंयुक्तस्य भूतलस्य

श्रोत्रेन्द्रिय के साथ आकाश के गुणरूप शब्द का गुणगुणिभाव मूलक समवाय सम्बन्ध होने से श्रोत्र के शब्द का ग्रहण समवाय सम्बन्ध से ही होता है ।]

५ [प्रश्न] फिर 'समवेतसमवाय' सन्निकर्ष कब होता है ?

[उत्तर] फिर जब शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्दत्व आदि सामान्य [जाति] का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है तब श्रोत्र इन्द्रिय और शब्दत्व आदि सामान्य अर्थ [है] इन दोनों का सन्निकर्ष 'समवेतसमवाय' ही [होता है]। श्रोत्र [इन्द्रिय] में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले शब्द में शब्दत्व [जाति] का समवाय [सम्बन्ध] होने से। [श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दत्व जाति का ग्रहण समवेत समवाय सम्बन्ध से ही होता है ।]

६ [प्रश्न] फिर 'विशेष्य विशेषणभाव' [नामक] इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष कब होता है ?

[उत्तर] जब चक्षु से संयुक्त भूतल में, 'यहाँ भूतल से घट नहीं है' इस प्रकार घटाभाव का ग्रहण होता है तब विशेष्य विशेषणभाव सम्बन्ध होता है । तब चक्षु से संयुक्त भूतल का घटाभाव विशेषण होता है [और] भूतल विशेष्य होता है ।

इस प्रकार इन्द्रिय-सम्बद्ध भूतल में घटाभाव के विशेषण होने से घटाभाव के साथ इन्द्रिय का परम्परा से 'इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता' सम्बन्ध होता है । इसी प्रकार जब 'भूतलनिष्ठः घटाभावः' इस प्रकार की प्रतीति होती है तब घटाभाव के साथ 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यता' सम्बन्ध होता है । इस प्रकार इन्द्रिय का अभाव के साथ कहीं 'इन्द्रियसम्बद्धविशेष्यता' और कहीं 'इन्द्रियविशेषणता' सम्बन्ध होता है । इसी को संक्षेप में 'विशेष्यविशेषणभाव' सम्बन्ध कहा है ।

विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध के अन्तर्गत एक कोई और भी सम्बन्ध होना आवश्यक है । जैसे 'घटवत् भूतलम्' इस प्रतीति में भूतल विशेष्य है और घट

घटाद्यभावो विशेषणं, भूतलं विशेष्यम्। यदा च मनःसंयुक्त आत्मनि सुखाद्यभावो गृह्यते 'अहं सुखरहित' इति, तदा मनःसंयुक्तस्यात्मनः सुखाद्यभावो विशेषणम्। यदा श्रोत्रसमवेते गकारे घत्वाभावो गृह्यते तदा श्रोत्रसमवेतस्य गकारस्य घत्वाभावो विशेषणम्।

तदेवं संक्षेपतः पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्धविशेषणविशेष्यभावलक्षणेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण अभाव इन्द्रियेण गृह्यते।

उसका विशेषण है। भूतल और घट का संयोग संबन्ध है। इस लिये भूतल में घट संयोग सम्बन्ध से विशेषण है, यह कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'पटवन्तस्तन्तवः' इस प्रतीति में तन्तु विशेष्य है पट विशेषण है। इन दोनों का समवाय सम्बन्ध है। इसलिए तन्तु में पट समवाय सम्बन्ध से विशेषण है। इस प्रकार विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध के अन्तर्गत कोई एक सम्बन्ध और होना चाहिए। वह सम्बन्ध ऊपर गिनाए हुए सम्बन्धों में से ही कोई हो सकता है। ऊपर इन्द्रिय और अर्थ के छः प्रकार के सम्बन्ध गिनाए हैं। इनमें से एक तो स्वयं विशेष्यविशेषण भाव ही है। इसलिए उसको छोड़कर शेष पाँच सम्बन्ध और रह जाते हैं जो इस विशेष्यविशेषण भाव सम्बन्ध के नियामक हो सकते हैं इसलिए उन पञ्चविध सम्बन्धों में से अन्यतम सम्बन्ध से घटादि विशेषण भूतलादि विशेष्य के साथ सम्बद्ध हो सकते हैं। और जिस सम्बन्ध से घटादि भाव पदार्थ भूतलादि में विशेषण होते हैं उन घटादि का अभाव भी उसी सम्बन्ध से भूतल आदि में विशेषण होता है। इसलिए पूर्वोक्त पञ्चविध सम्बन्ध में से अन्यतम सम्बन्ध द्वारा घटाभावादि भूतलादि में विशेष्य या विशेषण हो सकते हैं। इसी विशेष्यविशेषण भाव से चक्षुः आदि द्वारा घटाभावादि का ग्रहण होता है। ऊपर संयोग सम्बन्ध का उदाहरण दिया था, आगे समवायादि सम्बन्ध के भी उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करेंगे।

और जब मन से संयुक्त आत्मा में सुखादि [गुणों] का अभाव 'मैं सुखरहित हूँ' इस रूप में गृहीत होता है तब मन से संयुक्त आत्मा में सुखाभाव [समवाय सम्बन्ध से] विशेषण होता है। [और] जब श्रोत्र में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गकार में घत्व आदि [जाति] का अभाव गृहीत होता है तब श्रोत्रसमवेत गकार का घत्वाभाव [समवेत समवाय सम्बन्ध से] विशेषण होता है। [और उनका ग्रहण विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध से होता है]

इस प्रकार संक्षेप में [१ संयोग, २ संयुक्तसमवाय, ३ संयुक्तसमवेतसमवाय, ४ समवाय और ५ समवेतसमवाय इन] पांच प्रकार के सम्बन्धों में किसी एक

एवं समवायोऽपि । चक्षुःसम्बद्धस्य तन्तोर्विशेषणभूतः पटसमवायो गृह्यते 'इह तन्तुषु पटसमवाय' इति ।

तदेवं षोढा सन्निकर्षो वर्णितः । संग्रहश्च—

अक्षजा प्रमितिर्द्वेधा सविकल्पाविकल्पिका ।
करणं त्रिविधं तस्याः सन्निकर्षश्च षड्विधः ।।
घट-तन्नील—नीलत्व-शब्द-शब्दत्वजातयः ।
अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः ।।

सम्बन्ध से सम्बद्ध विशेष्यविशेषणभाव रूप इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से अभाव का इन्द्रिय द्वारा [ही] ग्रहण किया जाता है ।

इसी प्रकार समवाय भी [विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध द्वारा] इन्द्रिय से ही गृहीत होता है । चक्षु से संयुक्त तन्तु का विशेषणभूत पटसमवाय 'इन तन्तुओं में पटसमवाय [सम्बन्ध से] है' इस [प्रतीति] में [विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध से] गृहीत होता है ।

इस प्रकार छः प्रकार के सन्निकर्ष का वर्णन किया गया । और [इस सब] विषय का [संग्रह] संक्षेप [इस प्रकार] है ।

[इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न] इन्द्रियजन्य [प्रत्यक्ष] प्रमिति दो प्रकार की है एक सविकल्पक और दूसरा निर्विकल्पक । उस [प्रत्यक्ष प्रमा] के करण [१ कभी इन्द्रय २ कभी इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष, और ३ कभी निर्विकल्पक ज्ञान] तीन प्रकार के हैं और [इन्द्रिय तथा अर्थ का] सन्निकर्ष [१ संयोग, २ संयुक्तसमवाय, ३ संयुक्तसमवेतसमवाय, ४ समवाय, ५ समवेतसमवाय और ६ विशेष्यविशेषणभाव] छः प्रकार का है ।

[इस छः प्रकार के सन्निकर्ष से क्रमशः] १ घट [का १ संयोग सम्बन्ध से] [घट] में रहने वाले नील [रूप गुण का ग्रहण संयुक्तसमवायसम्बन्ध से और उस नील गुण में रहने वाली जाति] नीलत्व [का ३ संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से तथा] शब्द [रूप गुण का कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश रूप श्रोत्र से समवाय सम्बन्ध से] और [उस शब्द में रहने वाली] शब्दत्व जाति [का समवेतसमवाय सम्बन्ध से] तथा अभाव और समवाय [का विशेष्य-विशेषणभाव से] का छः सम्बन्धों से [यथाक्रम] ग्रहण होता है ।

अलौकिक सन्निकर्ष—

ऊपर जिन छः प्रकार के इन्द्रियार्थसन्निकर्षों का वर्णन किया है वे सब लौकिक सन्निकर्ष हैं । इनके अतिरिक्त तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष भी

माने गये हैं। १ 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' २ 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति और ३ 'योगज प्रत्यासत्ति'। इनका वर्णन करते हुये 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार' श्री विश्वनाथ ने लिखा है—

'अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा[1]॥'

१ इनमें से योगज सन्निकर्ष सबसे अधिक स्पष्ट है। योगियों को भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष हो सकता है। व्यवहित, भूत, भविष्यत् आदि की वस्तुओं के साथ लौकिक इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं बन सकता है अतएव वहां योगज सामर्थ्य से अलौकिक इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष हो जाता है। वह भी 'युक्त' और 'युञ्जान' भेद से दो प्रकार का होता है। 'युक्त' योगी को सर्वदा भान होता है और 'युञ्जान' को चिन्ता करने से अर्थ का भान होता है।

'युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः[2]।'

२ 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' का उदाहरण 'सुरभि चन्दनखण्डम्' यह ज्ञान है। एक दिन बाजार में किसी ने चन्दन के टुकड़े को सूँघकर परीक्षा कर निश्चय कर लिया कि यह सुगंधित चंदन का टुकड़ा है। दूसरे दिन किसी ग्राहक ने वह चंदन का टुकड़ा उस व्यक्ति को दिखलाकर उसके विषय में उसकी सम्मति पूछी। तो उसने दूर से ही उसको देखकर कहा कि यह सुगन्धित चन्दन है। यहाँ उसने चंदन को आँख से तो देखा। परन्तु इस समय उसकी गन्ध को घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया है फिर भी 'सुरभि चन्दनखण्डम्' यह प्रतीति हो रही है। इस प्रतीति में चन्दन, उसमें रहने वाली चन्दनत्व जाति, और उसके सौरभ गुण, इन तीनों का प्रत्यक्ष होता है इसमें से चंदन के साथ चक्षु का संयोग सम्बन्ध, और चन्दनत्व सामान्य के साथ संयुक्तसमवाय सम्बन्ध होता है। यह दोनों लौकिक सन्निकर्ष के अन्तर्गत ही हैं। परंतु सौरभ के साथ तो चक्षु का लौकिक सन्निकर्ष नहीं बन सकता है। अतएव उसके साथ 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' रूप अलौकिक सन्निकर्ष बनता है। यहाँ चक्षु का और सौरभ का चक्षुःसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानरूपेण' अथवा 'चक्षुःसंयुक्तात्मसमवेतसंस्काररूपेण' अर्थात् चक्षु से संयुक्त जो मन उससे संयुक्त जो आत्मा उस आत्मा में समवेत जो सौरभ गुण का ज्ञान अथवा उस सौरभज्ञान से उत्पन्न संस्कार के द्वारा चक्षुः से ही उस सौरभ का अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा ग्रहण हो जाता है। इसलिये सौरभ के चक्षु का विषय

१, २ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ६३, ६६।

न होने पर भी ऐसे स्थल में 'सुरभि चन्दनखण्डम्' इस ज्ञान को चाक्षुष प्रत्यक्ष मानते हैं। इसी के लिये नैयायिक 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' स्वीकार करते हैं।

२ तीसरी 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' मानी जाती है। जब हम एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो उस प्रकार की समस्त वस्तुओं को अपने-आप समझ लेते हैं। हर एक वस्तु के ज्ञान के लिये अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। उनमें रहने वाले सामान्य धर्म के द्वारा एक वस्तु के ज्ञान से ही सजातीय समस्त वस्तुओं का सामान्य ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान सामान्य के आधार पर होता है इसलिये अन्य पदार्थों के साथ लौकिक सन्निकर्ष न होने पर भी सामान्य द्वारा उन सबके साथ अलौकिक सन्निकर्ष हो जाने से उन सबका ज्ञान हो सकता है। जैसे महानस में धूम और वह्नि को देखते हैं। तो वहाँ धूमत्व सामान्य से समस्त धूमों का और वह्नित्व सामान्य से समस्त वह्नियों का प्रत्यक्ष हो जाता है। तब ही धूम सामान्य और वह्नि सामान्य की व्याप्ति का ग्रहण होता है। इसके लिये 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' को भी एक अलौकिक सन्निकर्ष माना है।

सामान्य-लक्षणा और ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति में परस्पर यह भेद है कि सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति में धूमत्व और वह्नित्व रूप सामान्य के आश्रयभूत जो धूम और वह्नि हैं उनके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है और सामान्य के द्वारा ही व्यवहित विप्रकृष्ट या अतीत, अनागत धूम और वह्नि रूप आश्रय के साथ भी सन्निकर्ष होता है। परन्तु ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति में आश्रय के साथ नहीं अपितु जिसका ज्ञान होता है उसी के साथ सन्निकर्ष होता है। 'सुरभि चन्दनखण्डम्' इस प्रतीति में चन्दनखण्ड के साथ नहीं अपितु साक्षात् सौरभ के साथ ही 'ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति' से चक्षु का सन्निकर्ष होता है। और सामान्यलक्षणा के स्थल में धूमत्व और वह्नित्व सामान्य के साथ नहीं अपितु उनके आधारभूत धूम और वह्नि के साथ सामान्य द्वारा इन्द्रिय का अलौकिक सन्निकर्ष होता है। जैसा कि कहा भी है।

'आसत्तिराश्रयाणान्तु सामान्यज्ञानमिष्यते।
विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः[1]॥'

ज्ञानलक्षणा और सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के विषय में सब लोग एक मत नहीं हैं। स्वयं नैयायिकों में भी रघुनाथ शिरोमणि आदि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति को नहीं मानते हैं। परन्तु सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति मानने वालों का कहना है कि यदि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति न मानी जाय तो 'धूमो वह्निव्याप्यो

१ न्यायमुक्तावली ६५

न वा' इस प्रकार का संशय ही नहीं बन सकता है। क्योंकि वर्तमान धूम और वह्नि का तो सबन्ध गृहीत ही है। उनमें व्यभिचार शङ्का हो ही नहीं सकती। और कालान्तर देशान्तर के धूम का ग्रहण 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' द्वारा ही हो सकता है अतएव 'सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति' अवश्य माननी चाहिए। इसी लिए आचार्य पक्षधर मिश्र ने 'सामान्यलक्षणा' को न मानने वाले श्रीरघुनाथ शिरोमणि का, जो कि काणे थे, उपहास करते हुए कहा थाः—

'वक्षोजपानकृत् काण ! संशये जाग्रति स्फुटे।
सामान्यलक्षणा कस्मादकस्मादपलप्यते ॥'

तर्कभाषाकार ने केवल षोढा लौकिक सन्निकर्ष का ही प्रतिपादन किया है। अधिक क्लिष्ट होने से त्रिविध अलौकिक सन्निकर्ष का प्रतिपादन किया है। हमने अपनी 'दर्शनमीमांसा' में इस त्रिविध अलौकिक सन्निकर्ष का निरूपण इस प्रकार किया है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षं दर्शयति—

'[1]न्यायादौ प्राप्यकारित्वमिन्द्रियाणां यदिष्यते।
तदिन्द्रियार्थसम्बन्धजिज्ञासां सन्तनोति वै ॥
लौकिकोऽलौकिकश्चेति स तु तावद् द्विधाकृतः।
षड्विधो लौकिकस्तत्र त्रिविधश्चास्त्यलौकिकः ॥

अलौकिकं सन्निकर्षं त्रिधा विभजते—

ज्ञानलक्षणसम्बन्धस्तथा सामान्यलक्षणः ।
योगजश्चेति विज्ञेयस्त्रिविधोऽयमलौकिकः ॥

तत्र ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिं दर्शयति—

चन्दनग्रहणे दूरात् सौरभं यत्तु गृह्यते।
ज्ञानलक्षणसम्बन्धजन्यं तच्चाक्षुषं मतम् ॥
ज्ञानं गुणो निरंशोऽतो नांशभेदोऽत्र विद्यते।
सौरभांशे स्मृतिर्नातो चाक्षुषं ज्ञानलक्षणात् ॥

सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिं दर्शयति—

धूमादिसहचारोऽयं सर्वधूमादिगोचरः ।
सन्, व्याप्तिं ग्राहयेत् तस्मान्मता सामान्यलक्षणा ॥
सर्वाग्निसहचारोऽयं धूमेष्वखिलकेषु च ।
कथं गृह्येत सामान्यलक्षणा चेन्न मन्यते ॥

---

१ दर्शन मीमांसा ४।

धूमश्च वह्निव्याप्योऽयं न वेत्येवं हि संशयः ।
नोपपद्येत सामान्यलक्षणा चेन्न सम्भवेत् ॥
अत एव पुरा गीतं पद्यं पक्षधरैरिदम् ।
श्रीमन्तं रघुनाथं तु समुद्दिश्य विनोदतः ॥
'वक्षोजपानकृत् काण ! संशये जाग्रति स्फुटे ।
सामान्यलक्षणा कस्मादकस्मादपलप्यते ॥

योगजप्रत्यासत्तिं दर्शयति—

सूक्ष्मे व्यवहिते दूरेऽतीतेऽर्थेऽनागते तथा ।
प्रत्यक्षं योगिनां ज्ञेयं सन्निकर्षात्तु योगजात्[1] ॥

चाक्षुषप्रत्यक्ष का वैज्ञानिक प्रकार ।

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से अर्थ का ग्रहण होता है । इस प्रसङ्ग में चक्षु के साथ घटादि अर्थों के सन्निकर्ष को लेकर बहुत चर्चा हुई है । चक्षु शरीर देश में होती है और घटादि अर्थ शरीर से अलग भिन्न देश में होते हैं । ऐसी दशा में उन दोनों का सम्बन्ध कैसे होता है ? न तो अर्थ उठकर चक्षु के पास आता है और न चक्षु चलकर घटादि अर्थ के पास जाती दीखती है । तब उनका संयोग कैसे होता है । इस विषय में आधुनिक 'प्रकाश विज्ञान' का सिद्धान्त यह है कि प्रकाश की जो किरणें पदार्थ पर पड़ती हैं वे वहाँ से प्रतिक्षिप्त होकर देखने वाले की आँख तक पहुँचती हैं और देखने वाले के नेत्र की कनीनिका के भीतर से जाकर 'रेटीना' नामक केन्द्र पर पदार्थ का प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती हैं । इसी से पदार्थ का दर्शन होता है । 'प्रकाश विज्ञान' का यह भी सिद्धान्त है कि सामान्यतः प्रकाश की किरणें बिल्कुल सीधी चलती हैं । परन्तु जब उनकी गति के माध्यम में घन और विरल भाव का अन्तर होता है तब किरणों का मार्ग एक नियम के अनुसार उस स्थान पर बनने वाले 'लम्ब' की ओर या उससे दूर होता जाता है । यह किरणों का वक्रीभवन एक विशेष बिन्दु जिसे वह 'क्रान्तिबिन्दु' [क्रिटिकल प्वाइंट] कहते हैं, तक होता है । उस बिन्दु पर पहुँच कर किरण फिर उतने ही अंश का कोण बनाते हुए उल्टी प्रतिक्षिप्त होने लगती है। इस प्रक्रिया का प्रयोग विशेषरूप से 'मरुमरीचिका' के उदाहरण में होता है । मरुस्थल में अत्यधिक गर्मी के समय यात्री आदि को रेत में भी पानी दीखने लगता है। ऐसे अवसर पर वास्तविक पानी तो नहीं दीखता है

१ दर्शन मीमांसा ४ ।

परन्तु प्रकाश की किरणों के 'माध्यम' रूप वायुमण्डल में अत्यन्त वेग से परिवर्तन होने से उक्त 'वक्रीभवन' नियम के अनुसार किरणों के मार्ग में परिवर्तन होने के कारण वृक्ष आदि का उलटा प्रतिबिम्ब दीखने लगता है। जैसा कि निम्नांकित चित्र से प्रकट होगा।
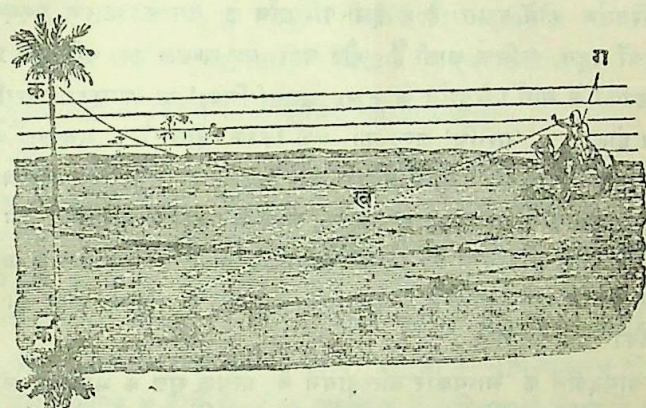
मरु मरीचिका

इस चित्र में बाईं ओर एक वृक्ष खड़ा है। इस वृक्ष के ऊपर के भाग से प्रतिक्षिप्त होकर जो प्रकाश की किरण चलती है वह रेगिस्तान की वायु के माध्यम में अति वेग से परिवर्तन होने के कारण अपने मार्ग से विचलित होते-होते 'क्रान्तिबिन्दु' तक जा पहुँचती है। और फिर वहाँ से 'प्रतिक्षेप नियम' के अनुसार उतने ही अंश का कोण बनाते हुए प्रतिक्षिप्त होकर दूसरी ओर देखने वाले की आँख में पहुँचती है। देखने वाला अभ्यासवश जिधर से किरण आ रही है उसकी सीध में अर्थ को देखता है जिसका परिणाम यह होता है कि वृक्ष का पत्तों वाला ऊपर का भाग नीचे की ओर दीखता है और नीचे का जड़ वाला भाग इसी प्रक्रिया से उसे ऊपर दीखने लगता है। अर्थात् वृक्ष उलटा दीखता है। तब देखने वाले को यह प्रतीत होता है कि मानो पानी में पेड़ का उलटा प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। इसीसे वह पानी समझ कर वहाँ जाता है परन्तु पानी नहीं पाता है। यह 'मरुमरीचिका' की वैज्ञानिक प्रक्रिया मानी जाती है।

मरुस्थल के वायुमण्डल में जो अत्यन्त शीघ्रता से परिवर्तन होता है उसका कारण गर्मी की अधिकता ही होती है। मरुभूमि के अत्यधिक उष्ण होने के कारण जो वायु भूतल का स्पर्श करती है वह तुरन्त उष्ण हो जाती है। विज्ञान के साधारण नियम के अनुसार गर्मी से वस्तु हल्की हो जाती है। और

हल्की वस्तु सदा ऊपर रहती है। इसलिये गर्म वायु भी हल्की होकर ऊपर जाने लगती है और उसका स्थान लेने के लिए ऊपर की ठंडी वायु नीचे जाने लगती है। परन्तु नीचे आकर भूमि का स्पर्श होते ही वह भी गर्म और हल्की होकर ऊपर जाने लगती है। इस प्रकार वायुमण्डल में अत्यन्त शीघ्रता से परिवर्तन होने लगता है। इसी परिवर्तन के वेग के कारण मरुस्थल में आंधियाँ बहुत अधिक आती हैं और यही वायुमण्डल का परिवर्तन प्रकाश की किरणों के मार्ग परिवर्तन के द्वारा 'मरुमरीचिका' या 'मृगतृष्णा' आदि का कारण होता है। 'मरीचि' शब्द का अर्थ किरण होता है। मरुस्थल के वृक्ष आदि से प्रतिक्षिप्त होने वाली प्रकाश की किरणों के मार्ग के 'माध्यम' में घन विरल भाव के तारतम्य से उनकी गति में क्रमिक परिवर्तन द्वारा वृक्ष आदि का उल्टा प्रतिबिम्ब सा दीखने लगने के कारण ही मरुस्थल में जल की मिथ्या प्रतीति होने लगती है। इसीलिए उस जल के मिथ्या ज्ञान को 'मरु-मरीचिका' कहा जाता है।

न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने प्रत्यक्ष सूत्र के भाष्य में लगभग इसी रूप में 'मरुमरीचिका' का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

'ग्रीष्मे[1] मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्नि-कृष्यन्ते। तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षादुदकमिति ज्ञानमुत्पद्यते। तत्प्रत्यक्षं प्रसज्यते अत आह अव्यभिचारीति'।

अर्थात् ग्रीष्मकाल में पृथिवी की गर्मी के कारण अपने मार्ग से विचलित होकर प्रकाश की किरणें दूरस्थ पुरुष की आँखों में पहुँचती हैं। इसके कारण उसको वहाँ जल का ज्ञान होता है। यह ज्ञान व्यभिचारी ज्ञान है। वह प्रत्यक्ष की श्रेणी में न आ जाय इसलिए सूत्रकार ने प्रत्यक्ष के लक्षण में अव्य-भिचारी पद का ग्रहण किया है।

भाष्यकार ने प्रकाश की किरणों के मार्ग परिवर्तन के लिए 'स्पन्दमानाः' पद का प्रयोग किया है। 'स्पदि' धातु जिससे 'स्पन्दमाना' पद बना है, का अर्थ 'स्पदि किंचिच्चलने' है। अर्थात् प्रकाश की किरणों में परिवर्तन माध्यम के परिवर्तन के अनुसार थोड़ा-थोड़ा होता है इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि 'प्रकाश विज्ञान' का यह सिद्धान्त प्राचीन आचार्यों को भी विदित था।

हमने अपनी दर्शनमीमांसा में इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष देश की चर्चा करते हुए इस विषय में लिखा है—

---

१ न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य १, १, ४।

इन्द्रियेण सहार्थस्य सम्बन्धः कुत्र जायते।
अक्षदेशेऽर्थदेशे वा व्यवस्था चात्र भिद्यते॥
चक्षुषो गमनं केचिदर्थदेशे तु मन्वते।
इन्द्रियान्तरदेशे च सम्बद्धं विषयान्तरम्॥
प्रकाशस्य तु रश्मीनां प्रतिक्षेपात् पदार्थतः।
चक्षुषि प्राप्यकृद्योगं विज्ञानं मनुते तथा॥

चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषय में सांख्यादि की प्रक्रिया—

सांख्य, योग तथा वेदान्त दर्शन की प्रत्यक्षादि ज्ञान की प्रक्रिया न्याय की प्रक्रिया से कुछ भिन्न है। उन तीनों दर्शनों ने अन्तःकरण अथवा मन को 'वस्तु प्राप्य प्रकाशकारी' माना है जब कि न्याय वैशेषिक तथा बौद्ध आदि दर्शन मन को 'वस्तु प्राप्य प्रकाशकारी' नहीं मानते हैं। सांख्य आदि की इस प्रक्रिया का आशय यह है कि उनके मत में इन्द्रिय प्रणालिका द्वारा चित्त अथवा मन का बाह्य घट पट आदि वस्तुओं के साथ सम्बन्ध होता है। और उस सम्बन्ध के होने से चित्त अर्थाकार में परिणत हो जाता है। चित्त की इस अर्थाकार परिणति को वह 'चित्तवृत्ति' या 'बुद्धिवृत्ति' कहते हैं। उनके मत में अन्तःकरण एक तैजस द्रव्य के समान है। जिस प्रकार नाली के द्वारा जल खेत की क्यारियों में पहुँचकर चौकोर षट्कोण आदि जिस आकार की क्यारी उसे मिलती है उसी आकार में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रिय प्रणालिका द्वारा अन्तःकरण भी अर्थाकार में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण की इस अर्थाकार परिणति का नाम 'चित्तवृत्ति' है। और इस 'वृत्ति' में पुरुष या चैतन्य आत्मा का प्रतिबिम्ब होने से अथवा चैतन्य आत्मा में 'बुद्धिवृत्ति' का प्रतिबिम्ब होने से पुरुष या आत्मा को उस अर्थ का बोध होता है। इस बोध को सांख्य में 'पौरुषेय बोध' कहा है। उसके मत में 'बुद्धिवृत्ति' 'प्रमाण' है और उससे होने वाला 'पौरुषेय बोध' फल या 'प्रमा' कहलाता है। जब कभी 'बुद्धिवृत्ति' के लिये 'प्रमा' शब्द का प्रयोग होता है उस समय 'इन्द्रिय' को 'प्रमाण' कहा जायगा। परन्तु अधिकांश में 'बुद्धिवृत्ति' को प्रमाण और 'पौरुषेय बोध' को 'प्रमा' कहा जाता है। 'योगदर्शन' के 'व्यासभाष्य' में इस प्रक्रिया का वर्णन करते हुये लिखा है—

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषा-

१. दर्शन मीमांसा ४। २. योगदर्शन व्या० भा० १, ७।

रमनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः' ।

वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु का मतभेद—

बुद्धिवृत्ति का पुरुष अथवा आत्मा के साथ सम्बन्ध किस प्रकार होता है इस विषय में सांख्य के आचार्यों में दो प्रकार के मत हैं । 'वाचस्पति मिश्र' के मत से 'बुद्धिवृत्ति' में पुरुष का प्रतिबिम्ब होता है और सांख्य सूत्रों के 'सांख्य-प्रवचन भाष्य' के लेखक श्री विज्ञानभिक्षु ने पुरुष में चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब माना है । वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी [पाँचवीं कारिका की व्याख्या] में प्रत्यक्ष का निरूपण करते हुए लिखा है ।

'[1]सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्याज्ञानसुखादिमानिव भवति' ।

'तत्प्रतिबिम्बितः' पद से वाचस्पति मिश्र ने अन्तःकरण अथवा बुद्धिवृत्ति में पुरुष के प्रतिबिम्ब का निर्देश किया है । इसके विपरीत विज्ञानभिक्षु 'चित्' अर्थात् आत्मा रूप दर्पण में बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब मानते हैं । विज्ञानभिक्षु ने अपने मत के समर्थन में पुराण का निम्न वचन उद्धृत किया है—

[2]तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः ।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीवतटद्रुमाः ॥

प्रत्यक्ष के विषय में पाश्चात्य मत—

[3]भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि जहाँ पाश्चात्य 'विज्ञान' विशुद्ध प्रत्यक्ष प्रधान है वहाँ पाश्चात्य 'दर्शन' में प्रत्यक्ष प्रमाण को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है । अपितु अधिकांश विद्वान् प्रत्यक्ष-विरोधी से हैं । यूनान के प्रारम्भिक दार्शनिकों में हेराक्लीटस और पार्मिनिडीज़ दोनों ही प्रत्यक्ष को कोई महत्त्व नहीं देते हैं । विशेषतः दूसरे ने इन्द्रियजन्य ज्ञान की अत्यन्त अवहेलना की है । सुकरात और प्लैटो भी इन्द्रियजन्य ज्ञान को विशेष महत्त्व नहीं देते हैं । सुकरात धारणात्मक [कन्सैपुचअल] ज्ञान का पक्षपाती है और प्लैटो दृश्य जगत् को वस्तु जगत् की छायामात्र मानता है । डैकार्ट स्पिनोज़ा और लिबनीज़ आदि दार्शनिक तो विशुद्ध बुद्धिवादी दार्शनिक हैं और कांट भी शुद्ध बुद्धि को ही मानने वाला है । इस प्रकार योरोप के अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में प्रत्यक्ष अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान का विशेष महत्त्व नहीं है । हां शेलिंग और बर्गसां आदि कुछ गिने चुने विद्वान् ऐसे हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या अनुभव

१. सां०त०कौ० ५। २. सांख्य प्रवचन १, १। ३. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन पृ०५९।

पर विशेष बल दिया है। शेलिंग ने जब प्रत्यक्ष, अनुभव अथवा प्रतिभान [इण्टयूशन] के प्राधान्य का प्रतिपादन किया तब हीगेल आदि विद्वान् उससे विरक्त हो गए।

हाँ बर्गसां अवश्य प्रत्यक्ष को महत्त्व देने वाले प्रसिद्ध दार्शनिक हैं। उन्होंने बुद्धिवाद की कड़ी आलोचना भी की है। बर्गसां के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक बौद्धिक और दूसरा अपरोक्ष अनुभवमूलक अथवा प्रत्यक्ष। बर्गसां अपरोक्ष ज्ञान को आन्तरिक ज्ञान मानते हैं जिसमें हम वस्तु के भीतर तक प्रविष्ट होकर उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। उनकी दृष्टि में बौद्धिक ज्ञान केवल वस्तु का बाहरी ज्ञानमात्र है जिसमें हम केवल वस्तु के चारों ओर घूमते रहते हैं उसके आन्तरिक रहस्य को नहीं जान पाते हैं। बर्गसां का कहना है कि बुद्धि कभी पदार्थों के आन्तरिक रहस्य को नहीं जान सकती है वह तो अनुभव या प्रत्यक्ष से ही प्राप्त होता है। परन्तु बर्गसां के इस 'प्रतिभानवाद' के विरुद्ध बर्ट्रांड रसेल आदि आधुनिक विद्वान् फिर बुद्धिवाद का समर्थन कर रहे हैं।

योरोपीय दर्शन में प्रत्यक्ष या अनुभव की उपेक्षा कर बुद्धिवाद को प्राधान्य दिया गया है। जैसा कि सर्वपल्ली श्री राधाकृष्णन्[1] ने लिखा है कि योरोपीय दर्शन का झुकाव सदैव बुद्धिवाद की ओर रहा है। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष की प्रधानता और पाश्चात्य दर्शन में प्रत्यक्ष की उपेक्षा का जो यह भेद है उसका मुख्य कारण यह है कि भारत में दर्शन और जीवन-उद्देश्य आत्मसाक्षात्कार है जो अनुभव रूप है। और पाश्चात्य दर्शन का उद्देश्य विश्व की व्याख्या द्वारा केवल बुद्धि को सन्तुष्ट करना मात्र है।

प्रत्यक्ष के विषय में बौद्धमत—

ऊपर प्रत्यक्ष के सविकल्पक और निर्विकल्पक दो भेद किए गए हैं। उनके विषय में तीन प्रकार के मत हैं, यह हम दिखला चुके हैं। जिनमें से बौद्ध लोग केवल निर्विकल्पक को ही प्रमाण मानते हैं सविकल्पक को नहीं और नैयायिक सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों का प्रमाण मानते हैं। बौद्ध लोग जो केवल निर्विकल्पक को ही प्रमाण मानते हैं सविकल्प को नहीं इसका कारण यह है कि उनके मत में निर्विकल्पक तो 'स्वलक्षण' विषयक अर्थात् 'वस्तु मात्र' विषयक होने से वस्तुमात्र से जन्य है, अतः 'अर्थज' है। इसलिए 'अर्थज' होने से उसको प्रमाण माना जा सकता है। परन्तु सविकल्पक ज्ञान तो नामजात्यादि योजना सहित होता है। उसमें जाति का भी भान होता है। इसलिए 'जाति' को भी

१. An Idealist View of life P. P. 129-33.

उसका कारण मानना होगा। परन्तु बौद्धमत में 'जाति' कोई भावभूत पदार्थ नहीं है। इसलिए उससे उत्पन्न होने वाला सविकल्पक ज्ञान 'अर्थज' नहीं है। इसलिए 'अर्थज' न होने से उसको प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है।

बौद्ध 'जाति' को भावभूत पदार्थ नहीं मानते है इसका कारण यह है कि नैयायिकों की अभिमत 'जाति' नित्य पदार्थ है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्' यह जाति का लक्षण नैयायिक मानते हैं। अर्थात् उनकी 'जाति' अथवा 'सामान्य' नित्य पदार्थ है। परन्तु बौद्धदर्शन का प्रथम सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' है। बौद्धों के मत में सब कुछ क्षणिक है। संसार में कोई भी नित्य पदार्थ नहीं है। अतएव नैयायिक जिस नित्य 'जाति' को मानना चाहता है क्षणभङ्गवादी बौद्ध के लिए उसका मानना सम्भव ही नहीं है। फलतः बौद्ध जाति को पदार्थ नहीं मानते। इसीलिए 'सामान्य' विषयक सविकल्पक को भी 'अर्थज' न होने से वह प्रमाण नहीं मानते हैं।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब बौद्ध 'जाति' या 'सामान्य' को नहीं मानते हैं तब 'जाति' का काम वह कैसे निकालते हैं। न्यायसिद्धान्त में 'जाति' का कार्य 'अनुगत प्रतीति' कराना है। 'अनुवृत्ति प्रत्ययहेतुः सामान्यम्'[1] अनुवृत्ति प्रत्यय अर्थात् अनुगत प्रतीति अर्थात् एकाकार प्रतीति का जो कारण है उसको 'सामान्य' कहते हैं। दश घट व्यक्ति उपस्थित है। उन सब में 'अयं घटः' 'अयं घटः' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति होती है। इस एकाकार प्रतीति का कारण उनमें रहने वाला 'घटत्व सामान्य' है। सब घटों में घटत्व नाम का एक साधारण धर्म रहता है। इसी के कारण सब घड़ों में 'अयं घटः' 'अयं घटः' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति होती है। इसी अनुगतप्रतीति के हेतु को 'सामान्य' या 'जाति' कहते हैं।

इस प्रकार 'जाति' या 'सामान्य' का कार्य 'अनुवृत्ति प्रत्यय' अर्थात् एकाकार प्रतीति को उत्पन्न करना है। जब बौद्ध लोग 'सामान्य' को भाव पदार्थ नहीं मानते हैं तब उनके मत में इस एकाकार प्रतीति की उत्पत्ति कैसे होती है। इस प्रश्न के समाधान के लिए बौद्ध दार्शनिक 'अपोह' की कल्पना करते हैं। उनके 'अपोह' शब्द का अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' अर्थात् 'तद्भिन्न, भिन्नत्व' है। तत् शब्द से घट आदि का ग्रहण करना चाहिए। अतद् माने अघट अर्थात् घट भिन्न सम्पूर्ण जगत्, उससे भिन्न फिर घट ही होगा। इसलिए प्रत्येक घट, अतद्व्यावृत्त या तद्भिन्न से भिन्न है। इसी कारण घट कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक घट में 'अतद्व्यावृत्ति या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' जिसे 'अपोह' भी कहते हैं होने के कारण ही एकाकार प्रतीति

१. तर्कभाषा सा० पु०।

ननु निर्विकल्पकं परमार्थतः स्वलक्षणविषयं भवतु प्रत्यक्षम्। सविकल्पकं तु शब्दलिङ्गवदनुगताकारग्राहित्वात् सामान्यविषयं कथं प्रत्यक्षमक्षजस्यैव प्रत्यक्षत्वात्। अर्थस्य च परमार्थतः सत एव तज्जनकत्वात्। स्वलक्षणन्तु परमार्थतः सत्, न तु सामान्यम्। तस्य प्रमाणनिरस्तविधिभावस्य अन्यव्यावृत्यात्मनस्तुच्छत्वात्।

होती है। अतएव सामान्य का कार्य 'अपोह' या 'अतद्व्यावृत्ति' से निकल सकता है। यह बौद्ध मत है।

बौद्धों के इस 'अपोह' और न्याय, वैशेषिक के 'सामान्य' या 'जाति' पदार्थ में अन्तर यह है कि बौद्धों का 'अपोह' 'अतद्व्यावृत्ति' रूप, अभावरूप है और न्याय का 'सामान्य' भाव रूप। बौद्धों का कहना कि उस अभाव रूप 'अपोह' से ही जब 'अनुवृत्ति प्रत्ययहेतु' रूप 'सामान्य' का कार्य हो सकता है तो 'सामान्य' को एक अलग पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार बौद्ध मत में जाति का मानना केवल अनावश्यक ही है अपितु युक्तिसङ्गत भी नहीं है। घट के उत्पन्न होने से पहिले घट के निर्माण स्थल पर घटत्व 'जाति' नहीं थी। कहीं से आती हुई भी नहीं दीखती। फिर घट के बन जाने पर वह घट में कहाँ से आ जाती है। घट के नष्ट होने पर वह नष्ट भी नहीं होती और दिखाई भी नहीं देती फिर वह उस समय कहां चली जाती है। इत्यादि अनेक दोष 'जाति' के मानने में आ जाते हैं इसलिए भी 'जाति' या 'सामान्य' कोई भावभूत पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिए उसका मानना उचित नहीं है। और 'अनुवृत्ति प्रत्यय' अर्थात् एकाकार प्रतीति का कारण भावभूत सामान्य या जाति पदार्थ नहीं अपितु 'अतद्व्यावृत्ति' रूप 'अपोह' या अन्योन्याभाव रूप 'तद्भिन्न भिन्नत्व' ही है। इसलिए सामान्य के अर्थ न होने से सामान्य विषयक सविकल्पक ज्ञान भी 'अर्थज' नहीं है, अतः उसको प्रत्यक्ष नहीं कह सकते हैं। यह बौद्धों का पूर्वपक्ष है जिसको ग्रन्थकार आगे प्रस्तुत करते हैं—

[प्रश्न] निर्विकल्पक वस्तुतः स्वलक्षण अर्थात् वस्तु मात्र विषयक [और उससे उत्पन्न] होने से भले ही प्रत्यक्ष हो [जाय] परन्तु सविकल्पक तो शब्द और अनुमान के समान अनुगत आकार [सामान्य] का ग्राहक होने से सामान्य विषयक होने से कैसे प्रत्यक्ष [कहलाने योग्य] होगा 'अर्थज' के ही प्रत्यक्ष होने और वास्तव में विद्यमान अर्थ के ही उस [प्रत्यक्ष] के जनक होने से [सामान्य विषयक सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है।] स्वलक्षण

मैवम् । सामान्यस्यापि वस्तुभूतत्वात् ।

तदेवं व्याख्यातं प्रत्यक्षम् ।

[अर्थात् वस्तुमात्र] तो परमार्थतः सत् है किन्तु सामान्य [परमार्थ सत्] नहीं । उसकी विधि रूपता [भाव रूपता] का प्रमाणों से खण्डन हो जाने से और अतद्व्यावृत्ति रूप [अभाव रूप] तुच्छ होने से । [सामान्य विषयक सविकल्पक ज्ञान को अर्थज न होने से प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है ।]

यह बौद्ध का पूर्वपक्ष हुआ, इसका उत्तर बहुत संक्षेप में अगली एक पंक्ति में यह दिया है कि सामान्य भी भावभूत पदार्थ है । इसका अभिप्राय यह है कि घटादि में जो अनुगत प्रतीति होती है इसका उपपादन करना आवश्यक है । इसके उपपादन करने के लिये बौद्ध जो 'अतद्व्यावृत्ति' रूप 'अपोह' का अवलम्बन करते हैं वह बड़ा वक्रमार्ग है । साधारणतः दश घट व्यक्तियों को देखने पर देखने वाले के मन में उनकी समानता ही प्रतीति होती है । 'अतद्व्यावृत्ति' या अघटभिन्नत्व प्रतीत नहीं होता । अतएव इस एकाकार प्रतीति का कारण भावभूत सामान्य को ही मानना चाहिए, 'अपोह' को नहीं ।

हमने अपनी दर्शनमीमांसा[1] में इस विषय को इस प्रकार लिखा है—

वस्तुमात्रावगाहि यत् प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम् ।
तत्तु बौद्धमते सिद्धं सविकल्पं न सम्मतम् ॥
सामान्यं तुच्छरूपत्वादर्थो नैव यतो भवेत् ।
तद्विषयमतो ज्ञेयं सविकल्पं न चार्थजम् ॥
न चैकाकारबुद्ध्यापि सामान्यं संप्रसिद्ध्यति ।
यतोऽनुवृत्तिबुद्धिः सा त्वपोहादेव जायते ॥
भावभूतो न चापोहोऽतद्व्यावृत्तिरूपतः ।
तच्च तद्भिन्नभिन्नत्वमभावरूपतो मतम् ॥
अत्र तद्भिन्नभिन्नत्वेऽनुवृत्तिबुद्धिहेतुता ।
या मता सातिवक्रत्वाद् वस्तुतो नोपयुज्यते ॥
भावभूतमतो ज्ञेयं सामान्यं तत्र कारणम् ।
अर्थवत्त्वादतो नूनं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम् ॥

[उत्तर] सामान्य के भी वस्तुभूत होने से यह ठीक नहीं है ।
इस प्रकार प्रत्यक्ष की व्याख्या हो गई ।

---

१ दर्शनमीमांसा ४

अनुमानम्

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । येन हि अनुमीयते तदनुमानम् । लिङ्गपरामर्शेन चानुमीयतेऽतो लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् । तच्च धूमादिज्ञानमनुमिति

अनुमानम् ।

प्रत्यक्ष के बाद दूसरा स्थान 'अनुमान' प्रमाण का है । अनुमान शब्द का अर्थ 'मितेन लिङ्गेन अर्थस्य अनु पश्चान्मानमनुमानम्' इस प्रकार वात्स्यायन भाष्य में किया गया है । अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात लिङ्ग द्वारा अर्थ के अनु अर्थात् पीछे से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं । यह तो अनुमान शब्द की निरुक्ति या व्युत्पत्ति हुई और उससे वस्तुतः अनुमान प्रमाण के फल 'अनुमिति' का ज्ञान होता है । परन्तु अनुमान प्रमाण का लक्षण 'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' अर्थात् 'लिङ्ग' के 'परामर्श' को 'अनुमान' कहते हैं यह किया गया है । इस लक्षण में 'लिङ्ग' और 'परामर्श' दो शब्द हैं । इनके स्पष्टीकरण के बिना लक्षण स्पष्ट नहीं हो सकता है । अतएव 'लिङ्ग' और 'परामर्श' इन दोनों का अर्थ स्पष्ट करना चाहिए । 'लिङ्ग' का लक्षण है 'व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिङ्गम्' । अथात् व्याप्ति बल से जो अर्थ का बोधक है उसको लिङ्ग कहते हैं । इस लक्षण में फिर एक 'व्याप्ति' शब्द नया आ गया है । अतः उसका लक्षण करना आवश्यक हो गया । व्याप्ति का अर्थ है 'साहचर्य नियम' । 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' जहां जहां धुंआ होता है वहां वहां अग्नि होती है इस साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं । इस व्याप्ति के बल से जो अर्थ का बोधक हो उसको 'लिङ्ग' कहते हैं । जैसे धूम वह्नि का लिङ्ग है । पर्वतादि पर धूम को देख कर जहां जहां धुंआ होता है वहां वहां वह्नि होती है इस साहचर्य नियम या व्याप्ति के आधार पर अप्रत्यक्ष वह्नि का ज्ञान होता है । इसलिए धूम वह्नि का लिङ्ग कहलाता है । लिङ्ग शब्द की निरुक्ति या व्युत्पत्ति 'लीनम् अप्रत्यक्षं अर्थं गमयति इति लिङ्गम्' यह की गई है ।

इस प्रकार 'लिङ्ग' का लक्षण हो जाने के बाद दूसरा शब्द 'परामर्श' रह जाता है । परामर्श के अर्थ दो प्रकार से किए जाते हैं । 'लिङ्गस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः' या 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः' । अर्थात् लिङ्ग के तृतीय ज्ञान को 'परामर्श' कहते हैं अथवा 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' को 'परामर्श' कहते हैं । इसका उपपादन आगे करेंगे ।

लिङ्गपरामर्श को अनुमान कहते हैं । जिस से अनुमिति [अनु पश्चान्मितिः, प्रमितिः] हो उसको अनुमान कहते हैं । और लिङ्ग के परामर्श से अनुमिति होती

---

१ न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य १, १, ३ ।

प्रति करणत्वात् । अग्न्यादिज्ञानमनुमितिः । तत्करणं धूमादिज्ञानम् ।

किं पुनर्लिङ्गं कश्च तस्य परामर्शः ?

उच्यते । व्याप्तिबलेनार्थगमकं लिङ्गम् । यथा धूमोऽग्नेर्लिङ्गम् । तथाहि यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः । तस्यां गृहीतायामेव व्याप्तौ धूमोऽग्निं गमयति । अतो व्याप्तिबलेनाग्न्यनुमापकत्वाद् धूमोऽग्नेर्लिङ्गम् ।

तस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः । तथाहि प्रथमं तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमं पश्यन् वह्निं पश्यति । तेन भूयो दर्शनेन धूमाग्न्योः स्वाभाविकं सम्बन्धमवधारयति, यत्र धूमस्तत्राग्निरिति ।

है इसलिए लिङ्गपरामर्श को अनुमान कहते हैं । और वह [लिङ्गपरामर्श] धूमादि ज्ञान [रूप] है अनुमिति प्रति करण होने से । अग्नि आदि का ज्ञान अनुमिति है । उसका कारण धूमादि ज्ञान है । [अतः धूमादि ज्ञान अग्नि आदि ज्ञान का करण होने से अनुमान है]

[प्रश्न] फिर 'लिङ्ग' किस को कहते हैं और उसका 'परामर्श' क्या है ?

[उत्तर] कहते हैं । व्याप्ति के बल से [जो] अर्थ का बोधक [हो वह] 'लिङ्ग' [कहलाता] हैं । जैसे धूम अग्नि का लिङ्ग है । क्योंकि, जहां धूम होता है वहां अग्नि होती है इस साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं । उस व्याप्ति के ग्रहण होने पर ही धूम अग्नि का ज्ञापक होता है इसलिए व्याप्ति के बल से अग्नि का अनुमापक होने से धूम अग्नि का लिङ्ग होता है ।

उस [धूमरूप लिङ्ग] का तृतीय ज्ञान 'परामर्श' कहलाता है । जैसे पहिले रसोई घर आदि में बार बार धूम को देख कर वह्नि को देखता है । [अर्थात् धूम और वह्नि का भूयः अनेक बार सहचार दर्शन होता है] उस 'भूयः सहचार दर्शन' से धूम और अग्नि के स्वाभाविक सम्बन्ध [व्याप्ति] को निश्चय करता है कि जहां जहां धूम होता है वहाँ अग्नि होती है [इस प्रकार की धूम और वह्नि की व्याप्ति का निश्चय करता है ।]

जितने बार के दर्शन से इस स्वाभाविक सम्बन्ध या 'व्याप्ति' का निश्चय होता है । वह सब मिल कर धूम का 'प्रथम दर्शन' कहा जायगा । 'व्याप्ति' ग्रहण के बाद जो पर्वतादि में धूम का दर्शन होता है उसको द्वितीय दर्शन समझना चाहिए। उस द्वितीय दर्शन से पूर्वगृहीत धूम और अग्नि की व्याप्ति का स्मरण हो आता है । इस 'व्याप्ति स्मृति' के बाद 'वह्निव्याप्य धूमवांश्चायं पर्वतः' इस प्रकार का ज्ञान होता है इसी को 'तृतीय ज्ञान' कहते हैं । यही अनुमिति के प्रति करण होने से 'अनुमान' कहा जाता है । इसी 'तृतीय ज्ञान' के बाद 'तस्मात् पर्वतो वह्निमान्' इसलिए पर्वत वह्नि युक्त है यह अनुमिति हो जाती है । इसलिए

'वह्निव्याप्यधूमवांश्चायं पर्वतः' यह तृतीय ज्ञान ही वह्नि ज्ञान के प्रति 'करण' है और इसी को 'अनुमान' कहते हैं।

इस तृतीय ज्ञान के दो अंश हैं एक अंश 'व्याप्ति' को सूचित करता है और दूसरा 'पक्ष धर्मता' को। 'वह्निव्याप्य' इतने अंश से व्याप्ति सूचित होती है और 'धूमवांश्च पर्वतः' इस अंश से धूम का पर्वत रूप पक्ष में अस्तित्व प्रतीत होता है। इसको 'पक्षधर्मता' ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार अनुमान के मुख्य दो अंश होते हैं, एक 'व्याप्ति' और दूसरा 'पक्षधर्मता'। 'वह्निव्याप्यधूमवांश्च पर्वतः' इस तृतीय ज्ञान में यह दोनों अंश प्रतीत होते हैं। इसलिए इस 'तृतीय ज्ञान' को 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' भी कह सकते हैं। इसलिए 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः' 'और लिङ्गस्य तृतीय ज्ञानं परामर्शः' यह दोनों ही 'परामर्श' के लक्षण कहे जाते हैं। 'लिङ्गपरामर्शो अनुमानम्' 'लिङ्गस्य तृतीयं ज्ञानं परामर्शः'। लिङ्ग का 'तृतीयं ज्ञान' अथवा 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' रूप 'परामर्श' ही 'अनुमान' कहलाता है। इसमें से धूम और वह्नि के जितने बार में 'सहचारदर्शन' से 'व्याप्ति' का निश्चय होता है, वह सब मिलकर प्रथम ज्ञान कहलाता है, इस प्रकार प्रथम ज्ञान तो यहाँ दिखा दिया है और द्वितीय, तृतीय ज्ञान का वर्णन आगे चल कर करेंगे।

'व्याप्ति' का ग्रहण 'भूयः सहचार दर्शन' से होता है और 'व्याप्ति' 'स्वाभाविक सम्बन्ध' होता है ये दो बातें प्रतिपादित की हैं। इस पर यह शङ्का करते हैं कि सर्वत्र 'भूयः सहचार दर्शन' से 'स्वाभाविक सम्बन्ध' का निश्चय नहीं होता है। जैसे 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ वह्नि है' यह तो स्वाभाविक सम्बन्ध है, और व्याप्ति ठीक है। परन्तु इसको यदि उलटा करके यों कहा जाय कि 'यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः' 'जहाँ-जहाँ वह्नि है वहाँ-वहाँ धूम है' तो इनका भूयः सहचार दर्शन होने पर भी यह 'स्वाभाविक सम्बन्ध' या 'व्याप्ति' नहीं होगा। क्योंकि यदि लोहे के एक गोले को गर्म कर दिया जाय तो उसमें अग्नि तो होती है परन्तु धूम नहीं होता। इसलिए 'यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः' यह स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं अपितु 'औपाधिक' सम्बन्ध कहलाता है। इसमें 'आर्द्र इन्धन संयोग' 'उपाधि' है।

'उपाधि' का लक्षण है 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः'। जो धर्म साध्य का व्यापक हो और साधन का अव्यापक हो उसको 'उपाधि' कहते हैं। जैसे यदि कोइ यह अनुमान बनावे कि 'अयोगोलकं धूमवत् वह्नेः' लोहे का गोला वह्नियुक्त होने से धूमवान् है तो इस अनुमान में धूम 'साध्य' है, वह्नि 'साधन' है, और 'आर्द्रेन्धनसंयोग' को यहाँ उपाधि कहा है। यह

'आर्द्रेन्धन संयोग' रूप धर्म, साध्य जो धूम है, उसका व्यापक है। अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम होता है। वहाँ-वहाँ आर्द्रेन्धन संयोग अवश्य होता है। यह 'साध्यव्यापकत्व' हुआ। इसके विपरीत 'आर्द्रेन्धन संयोग' साधनभूत धर्म वह्नि का व्यापक नहीं है। अर्थात् जहाँ-जहाँ वह्नि हो वहां-वहां 'आर्द्रेन्धन संयोग' का होना आवश्यक नहीं है। जैसे इसी अयोगोलक (लोहे के गोले) में अग्नि तो है परन्तु 'आर्द्रेन्धन संयोग' नहीं है। यह 'साधनाव्यापकत्व' हुआ। इस प्रकार 'आर्द्रेन्धन संयोग' में 'साध्यव्यापकत्व' और 'साधनाव्यापकत्व' दोनों अंश घट जाने से उसमें 'उपाधि' का पूरा लक्षण घट जाता है। इसलिये यह हेतु 'सोपाधिक' है। अर्थात् 'यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः' यह सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं औपाधिक है।

'औपाधिक सम्बन्ध' का दूसरा उदाहरण यह है कि कोई 'मैत्री' नामक स्त्री व्यक्ति है। उसके पांच पुत्र हैं, जिनमें से चार को हमने देखा है और वह सब श्याम वर्ण के हैं। पांचवें पुत्र को हमने नहीं देखा है किन्तु वह गौ वर्ण का है। परन्तु जिसने मैत्री के चार पुत्रों में श्यामत्व देखा है वह उस 'भूयः सहचार दर्शन' के आधार पर 'मैत्रीतनयत्व' और 'श्यामत्व' का 'स्वाभाविक सम्बन्ध' अथवा व्याप्ति मान कर उस न देखे हुए पांचवें पुत्र में भी श्यामत्व का अनुमान 'सः श्यामः मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्' इस प्रकार कर सकता है। यहां 'मैत्रीतनयत्वात्' हेतु 'श्यामत्व' की सिद्धि के लिए दिया गया है। परन्तु यह हेतु 'सोपाधिक' है। इसमें 'शाक-पाक जन्यत्व' रूप 'उपाधि' विद्यमान है। अर्थात् 'श्यामत्व' का प्रयोजक 'मैत्रीतनयत्व' नहीं अपितु 'शाक-पाक-जन्यत्व' है। इस प्रयोजक को ही उपाधि कहते हैं। उपाधि का लक्षण 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्' है। वह 'शाक-पाक-जन्यत्व' में पूर्ण रूप से घट जाता है। यहां साध्य श्यामत्व और साधन मैत्रीतनयत्व है। 'शाकपाकजन्यत्वं' साध्य रूप श्यामत्व का व्यापक है। यत्र तत्र श्यामत्वं तत्र तत्र शाकपाकजन्यत्वं' यह साध्यव्यापकत्व हुआ।

'शाक-पाक-जन्यत्व' का अभिप्राय यह है कि बालक के गौर और श्याम वर्ण पर गर्भ काल में किए गए माता के आहार का प्रभाव पड़ता है। यदि माता दुग्ध, दधि आदि पदार्थों का अधिक सेवन करती है तो बालक गौर वर्ण का होता है। इसके विपरीत यदि गर्भ काल में माता हरे शाक आदि का अधिक सेवन करती है तो बालक का वर्ण श्याम होता है। अर्थात् श्यामत्व का प्रयोजक या कारण 'मैत्रीतनयत्व' नहीं अपितु 'शाकपाकजन्यत्व' है। जहां-जहां 'शाक-पाक-जन्यत्व' होता है वहां-वहां श्यामत्व अवश्य होता है यह साध्य-व्यापकत्व हुआ।

यद्यपि यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वमपीति भूयो दर्शनं समानमवगम्यते, तथापि मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोर्न स्वाभाविकः सम्बन्धः किन्त्वौपाधिक एव । शाकाद्यन्नपरिणामस्योपाधेर्विद्यमानत्वात् ।

तथा हि श्यामत्वे मैत्रीतनयत्वं न प्रयोजकं किन्तु शाकाद्यन्नपरिणतिभेद एव प्रयोजकः । प्रयोजकश्चोपाधिरित्युच्यते ।

न च धूमाग्न्योः सम्बन्धे कश्चिदुपाधिरस्ति । अस्ति चेत्, यो-

परन्तु जहां जहां मैत्रीतनयत्व होता है वहां वहां 'शाक-पाक-जन्यत्व' अवश्य हो यह आवश्यक नहीं है । माता गर्भ-काल में शाकादि के स्थान पर दुग्ध आदि का सेवन करे यह भी हो सकता है । ऐसी दशा में 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र शाक-पाक-जन्यत्वं' यह आवश्यक न होने से साधनाव्यापकत्व हुआ । इस प्रकार 'शाक-पाक-जन्यत्व' रूप 'उपाधि' के वर्तमान होने से 'मैत्री तनयत्व' और श्यामत्व का स्वाभाविक संबंध नहीं है अपितु औपाधिक संबंध है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि 'भूयः सहचार दर्शन' से स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति का निश्चय होता है परन्तु जहां एक भी स्थल में उनके सहचार का अभाव अथवा व्यभिचार का ग्रहण हो जाता है वहां वह 'भूयः सहचार दर्शन' भी व्यर्थ हो जाता है और वह उनके स्वाभाविक सम्बन्ध का बोध नहीं करा सकता है । इसलिए केवल 'भूयः सहचार दर्शन' ही व्याप्ति ग्राहक नहीं है अपितु उसके साथ व्यभिचार का अदर्शन होना भी आवश्यक है । अर्थात् 'व्यभिचारादर्शनसहकृत भूयः सहचार दर्शन' व्याप्ति का ग्राहक होता है । भूयः सहचार दर्शन होते हुए मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व का उपाधि स्थल में व्यभिचार दर्शन हो जाने से व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती । अतः उनका स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है । यही आगे कहते हैं ।

यद्यपि जहां जहाँ मैत्रीतननयत्व है वहां वहां श्यामत्व भी है इस प्रकार [मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व का भूयः सहचार मैत्री के चार पुत्रों में, धूम और वह्नि के भूयः सहचार दर्शन के समान] भूयो दर्शन समान रूप से प्रतीत होता है । फिर भी मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है अपितु औपाधिक [सम्बन्ध] ही है । शाकादि अन्न परिणाम रूप उपाधि के विद्यमान होने से । क्योंकि श्यामत्व का प्रयोजक मैत्रीतनयत्व नहीं है किन्तु शाकादि अन्न परिणाम ही [श्यामत्व में] प्रयोजक है । प्रयोजक को ही उपाधि कहते हैं ।

[प्रकृत में] धूम और अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि नहीं है । [इसलिए उनका सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति है । यदि यह कहो कि धूम और अग्नि के सम्बन्ध में भी कोई उपाधि है तो प्रश्न यह होगा कि [यदि] धूम और

ग्योऽयोग्यो वा। अयोग्यस्य शङ्कितुमशक्यत्वात्, योग्यस्य चानुपलभ्यमानत्वात्। यत्रोपाधिरस्ति तत्रोपलभ्यते। यथाग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः। हिंसात्वस्य चाधर्मसाधनत्वेन सह सम्बन्धे निषिद्धत्वमुपाधिः। मैत्रीतनयत्वस्य च श्यामत्वेन सह सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणतिभेदः।

न चेह धूमस्याग्निसाहचर्ये कश्चिदुपाधिरस्ति। यद्यभविष्यत्ततोऽद्रक्ष्यत्, ततो दर्शनाभावान्नास्ति। इति तर्कसहकारिणानुपलम्भसनाथेन। प्रत्यक्षेणैवोपाध्यभावोऽवधार्यते। तथा च उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते। तेन धूमाग्न्योः स्वाभाविक एव सम्बन्धो न त्वौपाधिकः। स्वाभाविकश्च सम्बन्धो व्याप्तिः।

अग्नि के सम्बन्ध में कोई उपाधि] है तो [वह उपाधि प्रत्यक्ष होने के] योग्य है अथवा अयोग्य। [यदि प्रत्यक्ष होने के अयोग्य उपाधि है, यह कहना चाहें तो ठीक नहीं है क्योंकि] अयोग्य [है तो उस] की शङ्का करना भी उचित नहीं [जिस उपाधि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है वह है ही इसमें क्या प्रमाण होगा। इसलिए उसकी शङ्का भी करना अनुचित है। अर्थात् अयोग्य उपाधि है यह नहीं कह सकते।] और [प्रत्यक्ष के] योग्य [उपाधि] की उपलब्धि नहीं होती। [यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः इत्यादि स्थलों में] जहां [आर्द्रेन्धन संयोग आदि रूप] उपाधि है वहां उपलब्ध होती है जैसे १ अग्नि के धूम के साथ [यत्र यत्र अग्निस्तत्र तत्र धूमः] इस सम्बन्ध में आर्द्रेन्धन संयोग [उपाधि है तो वह उपलब्ध भी होती है] और २ हिंसात्व के अधर्म साधनत्व के साथ सम्बन्ध में निषिद्धत्व उपाधि है और ३ मैत्रीतनयत्व के श्यामत्व के साथ [यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वं] इस सम्बन्ध में शाकादि अन्न परिणाम भेद [शाकपाक-जन्यत्व उपाधि है और उपलब्ध होती है]

यहां धूम के अग्नि के साथ साहचर्य में कोई उपाधि नहीं है। यदि होती तो दिखाई देती। दिखाई नहीं देती अतः नहीं है। इस प्रकार तर्क सहकृत और अनुपलब्धियुक्त प्रत्यक्ष से ही उपाधि का अभाव निश्चय होता है। इसलिए उपाधि के अभाव के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार से सहकृत और भूयः सहचार दर्शन जन्य संस्कार के सहकृत [धूम तथा अग्नि के] साहचर्य को ग्रहण कराने वाले प्रत्यक्ष [प्रमाण] से ही धूम और अग्नि की व्याप्ति गृहीत होती है। इसलिए धूम और अग्नि का स्वभाविक सम्बन्ध ही है औपाधिक नहीं। और स्वाभाविक सम्बन्ध [को ही] व्याप्ति [कहते] हैं।

तदनेन न्यायेन धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां, महानसे यद्धूमज्ञानं तत्प्रथमम् । पर्वतादौ पक्षे यद्धूमज्ञानं तद्द्वितीयम् । ततः पूर्वगृहीतां धूमाग्न्योर्व्याप्तिं स्मृत्वा यत्र धूमस्तत्राग्निरिति तत्रैव पर्वते पुनर्धूमं परामृशति । अस्त्यत्र पर्वते वह्निना व्याप्तो धूम इति । तदिदं धूमज्ञानं तृतीयम् । एतच्चावश्यमभ्युपेतव्यम् । अन्यथा यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येव स्यात् । इह तु कथमग्निना भवितव्यम् । तस्मादिहापि धूमोऽस्ति इति ज्ञानमन्वेषितव्यम् । अयमेव लिङ्गपरामर्शः । अनुमितिं प्रतिकरणत्वाच्चानुमानम् । तस्मात्, अस्त्यत्र पर्वतेऽग्निरित्यनुमितिज्ञानमुत्पद्यते ।

ननु कथं प्रथमं महानसे यद्धूमज्ञानं तन्नाग्निमनुमापयति ?

इसलिए, इस प्रकार से [व्यभिचारादर्शन सहकृत भूयः सहचार दर्शन से] धूम और अग्नि की व्याप्ति के ग्रहण में महानस [रसोई घर] में जो [जितनी बार सहचार दर्शन से व्याप्तिग्रह हो, उतनी बार का सम्मिलित] धूमज्ञान है वह प्रथम [ज्ञान है, इस व्याप्तिग्रह के बाद] पर्वतादि रूप पक्ष ['सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' जिस पर्वतादि में साध्य वह्नि संदिग्ध अवस्था में है उसको 'पक्ष' कहते हैं] में जो धूम का ज्ञान है वह द्वितीय [ज्ञान है] उस [पर्वतादि में द्वितीय धूम दर्शन] से, पूर्व गृहीत धूम और अग्नि की 'जहाँ धूम होता है वहीं वह्नि होती है इस व्याप्ति' को स्मरण कर उसी पर्वत में [वह्नि व्याप्ति विशिष्ट] धूम का फिर ['वह्निव्याप्यधूमवांश्चायं पर्वतः' इस रूप में] परामर्श करता है । इस पर्वत में वह्नि के साथ व्याप्त धूम है । यह [वह्निव्याप्यधूमवांश्चायं पर्वतः इस प्रकार का] धूम ज्ञान, तृतीय ज्ञान [लिङ्ग परामर्शरूप] है । [इसी को 'लिङ्गपरामर्श' तथा 'अनुमान' कहते हैं । उसी से 'पर्वतो वह्निमान्' यह 'अनुमिति' होती है]

इस [तृतीय ज्ञान] को अवश्य मानना होगा । अन्यथा जहां धूम होगा वहाँ अग्नि होगी यह [सामान्य ज्ञान] ही होगा । यहां [पर्वत रूप स्थल विशेष में] अग्नि क्यों होनी चाहिए । इस [के उपपादन के] लिए यहाँ [पर्वत में] भी धूम है इस प्रकार का ज्ञान मानना चाहिए। यही [पर्वत में व्याप्ति स्मृति के बाद हुआ धूम का परामर्श] लिङ्ग का परामर्श [कहलाता] है और ['तस्मात् पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार की] अनुमिति के प्रति करण होने से अनुमान [कहलाता] है । क्योंकि उस [लिङ्ग परामर्श रूप तृतीय ज्ञान] से इस पर्वत में अग्नि है इस प्रकार का अनुमिति रूप ज्ञान उत्पन्न होता है ।

[प्रश्न] अनुमिति के लिए तृतीय ज्ञान तक क्यों जाते हैं । महानस में जो प्रथम [बार का] धूमज्ञान ज्ञान है उसी से अग्नि का अनुमान क्यों नहीं हो जाता है ?

सत्यम् । व्याप्तेरगृहीतत्वात् । गृहीतायामेव व्याप्तावनुमित्युदयात् । अथ व्याप्तिनिश्चयोत्तरकालं महानस एवाग्निरनुमीयताम् ।

मैवम् । अग्नेर्दृष्टत्वेन सन्देहस्यानुदयात् । सन्दिग्धश्चार्थोऽनुमीयते । यथोक्तं भाष्यकृता । 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु सन्दिग्धे'[1] ।

अथ पर्वतगतमात्रस्य पुंसो यद्धूमज्ञानं, तत् कथं नाग्निमनुमापयति ? अस्ति चात्राग्निसन्देहः । साधकबाधकप्रमाणाभावेन संशयस्य न्यायप्राप्तत्वात् ।

सत्यम् । अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानु-

---

[उत्तर] आपका प्रश्न ठीक है । [परन्तु] व्याप्ति का ग्रहण न होने से [प्रथम बार के धूमज्ञान से अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता है [क्योंकि] व्याप्ति के गृहीत होने पर ही अनुमिति का उदय हो [सकने] ने से । प्रथमज्ञान से अनुमिति नहीं होती]

[प्रश्न] अच्छा तो व्याप्ति के ग्रहण होने के पश्चात् महानस में ही अग्नि का अनुमान होना चाहिए ।

[उत्तर] यह [कहना भी] ठीक नहीं है । [क्योंकि महानस में] अग्नि के प्रत्यक्ष होने से सन्देह का उदय न होने से [व्याप्तिग्रह के बाद महानस में अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता है]। और सन्दिग्ध अर्थ का ही अनुमान होता है । जैसा कि [न्याय दर्शन के] भाष्यकार [वात्स्यायन] ने कहा है [कि सर्वथा] अनुपलब्ध [अर्थात् अज्ञात] अर्थ [के विषय] में न्याय [अर्थात् अनुमान] की प्रवृत्ति नहीं होती । और न [सर्वथा] निर्णीत अर्थ में न्याय प्रवृत्त होता है किन्तु सन्दिग्ध अर्थ में [ही न्याय अर्थात् अनुमान की प्रवृत्ति होती है ।]

[प्रश्न] अच्छा [व्याप्तिग्रह के बाद] पर्वत में पहुँचे हुए मनुष्य का जो धूम ज्ञान [अर्थात् व्याप्ति स्मृति के पूर्व का, द्वितीय ज्ञान] वह अग्नि का अनुमान क्यों नहीं कराता ? यहाँ अग्नि का सन्देह तो है । [क्योंकि अग्नि के] साधक अथवा बाधक प्रमाण के अभाव में सन्देह होना उचित ही है ।

[उत्तर] [आपका प्रश्न] ठीक है । [परन्तु द्वितीय ज्ञान के समय व्याप्ति की स्मृति न होने से] अगृहीत व्याप्तिक पुरुष के समान [गृहीत होने पर भी जिसको व्याप्ति विस्मृत हो गई उस] गृहीत विस्मृत व्याप्तिक पुरुष को भी अनुमान को उदय न होने से व्याप्ति स्मृति के भी अनुमिति के प्रति हेतु होने से [व्याप्ति

---

१ न्याय दर्शन वात्स्यायन भाष्य १, १, १,

दयेन व्याप्तिस्मृतेरप्यनुमितिहेतुत्वात् । धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति । यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इति । तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिस्मृतौ भूतायां यद्धूमज्ञानं तत् तृतीयं 'धूमवांश्चायम्' इति । तदेवाग्निमनुमापयति नान्यत् । तदेवानुमानम् । स एव लिङ्गपरामर्शः । तेन व्यवस्थितमेत—ल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति ।

तच्चानुमानं द्विविधम् । स्वार्थं परार्थं चेति । स्वार्थं स्वप्रतिपत्तिहेतुः । तथा हि स्वयमेव महानसादौ विशिष्टेन प्रत्यक्षेण धूमाग्न्योर्व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वतवर्तिनीमविच्छिन्नमूलामभ्रंलिहां धूमलेखां पश्यन् धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति । यत्र धूमस्तत्राग्निरिति । ततोऽत्रापि धूमोऽस्तीति प्रतिपद्यते । तस्मादत्र पर्वतेऽग्निरप्यस्तीति स्वयमेव प्रतिपद्यते । तत्स्वार्थानुमानम् ।

स्मृति के अभाव में अनुमिति नहीं हो सकती है । अतः [द्वितीय बार के] धूम दर्शन से उद्बुद्ध संस्कार [पुरुष] 'जो जो धूमवान् होता है वह वह वह्निमान् होता है' इस रूप में व्याप्ति को स्मरण करता है । इसलिए धूम दर्शन होने के बाद व्याप्ति स्मृति होने पर जो धूमज्ञान [होता है] वह तृतीय 'धूमवांश्चायं पर्वत.' यह पर्वत धूमवान् है इस प्रकार का जो ज्ञान होता है वही अग्नि का अनुमान् कराता है । उससे भिन्न [प्रथम या द्वितीयादि] अन्य कोई नहीं । उसी [तृतीय ज्ञान] को 'अनुमान' कहते हैं । वही 'लिङ्ग परामर्श' [लिङ्ग का तृतीय ज्ञान] है । इसलिए 'लिङ्गपरामर्शो अनुमानम्' यह लक्षण स्थिर हुआ ।

अनुमान के भेद—

वह अनुमान् स्वार्थ [अनुमान] और परार्थ [अनुमान] इस प्रकार दो तरह का है । स्वयं अपने ज्ञान का हेतु [भूत अनुमान] स्वार्थानुमान [कहलाता] है । जैसे महानस आदि में विशेष प्रत्यक्ष से स्वयं ही धूम और अग्नि की व्याप्ति को ग्रहण कर के पर्वत के समीप गया हुआ और पर्वतगत अग्नि के विषय में [पर्वत में अग्नि है या नहीं इस प्रकार का] सन्देह करता हुआ पर्वत पर विद्यमान अविच्छिन्नमूला धूम की रेखा को देख कर, धूम के दर्शन से [संस्कार का उद्बोध हो जाने से] उद्बुद्ध संस्कार [वाला पुरुष], जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है' इस व्याप्ति को स्मरण करता है । उसके बाद यहाँ [पर्वत में] भी धूम है इस प्रकार [तृतीय बार पर्वत में वह्नि व्याप्य धूम को] जानता है । इसलिए इस पर्वत पर अग्नि भी है इस प्रकार स्वयमेव [पर्वत पर अग्नि को] जान लेता है । वही स्वार्थानुमान है ।

यत्तु कश्चित् स्वयं धूमादग्निमनुमाय परं बोधयितुं पञ्चावयवमनुमान-वाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। तद्यथा पर्वतोऽग्निमान्; धूमवत्वात्, यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः, तथा चायं तस्मात्तथा, इति।

अनेन वाक्येन प्रतिज्ञादिमता प्रतिपादितात् पञ्चरूपोपपन्नाल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते। तेनैतत् परार्थानुमानम्।

अत्र पर्वतस्याग्निमत्वं साध्यं, धूमवत्वं हेतुः। स चान्वयव्यतिरेकी, अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमत्वात्। तथा हि यत्र यत्र धूमवत्वं तत्राग्निमत्वं यथा महानसे इत्यन्वयव्याप्तिः। महानसे धूमाग्न्योरन्वयसद्भा-

---

और जो कोई धूम से स्वयं अग्नि का अनुमान करके [उसी को] दूसरे को बोध कराने के लिए पञ्चावयव अनुमान का प्रयोग करता है वह परार्थानुमान होता है। जैसे [पञ्चावयव युक्त अनुमान वाक्य के प्रयोग का उदाहरण देते हैं] १. यह पर्वत अग्निमान् है [यह प्रथम अवयव प्रतिज्ञा है] २. धूम युक्त होने से [यह हेतु रूप दूसरा अवयव है] ३. जो जो धूमयुक्त होता है वह वह वह्नि युक्त भी होता है जसे रसोई घर [यह उदाहरण रूप तीसरा अवयव हुआ] ४. यह [पर्वत] भी उसी प्रकार का [धूम युक्त] है [यह चौथा आवयव उपनय रूप हुआ। इसको 'वह्निव्याप्यधूमवांश्चायं' इस रूप से बोलना चाहिए। परन्तु संक्षेप में उसको 'तथा चायं' कह कर भी व्यवहार किया जाता है। इसमें व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों प्रतीति होती हैं। इसलिए इसको 'व्याप्तिविशिष्टपक्ष-धमताज्ञान' या 'लिङ्गपरामर्श' रूप 'अनुमान' भी कहते हैं। क्योंकि इसके बाद निगमन रूप पञ्चम अवयव] इस लिए वैसा [अर्थात् अग्नियुक्त] है [इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है जो अनुमिति रूप है। यह पाँचवाँ अवयय निगमन कहलाता है]।

[इस प्रकार] प्रतिज्ञा आदि [पाँचों अवयवों] से युक्त इस [अनुमान] वाक्य द्वारा प्रतिपादित [१ पक्षसत्त्व, २ सपक्षसत्त्व, ३ विपक्षव्यावृतत्व, ४ अबाधितविषयत्व और ५ असत्प्रतिपक्षत्व इन आगे कहे जाने वाले] पाँच रूपों से युक्त लिङ्ग [हेतु] से, दूसरा [व्यक्ति] भी अग्नि को जान लेता है। इसलिए वह 'परार्थानुमान' [दूसरे का बोधक अनुमान] है।

यहाँ [इस अनुमान में] पर्वत का अग्निमत्व साध्य है धूमवत्व हेतु है। और वह [हेतु] अन्वय व्यतिरेकी [हेतु] है। [क्योंकि उसकी अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति में उदाहरण मिल जाते हैं अतः वह] अन्वय तथा व्यतिरेक से व्याप्ति युक्त होने से। जैसे कि जहाँ-जहाँ धूमवत्व [होता है], वहाँ-वहाँ अग्निमत्व [होता है] जैसे महानस में। यह अन्वय व्याप्ति हुई।

वात्। एवं यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा महाह्रदे इतीयं व्यतिरेकव्याप्तिः। महाह्रदे धूमाग्न्योर्व्यतिरेकस्य सद्भावदर्शनात्।

व्यतिरेकव्याप्तेस्त्वयं क्रमः। अन्वयव्याप्तौ यद्व्याप्यं तदभावोऽत्र व्यापकः। यच्च व्यापकं तदभावोऽत्र व्याप्य इति। तदुक्तम्—

व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
तदभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः॥
व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः[1]॥

महानस [रसोई घर] में धूम और अग्नि के सद्भाव होने से। इसी प्रकार जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ धूम भी नहीं होता जैसे महाह्लद [तालाब] में। यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई। महाह्लद में धूम और अग्नि के व्यतिरेक्त [प्रभाव] होने से। [वहाँ अग्नि के अभाव में धूम का अभाव होने से व्यतिरेक व्याप्ति होती है। इस प्रकार अन्वय व्याप्ति में महानस, और व्यतिरेक व्याप्ति में महाह्लद, यह दोनों उदाहरण बन जाते हैं अतएव धूमवत्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी हेतु है।

व्यतिरेक व्याप्ति [के बनाने] का तो यह क्रम है। [कि] अन्वयव्याप्ति में जो व्याप्य [होता है उसका अभाव यहाँ [व्यतिरेक व्याप्ति में] व्यापक [होता है] और जो व्यापक होता है उसका अभाव यहाँ व्याप्य होता है। जैसा कि [कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक नामक ग्रन्थ में] कहा है—

भाव अर्थात् सत्पदार्थों [धूम और अग्नि] का जैसा व्याप्य व्यापक भाव [धूम अर्थात् साधन व्याप्य और साध्य अर्थात् वह्नि व्यापक] होता है उनके अभाव [अर्थात वह्न्यभाव और धूमाभाव] का उसके उलटा [वह्न्यभाव व्याप्य और धूमाभाव व्यापक] होता है।

अन्वय [व्याप्ति] में साधन [हेतु] व्याप्य और साध्य व्यापक होता है। उससे भिन्न [व्यतिरेक व्याप्ति] में साध्याभाव व्याप्य और साधनाभाव व्यापक होता है।

[व्याप्ति के बोलते समय] व्याप्य को पहिले [यत्र यत्र के साथ] और व्यापक को उसके बाद [तत्र तत्र के साथ] बोलना चाहिए। इस प्रकार भली प्रकार से परीक्षित हुई व्याप्ति तत्त्वतः स्पष्ट हो जाती है।

---

[1] श्लोकवार्तिकम् १२१-१२३।

तदेवं धूमवत्त्वे हेतावन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिरस्ति। यत्तु वाक्ये केवलमन्वयव्याप्तेरेव प्रदर्शनं तदेकेनापि चरितार्थत्वात्। तत्राप्यन्वयस्यावश्यकत्वात् प्रदर्शनम्। ऋजुमार्गेण सिद्ध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्। न तु व्यतिरेकव्याप्तेरभावात्।

तदेवं धूमवत्त्वं हेतुरन्वयव्यतिरेकी। एवमन्येऽप्यनित्यत्वादौ साध्ये कृतकत्वादयो हेतवोऽन्वयव्यतिरेकिणो द्रष्टव्याः। यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवत्। यत्र कृतकत्वं तत्रानित्यत्वम्। यत्रानित्यत्वाभावस्तत्र कृतकत्वाभावो यथा गगने।

इस प्रकार धूमत्व हेतु में अन्वय और व्यतिरेक [दोनों प्रकार की व्याप्ति में उदाहरण मिल जाने से दोनों प्रकार] से व्याप्ति है। [परन्तु पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसः, इत्यादि अनुमान वाक्य में] जो केवल अन्वय व्याप्ति का ही प्रदर्शन किया गया है वह एक [ही प्रकार की व्याप्ति प्रदर्शन] से भी काम चल सकता है [इसलिए किया गया है।] उसमें भी [व्यतिरेक व्याप्ति की अपेक्षा] अन्वय [व्याप्ति] के सरल होने से [केवल अन्वय व्याप्ति का] प्रदर्शन किया गया है। सरल मार्गसे सिद्ध होने वाले अर्थ को वक्र मार्ग से साधन अयुक्त होने से [केवल अन्वय व्याप्ति का प्रदर्शन किया गया है] न कि व्यतिरेक व्याप्ति के अभाव के कारण [केवल अन्वय व्याप्ति का प्रदर्शन किया गया है।]

इस प्रकार [अन्वय व्याप्ति में महानस और व्यतिरेक व्याप्ति में महाह्रद दोनों प्रकारके उदाहरण मिल जाने से] धूमवत्त्व हेतु अन्वयव्यतिरेकी [हेतु] है। इसी प्रकार अनित्यत्वादि की सिद्धिमें [प्रयुक्त] कृतकत्वादि अन्य हेतु भी अन्वय व्यतिरेकी [हेतु ही] समझने चाहिए। जैसे कृतक [जन्य] होने से शब्द घट के समान अनित्य है। जहाँ कृतकत्व [अर्थात् जन्यत्व] रहता है वहाँ अनित्यत्व [भी] रहता है। [यह अन्वय व्याप्ति हुई और उसका उदाहरण घट है। क्योंकि घट में कृतकत्व और अनित्यत्व दोनों पाए जाते हैं [जहाँ अनित्यत्व का अभाव होता है वहाँ कृतकत्व का [भी] अभाव होता है। जैसे आकाश में [यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई। अन्वय व्याप्ति 'यत् कृतकं तदनित्यम्'में कृतकत्व हेतु व्याप्य है इस लिए उसका प्रयोग पहिले किया जाता है। व्यतिरेक व्याप्ति बनाने का जो क्रम अभी दिखाया है उसके अनुसार व्यतिरेकव्याप्ति बनाते समय उन दोनों के साथ अभाव पद जुड़ जाता है। और उनका 'व्याप्यव्यापकभाव' बदल कर उल्टा हो जाता है। इसलिए 'यत्र यत्र अनित्यत्वाभावः तत्र तत्र कृतकत्वाभावः' यह व्यतिरेक व्याप्ति बनती है। और उसका उदाहरण आकाश मिल जाता है। इसलिए यह

कश्चिद्धेतुः केवलव्यतिरेकी। तद्यथा, सात्मकत्वे साध्ये प्राणादिमत्त्वं हेतुः। यथा जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्। यत् सात्मकं न भवति तत् प्राणादिमन्न भवति। यथा घटः। न चेदं जीवच्छरीरं तथा तस्मान्न तथेति। अत्र हि जीवच्छरीरस्य सात्मकत्वं साध्यं, प्राणादिमत्त्वं हेतुः। स च केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्याप्तेरभावात्। तथाहि यत् प्राणादिमत्

कृतकत्व हेतु दोनों प्रकार की व्याप्ति में उदाहरण मिल जाने से 'अन्वय व्यतिरेकी' हेतु कहलाता है]

ऊपर अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति इस प्रकार दो प्रकार की व्याप्ति दिखाई गई है। इस दो प्रकार की व्याप्ति से 'केवलान्वयी' और 'केवलव्यतिरेकी' तथा उन दोनों के मेल से तीसरा 'अन्वयव्यतिरेकी' यह तीन प्रकार के हेतु माने गए हैं। जिसमें अन्वयव्याप्ति तथा व्यतिरेकव्याप्ति दोनों के उदाहरण मिल जावें वह हेतु अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहलाता है। जैसे धूमवत्त्व और कृतकत्व यह दोनों हेतु अन्वयव्यतिरेकी हेतु हैं यह ऊपर दिखाया जा चुका है। जिस हेतु का अन्वयव्याप्ति में उदाहरण न मिल सके और केवल व्यतिरेकव्याप्ति में उदाहरण मिले उसको केवल व्यतिरेकी हेतु कहते हैं। जैसे 'जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्'। इस अनुमान में प्राणादिमत्त्व हेतु है और सात्मकत्व साध्य है। इन दोनों की अन्वयव्याप्ति इस प्रकार बनेगी। 'यत्र यत्र प्राणादिमत्त्वं तत्र तत्र सात्मकत्वम्'। इस व्याप्ति का उदाहरण कोई जीवित शरीर ही होगा। परन्तु जीवित शरीर सब पक्ष कोटि के अन्तर्गत है। इसलिए अन्वयव्याप्ति में उदाहरण मिलना सम्भव नहीं है। तब व्यतिरेकव्याप्ति इस प्रकार बनेगी। 'यत्र यत्र सात्मकत्वाभावस्तत्र तत्र प्राणादिमत्त्वाभावः। इस व्याप्ति में घट-पट आदि सहस्रों उदाहरण मिल सकते हैं। इसलिए इस अनुमान में केवल व्यतिरेक व्याप्ति में ही उदाहरण सम्भव होने से यह प्राणादिमत्त्व हेतु 'केवल व्यतिरेकी' हेतु है। यही बात आगे कहते हैं।

कोई हेतु केवल व्यतिरेकी [ही होती] है। जैसे सात्मकत्व के साध्य होने में प्राणादिमत्त्व हेतु [केवल व्यतिरेकी हेतु है] जैसे जीवित शरीर सात्मक है प्राणादियुक्त होने से [इस अनुमानमें] जो सात्मक नहीं होता वह प्राणादि युक्त नहीं होता [यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई इसमें उदाहरण] जैसे घट। और यह जीवित शरीर वैसा [अर्थात् प्राणादिमत्त्वाभाववत्] नहीं है इसलिये वैसा [अर्थात् सात्मकत्वाभाववत्] नहीं है [अर्थात् सात्मक है] यहाँ [इस अनुमान में] जीवित शरीर का सात्मकत्व साध्य है और प्राणादिमत्त्व हेतु है, और वह [हेतु] अन्वयव्याप्ति [में उदाहरण] के अभाव होने से केवल व्यतिरेकी है। क्योंकि जो प्राणादिमत् है

तत् सात्मकं यथा अमुक इति दृष्टान्तो नास्ति। जीवच्छरीरं सर्वं पक्ष एव।

लक्षणमपि केवलव्यतिरेकी हेतुः। यथा पृथिवीलक्षणं गन्धवत्त्वम्॥ विवादपदं पृथिवीति व्यवहर्तव्यं, गन्धवत्त्वात्। यन्न पृथिवीति व्यवह्रियते तन्न गन्धवत् यथापः।

प्रमाणलक्षणं वा। यथा प्रमाकरणत्वम्। तथाहि, प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात्। यत्प्रमाणमिति न व्यवह्रियते तन्न प्रमाकरणं यथा प्रत्यक्षाभासादि। न पुनस्तथेदं, तस्मान्न तथेति। न पुनरत्र यत्प्रमाकरणं तत्प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं यथाऽमुक इत्यन्वयदृष्टान्तोऽस्ति, प्रमाणमात्रस्य पक्षीकृतत्वात्॥

वह सात्मक है जैसे अमुक इस प्रकार का [अन्वय [व्याप्ति का] दृष्टान्त नहीं मिलता] है। [क्योंकि उदाहरण बन सकने योग्य] सारे जीवित शरीर पक्ष [कोटि में] ही [अन्तर्भूत] हैं।

[इसी प्रकार] लक्षण भी [जब हेतु रूप में प्रयुक्त होते हैं तब वह] केवल व्यतिरेकी हेतु होते हैं। जैसे पृथिवी का लक्षण गन्धवत्त्व [गन्धवती पृथिवी यह पृथिवी का लक्षण है। उसको हेतु बना कर जब किसी विवादग्रस्त पदार्थ को पृथिवी सिद्ध करने के लिए] विवादास्पद [वस्तु] को पृथिवी यह [कह कर] व्यवहार करना चाहिये गन्धवत् होने से। जहां पृथिवी यह व्यवहार नहीं होता है वह गन्धवत् नहीं होता है [यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई और उसमें उदाहरण है] जैसे जल। [परन्तु इसकी अन्वय व्याप्ति 'यत्र यत्र गन्धवत्त्वं तत्र तत्र पृथिवीति व्यवहारः' में कोई पार्थिव पदार्थ ही उदाहरण हो सकता है। परन्तु पार्थिव पदार्थ तो सब के सब पक्ष कोटि में हैं अतः अन्वय व्याप्ति में कोई उदाहरण न मिलने से और व्यतिरेक व्याप्ति में उदाहरण मिल जाने से यह हेतु केवल व्यतिरेकी हेतु ही है।

अथवा प्रमाण का लक्षण जैसे प्रमाकरणत्व [भी हेतु रूप में प्रयुक्त होने पर केवल व्यतिरेकी हेतु ही होगा] जैसे प्रमा का करण होने से प्रत्यक्षादि में प्रमाण यह व्यवहार करना चाहिए। जिसमें प्रमाण यह व्यवहार नहीं होता है वह प्रमाकारण नहीं होता है [यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई और उसमें उदाहरण है] जैसे प्रत्यक्षाभास आदि। यह [विवादास्पद प्रत्यक्षादि] वैसा [अर्थात् प्रमाण व्यवहाराभाव युक्त अतएव प्रमाकरणत्वाभाव युक्त] नहीं है इसलिए वैसा [प्रमाण व्यवहाराभाव योग्य] नहीं है [अर्थात् प्रमाण व्यवहार योग्य है] परन्तु यहाँ जो

अत्र च व्यवहारः साध्यो न तु प्रमाणत्वं, तस्य प्रमाकरणत्वाद्धेतोरभेदेन साध्याभेददोषप्रसङ्गात्। तदेवं केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः।

कश्चिदन्यो हेतु केवलान्वयी। यथा शब्दोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्। यत्प्रमेयं तदभिधेयं यथा घटः। तथा चायं तस्मात्तथेति। अत्र शब्दस्याभिधेयत्वं साध्यं प्रमेयत्वं हेतुः। स च केवलान्वय्येव। यदभिधेयं न भवति तत्प्रमेयमपि न भवति यथामुक इति व्यतिरेकदृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि प्रामाणिक एवार्थो दृष्टान्तः। स च प्रमेयश्चाभिधेयश्चेति।

प्रमाकरण होता है वह प्रमाण होता है जैसे अमुक इस प्रकार का अन्वय दृष्टान्त नहीं है। प्रमाणमात्र के पक्ष कोटि में होने से। इसलिए यह 'केवल व्यतिरेकी' हेतु है।

यहाँ [प्रत्यक्षादिकं प्रमाणमिति व्यवहर्तव्यं प्रमाकरणत्वात् इस अनुमान में] व्यवहार साध्य है, प्रमाणत्व नहीं। उस [प्रमाणत्व] के प्रमाकरणत्व [रूप] हेतु से अभिन्न होने से साध्याभेद [हेतु और साध्य का अभेद रूप] दोष प्राप्त हो जाने से। [इस लिए यहाँ प्रमाणत्व साध्य नहीं है अपितु प्रमाण व्यवहार साध्य है।]

इस प्रकार केवल व्यतिरेकी [हेतु के तीन उदाहरण] दिखा दिए। [आगे केवलान्वयी हेतु का वर्णन करते हैं]

कोई हेतु 'केवलान्वयी' होता, है। जैसे शब्द 'अभिधेय' [किसी शब्द द्वारा कथन करने योग्य] है 'प्रमेय' [ज्ञान प्रमा का विषय] होने से। जो 'प्रमेय होता है सो अभिधेय' होता है जैसे घट, यह [शब्द] भी उसी प्रकार का [प्रमेय] है, अतएव वैसा ही [अभिधेय] है। यहाँ शब्द का 'अभिधेयत्व' साध्य है, प्रमेयत्व' हेतु है, और वह 'केवलान्वयी' ही है। [क्योंकि उसकी] जो अभिधेय नहीं होता है वह प्रमेय भी नहीं होता है [इस व्यतिरेक व्याप्ति में] जैसे अमुक इस प्रकार का 'व्यतिरेक दृष्टान्त' नहीं मिलता है। [क्योंकि] सर्वत्र [प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात होने वाला] प्रमाणिक अर्थ ही दृष्टान्त हो सकता है और वह प्रमेय भी होता है और अभिधेय भी। [इसलिए व्यतिरेक व्याप्ति में यहाँ उदाहरण नहीं मिल सकता है। अतः यह हेतु 'केवलान्वयी' हेतु ही है।]

इस प्रकार १ अन्वयव्यतिरेकी' २ केवलव्यतिरेकी और ३ केवलान्वयी तीनों हेतुओं का उदाहरण सहित प्रदर्शन कर दिया। अब आगे हेतु के पाँच रूपों का वर्णन करते हैं। इन पाँच रूपों से युक्त हेतु ही ठीक हेतु या शुद्ध हेतु कहलाते हैं। उसमें से किसी एक भी रूप की कमी हो जाने पर वह हेतु शुद्ध हेतु नहीं अपितु हेत्वाभास हो जाते हैं और अपने साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ हो जाते हैं। यही बात आगे कहते हैं।

एतेषां च अन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकि-हेतूनां त्रयाणां मध्ये यो हेतुरन्वयव्यतिरेकी स पञ्चरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयितुं क्षमते, नत्वेकेनापि रूपेण हीनः। तानि पञ्चरूपाणि पक्षसत्त्वं, सपक्षसत्त्वं, विपक्षव्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वं, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति।

और इन १ अन्वयव्यतिरेकी, २ केवलान्वयी तथा ३ केवलव्यतिरेकी तीनों हेतुओं में से जो अन्वयव्यतिरेकी हेतु है वह पाँच रूपों से युक्त होने पर ही अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है। एक भी रूप से हीन होने पर नहीं। वे पाँच रूप [निम्न प्रकार के है] —

१ पक्षसत्त्व [पक्षधर्मत्व], २ सपक्षसत्त्व, ३ विपक्षव्यावृत्तत्व, ४ अबाधितविषयत्व और ५ असत्प्रतिपक्षत्व।

इन पञ्च रूपों में 'पक्ष' 'सपक्ष' और 'विपक्ष' शब्द आए हैं। उनको समझे बिना इनका समझना कठिन होगा। इसलिए पहिले 'पक्ष' 'सपक्ष' 'विपक्ष' को समझ लेना चाहिए। इन तीनों के लक्षण 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः', 'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः', और 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' इस प्रकार किए गए हैं। अर्थात् जिसमें साध्य वह्नि आदि सन्दिग्ध अवस्था में हों उसको 'पक्ष' कहते हैं। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि अनुमान में पर्वत में अग्नि की सिद्धि की जा रही है। जब तक अग्नि की सिद्धि न हो जाय तब तक पर्वत में वह्नि का सन्देह ही है। इसलिए सन्दिग्धसाध्यवान् होने से पर्वत 'पक्ष' कहलाता हैं। और धूम हेतु उसमें रहता है। यह उस धूम हेतु का प्रथम रूप 'पक्षसत्त्व' हुआ। दूसरा शब्द 'सपक्ष' है। 'सपक्ष' उसको कहते हैं जिसमें साध्य वह्नि आदि का निश्चय हो। 'निश्चितसाध्यवान् सपक्षः'। निश्चित साध्य से युक्त धर्मी को 'सपक्ष' कहते हैं। जैसे उपर्युक्त वह्नि के अनुमान में महानस अर्थात् रसोईघर 'सपक्ष' है क्योंकि उसमें साध्य वह्नि का निश्चय है। इस सपक्ष रूप महानस में धूम रूप हेतु रहता है। यह हेतु धूम का दूसरा रूप 'सपक्षसत्त्व' हुआ। तीसरा शब्द 'विपक्ष' है। विपक्ष का लक्षण 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः' है। अर्थात् जिसमें साध्य का अभाव निश्चित हो उसको 'विपक्ष' कहते हैं। जैसे उपर्युक्त अनुमान में महाह्रद 'विपक्ष' है। क्योंकि महाह्रद अर्थात् तालाब में, साध्यरूप वह्नि का अभाव निश्चित है। इसलिए महाह्रद 'विपक्ष' कहलाता है। उस महाह्रद रूप विपक्ष में धूम भी नहीं रहता है। यह उसका तीसरा रूप 'विपक्षव्यावृत्तत्व' हुआ।

एतानि तु पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वादौ अन्वयव्यतिरेकिणि हेतौ विद्यन्ते। तथाहि, धूमवत्त्वं पक्षस्य पर्वतस्य धर्मः। पर्वते तस्य विद्यमानत्वात्। एवं सपक्षे सत्त्वम्, सपक्षे महानसे तद् विद्यत इत्यर्थः। एवं विपक्षान्महाह्रदाद् व्यावृत्तिस्तत्र नास्तीत्यर्थः।

एवमबाधितविषयं च धूमवत्त्वम्। तथाहि धूमवत्त्वस्य हेतोर्विषयः साध्यधर्मस्तच्चाग्निमत्त्वम्, तत्केनापि प्रमाणेन न बाधितं न खण्डितमित्यर्थः।

यह पाँचों रूप तो धूमवत्त्व आदि 'अन्वयव्यतिरेकी' हेतु में विद्यमान हैं। क्योंकि उस [धूम] के पर्वत में विद्यमान होने से धूमवत्त्व पक्ष का धर्म है। इसी प्रकार 'सपक्षसत्त्व' है। 'सपक्ष' अर्थात् महानस में वह [धूमवत्त्व] विद्यमान है [अतः सपक्षसत्त्व भी धूमवत्त्व हेतु में पाया जाता है] इसी प्रकार 'विपक्ष' अर्थात् महाह्लद से व्यावृत्ति [भी] है। अर्थात् उस [महाह्लद रूप विपक्ष] में [धूमवत्त्व हेतु] नहीं [रहता] है।

इसी प्रकार धूमवत्त्व हेतु 'अबाधित विषय' भी है। 'अबाधित विषय' पद से 'विषय' शब्द का अर्थ साध्य है। अबाधित विषय को समझने के लिए पहिले बाधित विषय को समझना चाहिए। बाधित विषय का लक्षण 'प्रमाणान्तरावधृतसाध्याभावो हेतुर्बाधितविषयः' इस प्रकार किया गया है। जिसे हेतु के 'विषय' अर्थात् साध्य का अभाव किसी प्रमाणान्तर अर्थात् प्रबलतर दूसरे प्रमाण से निश्चित हो उस हेतुको 'बाधितविषय' कहते हैं। जैसे कोई यह अनुमान प्रस्तुत करे कि 'वह्निरनुष्णः कृतकत्वात् घटवत्।' अग्नि कृतक होने से घट के समान अनुष्ण अर्थात् शीतल है। घट कृतक अर्थात् जन्य है और अनुष्ण है। इसी प्रकार अग्नि भी जन्य होने से घट के समान अनुष्ण है। इस अनुमान में अग्नि 'पक्ष' है उसमें 'अनुष्णत्व' 'साध्य' है और कृतकत्व 'हेतु' है। इस 'कृतकत्व' हेतु का जो साध्य 'अनुष्णत्व' है उसका अभाव अर्थात् 'उष्णत्व' अग्नि में स्पर्श द्वारा त्वाच-प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। इसलिए 'त्वाचप्रत्यक्ष' रूप प्रमाणान्तर से 'कृतकत्वात्' इस हेतु के विषय अर्थात् साध्य रूप अनुष्णत्व का अभाव 'उष्णत्व' अग्नि में पूर्व सिद्ध होने से यह 'बाधितविषय' नाम का हेत्वाभास कहलाता है। इसी प्रकार यदि वह्निविषयक अनुमान में प्रयुक्त धूमवत्त्व हेतु के साध्य रूप वह्निका पर्वत में किसी प्रबल प्रमाणान्तर से अभाव निश्चित होता तो धूमवत्त्व हेतु 'बाधितविषय' कहा जाता। परन्तु ऐसा नहीं है इसलिए—

इस प्रकार धूमवत्त्व हेतु 'अबाधित-विषय' है। क्योंकि धूमवत्त्व हेतु का विषय अर्थात् साध्य जो कि अग्निमत्त्व है वह [पर्वत रूप पक्ष में] किसी प्रमाण से बाधित

एवमसत्प्रतिपक्षत्वम्-असन् प्रतिपक्षो यस्येत्यसत्प्रतिपक्षं धूमवत्त्वं हेतुः। तथाहि, साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। स च धूमवत्त्वे हेतौ नास्त्येवानुपलम्भात्।

तदेवं पञ्चरूपाणि धूमवत्त्वे हेतौ विद्यन्ते। तेनैतद् धूमवत्त्वमग्निमत्त्वस्य गमकम्, अग्निमत्त्वस्य साधकम्।

अग्नेः पक्षधर्मत्वं हेतोः पक्षधर्मताबलात् सिद्धयति। तथाहि, अनुमानस्य द्वे अङ्गे, व्याप्तिः पक्षधर्मता च। तत्र व्याप्त्या साध्यसामान्यस्य

अर्थात् खण्डित नहीं है [अर्थात् पर्वत में वह्नि का अभाव किसी प्रमाण से गृहीत नहीं है। अतः यह धूमवत्त्व हेतु 'अबाधित' विषय है।]

इस प्रकार धूमवत्त्व हेतु में पांचवां धर्म 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी है। 'असत्प्रतिपक्ष' को समझने के लिये पहिले उसके विरोधी 'सत्प्रतिपक्ष' को समझना चाहिए। जिस हेतु का प्रतिपक्ष विद्यमान है उसको सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। प्रतिपक्ष का लक्षण 'साध्यविपरीतसाधकं तुल्यबलं हेत्वन्तरं प्रतिपक्षः' है। एक हेतु का जो साध्य है उससे विपरीत बात को सिद्ध करनेवाला तुल्यबल दूसरा हेतु 'प्रतिपक्ष' कहलाता है। जिस हेतु का इस प्रकार का प्रतिपक्ष विद्यमान है उसको 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास कहते हैं। जैसे 'शब्दो नित्यः अनित्यधर्मानुपलब्धेः' और 'शब्दः अनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः' यह दोनों तुल्यबल विरोधी हेतु हैं। अतः यह एक दूसरे के 'प्रतिपक्ष' हैं और वह दोनों हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' नामक हेत्वाभास कहे जाते हैं। परन्तु प्रकृत धूमवत्त्व हेतु का इस प्रकार का साध्यविपरीत साधक तुल्यबलविरोधी कोई दूसरा हेतु नहीं पाया जाता है। अतएव वह 'सत्प्रतिपक्ष' नहीं है। अर्थात् उसमें 'असत्प्रतिपक्षत्व' रूप पञ्चम हेतुरूप भी विद्यमान है। अतः धूमवत्त्व हेतु 'पञ्चरूपोपपन्न' होने से 'सद् हेतु' है। यही बात ग्रन्थकार आगे प्रतिपादित करते हैं—

इस प्रकार असत्प्रतिपक्षत्व [धर्म भी धूमवत्त्व हेतु में है। असत्प्रतिपक्ष का अर्थ है] अविद्यमान है प्रतिपक्ष जिसका इस प्रकार का असत्प्रतिपक्ष धूमवत्त्व हेतु है। क्योंकि [एक हेतु के] साध्य के विपरीत [अर्थ] को सिद्ध करने वाले दूसरे हेतु को प्रतिपक्ष कहते हैं। और वह [प्रतिपक्ष रूप साध्य विपरीत साधक तुल्यबल हेत्वन्तर] धूमवत्त्व हेतु में उपलब्ध न होने से नहीं है।

इस प्रकार धूमवत्त्व हेतु में पांचों रूप विद्यमान हैं। इसलिए धूमवत्त्व अग्निमत्त्व का बोधक अग्निमत्त्व का साधक [शुद्ध हेतु] है।

अग्नि का 'पक्षधर्मत्वं' [अर्थात् पक्ष रूप पर्वत में विद्यमानत्व] हेतु [अर्थात्

सिद्धिः । पक्षसत्ताबलात्तु साध्यस्य पक्षसम्बन्धित्वं विशेषः सिद्धयति । पर्वतधर्मेण, धूमवत्त्वेन वह्निरपि पर्वतसम्बद्ध एवानुमीयते । अन्यथा साध्यसामान्यस्य व्याप्तिग्रहादेव सिद्धेः कृतमनुमानेन ।

यस्त्वन्योऽप्यन्वयव्यतिरेकी हेतुः स सर्वः पञ्चरूपोपपन्न एव सद्धेतुः । अन्यथा हेत्वाभासो अहेतुरिति यावत् ।

केवलान्वयी चतूरूपोपपन्न एव स्वसाध्यं साधयति । तस्य हि विपक्षाद् व्यावृत्तिर्नास्ति, विपक्षाभावात् ।

केवलव्यतिरेकी च चतूरूपोपपन्न एव । तस्य हि सपक्षे सत्त्वं नास्ति, सपक्षाभावात् ।

धूम] की 'पक्षधर्मता' [अर्थात् पर्वत में विद्यमानता] केवल से सिद्ध होता है। क्योंकि अनुमान के दो अङ्ग होते हैं [एक] व्याप्ति' और [दूसरी] 'पक्षधर्मता'। उसमें व्याप्ति से [जहाँ धूम होगा वहाँ अग्नि होगी इस प्रकार के] साध्य सामान्य की सिद्धि होती है। और पक्षधर्मता [हेतु की पक्ष में विद्यमानता] के बल से साध्य [अग्नि] के पक्षसम्बन्धित [अर्थात् पर्वत में विद्यमानत्व] रूप विशेष की सिद्धि होती है। पक्ष [पर्वत] के धर्म [अर्थात् पर्वत में विद्यमान] रूप धूमवत्त्व से अग्नि भी पर्वत सम्बन्ध ही गृहीत [अनुमित] होता है। अन्यथा [पक्षधर्मता के अभाव में] साध्यसामान्य [जहाँ धूम होगा वहाँ अग्नि होगी इस प्रकार] के व्याप्तिग्रह से ही सिद्ध होने से अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

[इसी प्रकार] जो और भी 'अन्वयव्यतिरेकी' हेतु है वह सब 'पञ्चरूपोपपन्न' होने पर ही शुद्ध हेतु है। अन्यथा [किसी एक भी रूप से रहित होने पर] हेतु के समान प्रतीत होने वाला [हेतुवदाभासमान हेत्वाभास] अहेतु [अशुद्ध हेतु] है। [दूसरा] केवलान्वयी हेतु चार रूपों से युक्त होकर ही अपने साध्य को सिद्ध करता है। उसमें विपक्ष से व्यावृत्ति [रूप तृतीय धर्म] नहीं होती क्योंकि उसमें विपक्ष का अभाव होता है।

और केवल व्यतिरेकी [भी] चार रूप से युक्त ही [होता है] क्योंकि उसका 'सपक्ष' न होने से [उसमें] सपक्षसत्त्व नहीं होता।

अन्वय और व्यतिरेक से, दो प्रकार की व्याप्ति के आधार पर 'केवलान्वयी' और 'केवलव्यतिरेकी' यह दो भेद हेतु के होते हैं। और तीसरा भेद इन दोनों के सम्मिश्रण से 'अन्वयव्यतिरेकी' भेद के नाम से होता है। इन व्याप्तियों में से 'अन्वयव्याप्ति' भावभूत धूम तथा वह्नि आदि की, और व्यतिरेक व्याप्ति वह्न्यभाव

के पुनः पक्ष-सपक्ष-विपक्षाः ? उच्यन्ते । सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्षः । यथा धूमानुमाने पर्वतः पक्षः । सपक्षस्तु निश्चितसाध्यधर्मा धर्मी । यथा महानसो धूमानुमाने । विपक्षस्तु निश्चितसाध्याभाववान् धर्मी । यथा तत्रैव महाह्रद इति ।

तदेवमन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकिणो दर्शिताः ।

अतोऽन्ये हेत्वाभासाः । ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव ।

तथा धूमाभाव रूप अभावों की होती है । केवलान्वयी में अन्वय व्याप्ति का ही उदाहरण मिलता है, व्यतिरेक व्याप्ति का नहीं । इसलिए उसमें 'विपक्ष' कोई होता ही नहीं । अतः विपक्ष के न होने से 'विपक्षव्यावृत्तत्व' रूप धर्म उसमें नहीं बन सकता है । अतः वह चार रूप से ही युक्त होता है । इसी प्रकार 'केवलव्यतिरेकी' हेतु में व्यतिरेक व्याप्ति का ही उदाहरण मिलता है अन्वय-व्याप्ति का नहीं । अतः उसका 'सपक्ष' कोई न होने से उसमें 'सपक्षसत्त्व' रूप धर्म नहीं बन सकता है । अतः वह भी चार रूप से ही युक्त होता है । इस प्रकार 'अन्वयव्यतिरेकी' हेतु 'पञ्चरूपोपपन्न' होने पर तथा 'केवलान्वयी' और 'केवलव्यतिरेकी' हेतु चार रूपों से युक्त होने पर ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकते हैं । इन धर्मों में कमी होने पर हेत्वाभास हो जाते हैं ।

[प्रश्न] अच्छा फिर पक्ष, सपक्ष और विपक्ष कौन [कहलाते] हैं ।

[उत्तर] कहते हैं । सन्दिग्ध साध्यधर्म से युक्त धर्मी [पर्वतादि] पक्ष [होता] है । जैसे धूम [लिङ्गक] अनुमान में पर्वत पक्ष है । [क्योंकि उसमें अग्नि है या नहीं यह सन्देह रहता ही है अतः 'सन्दिग्धसाध्यवान्' होने से पर्वत 'पक्ष' कहलाता है] निश्चित साध्यधर्म से युक्त धर्मी सपक्ष [कहलाता] है । जैसे धूम [लिङ्गक उक्त] अनुमान में महानस [रसोई घर में अग्नि का निश्चय होने से वह 'सपक्ष' कहलाता है] और निश्चित रूप से साध्याभाव युक्त धर्मी विपक्ष [कहलाता] है । जैसे उसी [धूमलिङ्गक अनुमान] में महाह्रद ।

इस प्रकार १ अन्वयव्यतिरेकी, २ केवलान्वयी और ३ केवलव्यतिरेकी [तीनों प्रकार के हेतु] प्रदर्शित कर दिए ।

इस प्रकार यहाँ तक अनुमान का सामान्यतः निरूपण किया गया इसके आगे इस अनुमान प्रकरण के अन्तिम भाग हेत्वाभासों का विवेचन किया जायगा ।

इन [त्रिविध शुद्ध हेतुओं] के अतिरिक्त अन्य [सब] हेत्वाभास होते हैं । और वह १ असिद्ध, २ विरुद्ध, ३ अनैकान्तिक, ४ प्रकरणसम तथा ५ कालात्ययापदिष्ट भेद से पाँच प्रकार के ही होते हैं ।

१ तत्र लिङ्गत्वेनासिद्धो हेतुरसिद्धः । तत्रासिद्धस्त्रिविधः । आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति ।

आश्रयासिद्धो यथा गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत् । अत्र गगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव ।

स्वरूपासिद्धो यथा, अनित्यः शब्दः चाक्षुषत्वात् घटवत् । अत्र चाक्षुषत्वं हेतुः, स च शब्दे नास्त्येव, तस्य श्रावणत्वात् ।

व्याप्यत्वासिद्धस्तु द्विविधः । एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् । अपर-

---

१ उनमें लिङ्गत्वरूपसे अनिश्चित हेतु 'असिद्ध' [नामक हेत्वाभास कहलाता] है। वह असिद्ध तीन प्रकार का होता है। १ 'आश्रयासिद्ध', २ 'स्वरूपासिद्ध' और ३ व्याप्यत्वासिद्ध'।

[इनमें आश्रयासिद्ध का लक्षण है, 'यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः' जिस हेतु का आश्रय अर्थात् पक्ष न हो उसको आश्रयासिद्ध कहते हैं।] आश्रयासिद्ध' जैसे [गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत् ।'] आकाश कमल सुगन्धित होता है, कमल होने से; सरोज कमलके समान। यहाँ [इस अनुमान में] आकाश कमल [गगनारविन्द] आश्रय [हेतु का आश्रय अर्थात् पक्ष] है और वह [वस्तुतः] है ही नहीं। [अतः आश्रय अर्थात् पक्ष के न होने से अरविन्दत्वात् हेतु आश्रयासिद्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है]

असिद्ध का दूसरा भेद 'स्वरूपासिद्ध' है। 'स्वरूपासिद्ध' का लक्षण है 'यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः।' जो हेतु आश्रयमें न पाया जाय उसको स्वरूपासिद्ध कहते हैं। आश्रयासिद्ध का लक्षण 'यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः' यह किया था और स्वरूपासिद्ध का लक्षण 'यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्धः' यह किया गया है। अर्थात् जिस हेतु का आश्रय तो हो, परन्तु हेतु उस आश्रय अर्थात् पक्षमें न रहता हो उसको 'स्वरूपासिद्ध' कहते हैं। 'आश्रयासिद्ध'में तो आश्रय या पक्षका अस्तित्व ही नहीं होता परन्तु 'स्वरूपासिद्ध' में आश्रय या पक्ष का अस्तित्व तो होता है लेकिन हेतु उस आश्रय या पक्ष में नहीं रहता है अतः उसको 'स्वरूपासिद्ध' कहते हैं। यह आश्रयासिद्ध और 'स्वरूपासिद्ध' का भेद हुआ।

स्वरूपासिद्ध जैसे शब्द अनित्य है, चाक्षुष [अर्थात् चक्षु से ग्राह्य] होने से, घट के समान। यहाँ चाक्षुषत्व हेतु है, और वह [आश्रय या पक्ष रूप] शब्द में नहीं रहता। उस [शब्द] के श्रावण [अर्थात् श्रोत्र ग्राह्य] होने से।

[असिद्ध का तीसरा भेद 'व्याप्यत्वासिद्ध' है। जिसकी व्याप्ति सिद्ध न हो उसको व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। व्याप्यत्वासिद्ध दो प्रकार का होता है। एक

स्तूपाधिसद्भावात्। तत्र प्रथमो यथा, शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यत्सत् तत्क्षणिकं यथा जलधरपटलं तथा च शब्दादिरिति। न च सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिग्राहकं प्रमाणमस्ति। सोपाधिकतया व्याप्यत्वासिद्धौ उच्यमानायां क्षणिकत्वमन्यप्रयुक्तमित्यभ्युपगतं स्यात्।

'व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्।' अर्थात् व्याप्तिग्राहक प्रमाणका अभाव होने से और दूसरा उपाधि का सद्भाव होने से। उनमें से प्रथम [व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण] जैसे शब्द क्षणिक है सत् होने से। जो सत् होता है वह क्षणिक होता है जैसे मेघसमूह। शब्द भी वैसा [मेघसमूह के समान सत्] ही है। और [यहाँ यत्सत् तत्क्षणिकं जो सत् है वह क्षणिक होता है यह सत्त्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति बनती है परन्तु इस] सत्त्व तथा क्षणिकत्व की व्याप्ति का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है [उसके विपरीत प्रत्यक्ष रूप से घटादि सत् पदार्थ स्थिर ही दिखाई देते हैं। इसलिए व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव में यह सत्त्व हेतु व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है।] सोपाधिक होनेसे यदि इसको व्याप्यत्वासिद्ध कहा जाय तो [शब्दादि में] अन्य [उपाधिभूत धर्म] प्रयुक्त क्षणिकत्व है यह मानना होगा। [जो कि नैयायिकों को अभीष्ट नहीं है]

इसका अभिप्राय यह है कि 'व्याप्यत्वासिद्ध' दो प्रकार का माना है। एक व्याप्ति-ग्राहक-प्रमाण के अभाव में और दूसरा उपाधि के सद्भाव में। उनमें से व्याप्ति-ग्राहक-प्रमाणाभाव वाले 'व्याप्यत्वासिद्ध' का उदाहरण यह दिया है। यहाँ शङ्का यह हो सकती है कि इसको भी 'उपाधिसद्भावमूलक' 'व्याप्यत्वासिद्ध' ही क्यों न मान लिया जाय। इसका उत्तर यह है कि उपाधि स्थलमें साध्यका अस्तित्व तो स्वीकार करना ही होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि उस साध्यका प्रयोजक या कारण हेतु रूपमें प्रयुक्त धर्म नहीं, अपितु उपाधिभूत धर्म होता है। जैसे ऊपर पृष्ठ ७५ पर दिए हुए 'स श्यामः, मैत्रीतनयत्वात्, परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्' इत्यादि उदाहरणोंमें श्यामत्वका प्रयोजक 'मैत्रीतनयत्व'को नहीं अपितु 'उपाधिभूत' 'शाकपाकजन्यत्व'को माना जाता है। इसी प्रकार यहाँ यदि सत्त्व और क्षणिकत्वकी व्याप्तिमें कोई उपाधिभूत धर्म बनाया जाय तो उसका परिणाम यह होगा कि जैसे मैत्री के तनयों में रहनेवाले श्यामत्व का प्रयोजक 'मैत्रीतनयत्व' न होकर 'शाकपाकजन्यत्व' को मानते हैं। इसी प्रकार यहाँ क्षणिकत्वका प्रयोजक सत्त्वके बजाय किसी अन्य धर्मको माना जायगा। परन्तु सिद्धान्त पक्ष यह है कि उदाहरणभूत घटादिमें क्षणिकत्व ही नहीं है। यदि सत्त्व हेतुको सोपाधिक कहेंगे तो घटादिमें क्षणिकत्व तो है परन्तु उसका कारण या प्रयोजक सत्त्व नहीं अपितु अन्य कोई उपाधिभूत धर्म है यह

द्वितीयो यथा क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं, हिंसात्वात्, क्रतुबाह्यहिंसावत्। अत्र ह्यधर्मसाधनत्वे हिंसात्वं न प्रयोजकं किंतु निषिद्धत्वमेव प्रयोजकम्, उपाधिरिति यावत्। तथा हि 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक' उपाधिरित्युपाधिलक्षणम्। तच्चास्ति निषिद्धत्वे। निषिद्धत्वं हि साध्यस्याधर्मसाधनत्वस्य व्यापकम्, यतो यत्र यत्राधर्मसाधनत्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वमपीति। एवं साधनं हिंसात्वं, न व्याप्नोति निषिद्धत्वम्। न हि यत्र यत्र हिंसात्वं तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वं, यज्ञीयपशुहिंसाया निषिद्धत्वाभावात्। तदेवं निषिद्धत्वस्योपाधेः सद्भावादन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवि हिंसात्वं व्याप्यत्वासिद्धमेव।

अर्थ होगा। जो अभीष्ट नहीं है। अतः इसको 'उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध' न मान कर 'व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्' ही व्याप्यत्वासिद्ध मानना चाहिए। यह सिद्धान्तपक्ष का अभिप्राय है।

आगे 'उपाधि सद्भाव' से होनेवाले 'व्याप्यत्वासिद्ध' का उदाहरण देते हैं—

दूसरा [अर्थात् 'उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध' का उदाहरण] जैसे यज्ञ के मध्य में की गई हिंसा अधर्मजनिका है, हिंसा होने से, यज्ञ [क्रतु] से बाहर की हिंसा के समान। यहां अधर्मसाधनत्व में हिंसात्व प्रयोजक नहीं है किन्तु निषिद्धत्व ही [प्रयोजक है। और उस प्रयोजक को ही उपाधि कहते हैं। इसलिए वह निषिद्धत्व ही यहां] प्रयोजक अर्थात् उपाधि है। क्योंकि साध्य का व्यापक होने पर [भी जो] साधन का अव्यापक हो वह उपाधि है यह उपाधि का लक्षण है। और वह [साध्यव्यापकत्वे सति साधनव्यापकत्व रूप उपाधि लक्षण] निषिद्धत्व में [पाया जाता] है। निषिद्धत्व साध्यरूप अधर्मसाधनत्व का व्यापक है क्योंकि जहां जहां अधर्मसाधनत्व होता है वहां वहां निषिद्धत्व भी अवश्य होता है [यह साध्य व्यापकत्व हुआ] इसी प्रकार साधनभूत हिंसात्व का व्यापक निषिद्धत्व नहीं होता [अर्थात् जहां जहां हिंसात्व है वहां वहां निषिद्धत्व भी अवश्य हो यह बात नहीं है] यज्ञीय पशु-हिंसा के [विहित होने से] निषिद्ध न होने से। [यह साधनाव्यापकत्व हुआ। इस प्रकार 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्' रूप उपाधि का लक्षण निषिद्धत्व में घट जाता है इसलिए निषिद्धत्व उपाधि है] इस प्रकार निषिद्धत्व उपाधि के विद्यमान होने से अन्य प्रयुक्त [अर्थात् निषिद्धत्व प्रयुक्त] व्याप्ति के आश्रित रहनेवाला हिंसात्व [हेतु] 'व्याप्यत्वासिद्ध' ही है। [निषिद्धत्व ही वस्तुतः अधर्मजनकत्व का प्रयोजक है। वह निषिद्धत्व का अधर्मजनकत्व धर्म यहां हिंसात्व में प्रतीत होता है। इसलिए 'उप' अर्थात् अपने समीप-

२ साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः । स यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादात्मवत् । अत्र कृतकत्वं हि साध्यनित्यत्वविपरीतानित्यत्वेन व्याप्तम् । यत्कृतकं तदनित्यमेव, न नित्यमित्यतो विरुद्धं कृतकत्वमिति ।

३ सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः । स द्विविधः, साधारणानैकान्तिकोऽसाधारणानैकान्तिकश्चेति । तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणः । यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात् व्योमवत् । अत्र हि प्रमेयत्वं हेतुस्तच्च नित्यानित्यवृत्ति । सपक्षाद् विपक्षाद् व्यावृत्तो यः पक्ष एव वर्तते सोऽसाधारणानैकान्तिकः । स यथा भूर्नित्या गन्धवत्त्वात् । गन्धवत्त्वं हि सपक्षान्नित्याद् विपक्षाच्चानित्याद् व्यावृत्तं भूमात्रवृत्ति ।

४ प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं

वर्ती हिंसात्व में अपने धर्म का आधान करने के कारण निषिद्धत्व उपाधि कहलाता है । 'उस स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्ममादधातीति उपाधिः' । उपाधि शब्द की इस व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर ही अन्यप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवि हिंसात्वम् यह लिखा है ।]

२ साध्य के विपर्यय [विपरीत अथवा अभाव] के साथ व्याप्त हेतु 'विरुद्ध' [हेत्वाभास] है । वह जैसे शब्द नित्य है, कृतक [जन्य] होने से, आत्मा के समान । यहां कृतकत्व [हेतु] साध्य नित्यत्व के विपरीत अनित्यत्व के साथ व्याप्त है । जो कृतक सो अनित्य ही है नित्य नहीं । इसलिए कृतकत्व हेतु विरुद्ध [हेत्वाभास ही] है ।

३ सव्यभिचार को अनैकान्तिक कहते हैं । वह दो प्रकार का है । १ साधारणानैकान्तिक और २ असाधारणानैकान्तिक । उनमें से पक्ष, सपक्ष और विपक्ष [तीनों] में रहने वाला [अर्थात् विपक्षव्यावृत्तत्व धर्म से रहित] साधारणानैकान्तिक है । वह जैसे शब्द नित्य है, प्रमेय होने से, आकाश के समान । यहां प्रमेयत्व हेतु है और वह नित्य तथा अनित्य [सपक्ष तथा विपक्ष] दोनों में रहने वाला है । [इसके विपरीत] सपक्ष और विपक्ष [दोनों] से व्यावृत्त जो [केवल] पक्ष में ही रहता है । वह असाधारणानैकान्तिक है । वह जैसे पृथिवी नित्य है गन्धवती होने से । [यहां] गन्धवत्त्व [हेतु] सपक्ष नित्य [आकाशादि] और विपक्ष अनित्य [जलादि] से व्यावृत्त केवल पृथिवीमात्र में रहता है । [अतः असाधारणानैकान्तिक हेत्वाभास है ।]

४ जिस हेतु के साध्य के विपरीत [अर्थ] का साधक दूसरा हेतु विद्यमान है वही प्रकरणसम [हेत्वाभास कहलाता] है । वह जैसे शब्द अनित्य है नित्य धर्म से रहित होने से । [यह एक अनुमान है । उसके विपरीत शब्द को नित्य सिद्ध करने वाला और उसका तुल्यबलविरोधी दूसरा अनुमान] शब्द नित्य

२ अनुमान का लक्षण और भेद।

अनुमान प्रमाण के विषय में दार्शनिक जगत् में तीन प्रकार की परम्पराएँ पाई जाती हैं। एक वैदिक-परम्परा, दूसरी बौद्ध-परम्परा और तीसरी नव्य न्याय की परम्परा। अनुमान के लक्षण और भेदों का निरूपण सबसे पहिले वैदिक-परम्परा में ही प्रारम्भ हुआ। इस वैदिक-परम्परा की भी दो धाराएँ मिलती हैं। एक धारा तो वैशेषिक और मीमांसा की विचारधारा है और दूसरी धारा में न्याय, सांख्य और चरक इन शास्त्रों का समावेश किया जा सकता है। इन दोनों में भेद यह है कि वैशेषिक और मीमांसा वाली परम्परा में अनुमान के दो भेद किए गए हैं और न्याय, सांख्य तथा चरक वाली परम्परा में दो के स्थान पर तीन भेद किए गए हैं। पहिली वैशेषिक और मीमांसक परम्परा का ज्ञान हमको 'प्रशस्तपादभाष्य' तथा 'शाबरभाष्य' में होता है। उन दोनों ने अनुमान के दो भेद करते हुए लिखा है।

तत्तु द्विविधम्। प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च। [मीमांसा[1]]

तत्तु द्विविधम्। दृष्टं सामान्यतो दृष्टं च। [वैशेषिके[2]]

अर्थात् मीमांसा और वैशेषिक दोनों दर्शनों में अनुमान के दो भेद माने हैं एक 'दृष्ट' अथवा 'प्रत्यक्षतो दृष्ट' और दूसरा 'सामान्यतो दृष्ट'। इन दोनों दर्शनों में दूसरा भेद तो 'सामान्यतो दृष्ट' नाम से ही दोनों जगह कहा जाता है। परन्तु पहिले भेद को एक जगह 'प्रत्यक्षतो दृष्ट' तथा दूसरी जगह केवल 'दृष्ट' शब्द से कहा गया है। परन्तु वह कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है। दोनों लगभग समान ही हैं।

इसके विपरीत न्याय, सांख्य तथा चरक की परम्परा में अनुमान के तीन प्रकारों का वर्णन पाया जाता है। न्याय-सूत्र में अनुमान का लक्षण तथा भेद प्रदर्शित करते हुए लिखा है।

अथ[3] तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च।

इस सूत्रमें सूत्रकार ने अनुमान के १ 'पूर्ववत्', २ 'शेषवत्' और ३ 'सामान्यतो दृष्ट' यह तीन भेद किए हैं। सांख्यकारिका में 'त्रि[4]विधमनुमानमाख्यातम्' लिख कर और उसकी टीका, मा[5]ठरवृत्ति तथा चर[6]क के सूत्रस्थान में भी 'प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते' लिखकर न्याय-सूत्र के अनुसार बिल्कुल इसी नाम से

१ शाबरभाष्य १।१।५
२ प्रशस्तपादभाष्य पृ० १०४
३ न्याय० १।१।५
४ सांख्यकारिका ५।
५ माठरवृत्ति सां० का० ५।
६ चरक सूत्रस्थान २१, २२

अनुमान के तीन भेद किये हैं। इस प्रकार वैदिक दर्शनों में यह दो प्रकार 'द्विविध' और 'त्रिविध' भेद वाली परम्पराएँ पाई जाती हैं।

परन्तु श्री वाचस्पति मिश्र, जिन्होंने सभी दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं इन दोनों परम्पराओं का समन्वय करते हुए दिखाई देते हैं। उन्होंने अपनी 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में पांचवीं कारिका की टीका में पहिले वैशेषिक तथा मीमांसक परम्परा के अनुसार अनुमान के दो भेद किए। एक वीत और दूसरा अवीत। 'तत्र अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम्'। और 'निषेधमुखेन प्रवर्तमानम् अविधायकमवीतम्'। अर्थात् अन्वयमुख से प्रवर्तमान विधायक अनुमान को 'वीत' अनुमान कहते हैं। और निषेधमुख से प्रवर्तमान अविधायक अनुमान को अवीत' अनुमान कहते हैं। इनमें से जो 'अवीत' अनुमान है वही न्यायपरम्परा का 'शेषवत्' है।

'[1]तत्रावीतं शेषवत्। शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः। स एव विषयतया यस्यास्त्यनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत्। यदाहुः प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः'।

अनुमान का दूसरा भेद 'वीत' है। सांख्यतत्त्वकौमुदी में इसके फिर दो भेद किए गये हैं उनमें से एक को 'पूर्ववत्' तथा दूसरे को 'सामान्यतो दृष्ट' कहा है।

[2]वीतं च द्वेधा। पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च। तत्रैकं दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं तत्पूर्ववत्। पूर्वं प्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणसामान्यमिति यावत् तदस्य विषयत्वेनास्त्यनुमानज्ञानस्येति पूर्ववत्। यथा धूमाद् वह्नित्वसामान्यविशेषः पर्वतेऽनुमीयते। तस्य च वह्नित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निविशेषो दृष्टो रसवत्याम्।

अपरं च वीतं सामान्यतो दृष्टम्, अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यथेन्द्रियविषयमनुमानम्। अत्र हि रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन करणत्वमनुमीयते। यद्यपि करणत्वसामान्यस्य छिदादौ वाऽस्यादि स्वलक्षणमुपलब्धं, तथापि यज्जातीयस्य रूपादिज्ञाने करणत्वमनुमीयते तज्जातीयस्य करणस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण। इन्द्रियजातीयं हि तत्करणं, न चेन्द्रियत्वसामान्यस्य स्वलक्षणमिन्द्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वाग्दृशां यथा वह्नित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निः। सोऽयं पूर्ववतः सामान्यतो दृष्टात् सत्यपि वीतत्वेन तुल्यत्वे विशेषः।

इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने पहिले अनुमान के 'वीत' और 'अवीत' दो भेद करके मीमांसा और वैशेषिक को द्विविध भेद वाली परम्परा का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। और उसके बाद त्रिविध भेद वाली न्याय तथा सांख्यपरम्परा को प्रदर्शित किया है। वाचस्पति मिश्र का यह समन्वय केवल

१-२ सांख्यतत्त्वकौमुदी कारिका ५।

संख्या भेद की सीमा तक ही रहता है अर्थ का समन्वय नहीं हो पाता है। क्योंकि मीमांसा और वैशेषिक परम्परा में 'वीत' और 'अवीत' इन नामों तथा 'अवीत' अर्थात् 'शेषवत्' इस भेद का उल्लेख नहीं मिलता है।

३—बौद्ध-परम्परा में अनुमान के भेद।

अनुमान के विषय में दूसरी परम्परा बौद्धों की है। इस परम्परा में भी दो प्रकार की धाराएँ पाई जाती हैं। प्रारम्भ में बौद्धों ने वैदिक-परम्परा का ही अनुगमन किया है और न्यायसूत्र के अनुसार त्रिविध अनुमान का ही वर्णन किया है। यह त्रिविध अनुमान का वर्णन बौद्धों के केवल एक ग्रंथ 'उपायहृदयम्' [पृष्ठ १३] में पाया जाता है। 'उपायहृदयम्' को कुछ लोग नागार्जुनकृत मानते हैं। यदि वह नागार्जुनकृत न हो, तो भी वह दिङ्नाग का पूर्ववर्ती अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार दिङ्नाग के पूर्व ईसा की चौथी शताब्दी तक बौद्ध दार्शनिक भी न्याय की वैदिक-परम्परा का ही अनुमान करते रहे। ईसा की पांचवीं शताब्दी में आचार्य दिङ्नाग ने, जो वस्तुतः बौद्ध न्याय के जन्मदाता हैं, इस विषय में भी वैदिक-परम्परा से भिन्न अपनी स्वतन्त्र नई परम्परा स्थापित की और न्याय-परम्परा से भिन्न प्रकार से अनुमान के लक्षण, भेद आदि किए। आगे सभी बौद्ध दार्शनिकों ने दिङ्नाग की नवीन पद्धति को अपनाया है।

४—तर्कभाषा में अनुमान के भेद—

प्रकृत तर्कभाषा ग्रंथ में अनुमान के पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट भेद नहीं दिखलाए हैं। अपितु उनके स्थान पर स्वार्थानुमान और परार्थानुमान यह दो भेद दिखलाए हैं। यह भेद मुख्यतः और स्पष्टतः वैशेषिक-परम्परा में प्रतिपादित किए हैं।

पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्। पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम्[१]।

बौद्धों ने भी स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के इस भेद को अपनाया है। और उनके अनुमान के लक्षण पर भी वैशेषिक की छाया दिखाई देती है। वैशेषिक दर्शन में अनुमान को 'लैङ्गिक' पद से निर्दिष्ट किया है। और 'लिङ्गदर्शनात् संजायमानं लैङ्गिकम्' यह उसका लक्षण किया है। बौद्धों के 'अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम्[२]' इस लक्षण पर वैशेषिक के पूर्वोक्त 'लिङ्गदर्शनात् संजायमानं लैङ्गिकम्' इस लक्षण की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। और

१ प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ११३। २ न्याय प्र० पृ० ७, न्यायबिन्दु २।३, तत्त्वसंग्रहकारिका १३६२।

उनके स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान भेदों पर भी वैशेषिक की छाया स्पष्ट है। इस प्रकार यद्यपि बौद्ध दार्शनिकों ने न्याय-परम्परा के अनुमान, लक्षण तथा भेदों का खण्डन करने का प्रबल प्रयत्न किया है फिर भी वह वैदिक परम्परा के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सके हैं। न्याय-परम्परा के 'अथ तत्पूर्वकमनुमानम्' इस लक्षण और 'त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च' इन भेदोंको स्वीकार न करने पर भी वैशेषिक-प्रतिपादित अनुमान-लक्षण और भेदों का अनुगमन उन्होंने किया ही है।

हमने अपनी दर्शनमीमांसा में इस विषय का सङ्कलन इस प्रकार किया है।[1]

द्वैधमत्रानुमानं यत्, परार्थस्वार्थभेदतः।
संविभक्तं तदन्यत्र चान्यथा तु द्विधा त्रिधा ॥ १ ॥
पूर्वच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतस्तथा।
सूत्रकारेण न्याये तु भेदस्तस्य त्रिधा कृतः ॥ २ ॥
सांख्ये वीतमवीतं च पूर्वं तावद् द्विधा कृतम्।
वीतं पुनर्द्विधा कृत्वा तृतीयं शेषवन्मतम् ॥ ३ ॥
तत्र न्यायस्य भेदानां व्याख्या भाष्ये द्विधा कृता।
न्याय एव तयोराद्या परा सांख्येऽपि सम्मता ॥ ४ ॥

त्रिविधभेदों की न्यायाभिमत प्रथम व्याख्या—

पूर्ववत् कारणज्ञानात् कार्यं यदनुमीयते।
भाविवृष्टेर्यथा ज्ञानं मेघैर्मेदुरितेऽम्बरे ॥ ५ ॥
कार्याद्धेतोश्च यज्ज्ञानं 'शेषवत्' तत्प्रकीर्तितम्।
भूतवृष्टेर्यथा ज्ञानं स्रोतोभेदादिभिर्भवेत् ॥ ६ ॥
कार्यकारणभावादि सम्बन्धेतरहेतुकम्।
ज्ञानं 'सामान्यतो दृष्टं' गतिमच्चन्द्रतारकम् ॥ ७ ॥
इतीयं प्रथमा व्याख्या प्रायो न्याये समादृता।
क्वचित् सांख्येऽपि संदृष्टा परा सांख्यानुगापि च ॥ ८ ॥

त्रिविध भेदों की न्यायोक्त तथा सांख्याभिमत द्वितीय व्याख्या—

'पूर्ववद्' धूमवह्न्याद्योः पूर्वं प्रत्यक्षभूतयोः।
वह्नेरनुमानं धूमात्, सांख्ये दृष्टस्वलक्षणम् ॥ ९ ॥
इन्द्रियाद्यनुमानं च करणत्वादिहेतुकम्।
न्याये 'सामान्यतो दृष्टं' सांख्येऽदृष्टस्वलक्षणम् ॥ १० ॥

---

१ दर्शनमीमांसा ४।

प्रसक्तप्रतिषेधे यत् परिशेषान्नियम्यते ।
सांख्येऽवीतं तु तत्प्रोक्तं न्याये तच्छेषवन्मतम् ॥ ११ ॥

द्विविध भेदवादी मत—

जैमिनीये च काणादे शेषवन्न समीरितम् ।
दृष्टं, सामान्यतो दृष्टं, संविभक्तमिति द्विधा ॥ १२ ॥
जैनैर्बौद्धैस्तथा नव्यैरनुमाननिरूपणे ।
द्वौ तु तस्य कृतौ भेदौ नूनं स्वार्थपरार्थकौ ॥ १३ ॥

५—परार्थानुमान के पञ्चावयव—

वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में जो परार्थानुमान का लक्षण किया है उसमें पञ्चावयवों का उल्लेख किया है। 'पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्'। तर्कभाषा में भी इसी प्रकार परार्थानुमान का लक्षण किया है। उन पाँच अवयवों के नाम—१ प्रतिज्ञा, २ हेतु, ३ उदाहरण, ४ उपनयन और ५ निगमन हैं। इन पाँच अवयवों का इन्हीं नामों से न्यायसूत्र में उल्लेख किया गया है।

'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः[1]।

परन्तु वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में उनके नाम—१ प्रतिज्ञा, २ अपदेश, ३ निदर्शन, ४ अनुसन्धान और ५ प्रत्याम्नाय पाए जाते हैं।

'अवयवाः पुनः, प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः[2]।

वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में एक विशेष बात और है कि न्यायदर्शन में तो केवल हेतु को दूषित मान कर हेत्वाभासोंका उल्लेख किया गया है। तर्कभाषा में भी न्याय के अनुसार पाँच प्रकार के हेत्वाभासों का वर्णन किया गया है। परन्तु प्रशस्तपाद भाष्य में हेत्वाभासों के अतिरिक्त प्रतिज्ञाभास तथा निदर्शनाभासों का वर्णन भी किया है।

'तत्रानुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा।...अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति। १ यथानुष्णोऽग्निरिति प्रत्यक्षविरोधी। २ घनमम्बरमित्यनुमानविरोधी। ३ ब्राह्मणेन सुरा पेयेत्यागमविरोधी। ४ वैशेषिकस्य सत्कार्यमिति ब्रुवतः स्वशास्त्रविरोधी। ५ न शब्दोऽर्थप्रत्यायक इति स्ववचनविरोधी[3]।

१ न्यायदर्शन १, १, ३२। २ प्रशस्त० पृ० ११४।
३ प्रशस्तपादभाष्य पृ० ११५।

इस प्रकार पाँच प्रकार के हेत्वाभासों के समान वैशेषिक प्रशस्तपाद भाष्य में पाँच प्रकार के प्रतिज्ञाभासों का भी उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त निदर्शनाभासों का भी वर्णन है।

अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति।···

लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः।
लिङ्गानुमेयोभयव्यावृत्ताश्रयासिद्धव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासाः।

अर्थात् १ लिङ्गासिद्ध, २ अनुमेयासिद्ध, ३ उभयासिद्ध, ४ आश्रयासिद्ध, ५ अननुगत, ६ विपरीतानुगत इस प्रकार ६ तरह के साधर्म्य निदर्शनाभास और १ लिङ्गव्यावृत्त, २ अनुमेयव्यावृत्त, ३ उभयव्यावृत्त, ४ आश्रयासिद्धव्यावृत्त, और ५ विपरीतव्यावृत्त यह पांच प्रकार के वैधर्म्य निदर्शनाभास भी प्रशस्तपाद ने प्रतिपादित किए हैं। इन प्रतिज्ञाभास और निदर्शनाभासों का उल्लेख न्याय में नहीं पाया जाता है। इसीलिए न्यायप्रधान तर्कभाषा में भी उनका वर्णन नहीं किया गया है।

६—पञ्चावयवों के प्रयोग में भेद—

न्याय और वैशेषिक दर्शनों में अनुमान के पांच अवयवों का उल्लेख किया गया है। परन्तु अन्य दर्शनों में इनके प्रयोग के विषय में कई मत पाए जाते हैं। सांख्य के तार्किक, प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों का ही प्रयोग मानते हैं। इसका उल्लेख सांख्यकारिका की माठरवृत्ति की पांचवीं कारिका में मिलता है। प्रभाकर के अनुयायी मीमांसक शालिकनाथ ने अपनी 'प्रकरण-पञ्चिका' में [पृष्ठ ८३,८५] तथा कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसक पार्थसारथिमिश्र ने 'श्लोकवार्तिक' की व्याख्या [अनुमान, श्लोक ५४] में तीन अवयवों के प्रयोग को प्रतिपादित किया है। जैनों के आचार्य हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्य ने मीमांसकों के चार अवयव मानने वाले किसी सम्प्रदाय का भी उल्लेख [प्रमेयर० ३, ३७] भी किया है परन्तु वैसा कोई प्रसिद्ध सम्प्रदाय नहीं मिलता है! क्योंकि मीमांसकों के कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकर दोनों के अनुयायी सम्प्रदाय, तीन अवयवों का ही प्रयोग मानते हैं। बौद्ध तथा कुछ जैन तार्किक अधिक से अधिक हेतु तथा दृष्टान्त दो अवयवों का [प्रमाणवार्तिक १, २८ स्याद्वाद र० पृ० ५५९] प्रयोग मानते हैं अन्यथा केवल एक हेतु से भी काम चलाने का प्रतिपादन करते हैं। [प्रमाणवार्तिक १, २८]। जैन आचार्य माणिक्य नन्दी ने प्रदेश भेद की दृष्टि से दो तथा पांच अवयवों के प्रयोग की व्यवस्था का भी प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार 'वाद' प्रदेश में तो पांच अवयवों के प्रयोग का नियम समझना

चाहिए। परन्तु शास्त्र प्रदेश में अधिकारी के अनुसार दो अथवा पांच अवयवों का प्रयोग वैकल्पिक है। वादिदेव नामक जैन आचार्य, और बौद्ध आचार्य, विशिष्ट विद्वानों के लिए, केवल हेतु मात्र एक अवयव का प्रयोग ही पर्याप्त मानते हैं।

इसके विपरीत न्यायदर्शन के 'वात्स्यायन भाष्य' में दश अवयव माननेवाले किसी प्राचीन सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया गया है।

'दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये संचक्षते, जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनं, संशयव्युदास' इति।[1]

न्याय में प्रतिपादित प्रतिज्ञादि पांच अवयवों के अतिरिक्त यह जिज्ञासादि पांच और अवयव प्राचीन आचार्य मानते थे। उनका खण्डन कर, केवल पांच अवयवों की उपयोगिता न्याय में प्रतिपादित की गई है और वैशेषिक में भी पांच ही अवयव माने गए हैं।

७-हेतु के पञ्च रूप—

अनुमान वाक्य के पांच अवयवों के समान हेतु के १ पक्षसत्व, २ सपक्षसत्व, ३ विपक्षव्यावृत्तत्व, ४ असत्प्रतिपक्षत्व और ५ अबाधितविषयत्व इन पाँच रूपों का वर्णन भी तर्कभाषा में किया गया है। कोई अन्वयव्यतिरेकी सद्धेतु इन पांच रूपों से उत्पन्न होने पर ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। यह न्याय का सिद्धान्त है। परन्तु हेतु के स्वरूप के विषय में भी अनेक मत हैं जिन्हें हम मुख्यतः 'पञ्चरूपता' और 'त्रिरूपतावादी' दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध यह तीन दर्शन हेतु की त्रिरूपता को मानते हैं। और नैयायिक पञ्चरूपतावादी हैं। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में हेतु या लिङ्ग का वर्णन करते हुए लिखा है—

यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।[2]
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥

जो अनुमेय अर्थात् पक्ष से सम्बद्ध पक्षसत्, और तदन्वित अर्थात् सपक्ष में प्रसिद्ध-सपक्षसत् हो और उसके अभाव अर्थात् विपक्ष में न हो विपक्षव्यावृत्त हो वही लिङ्ग अनुमापक होता है। इस प्रकार पक्षसत्व, और विपक्षव्यावृत्तत्व यह तीन ही हेतु के धर्म वैशेषिक दर्शन में माने गए हैं।

विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा।[3]
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्॥

१ न्या० शा० भा० १, १, ३२। २, ३, प्रशस्तपाद पृ० ६००।

ऊपर उद्धृत दोनों कारिकाएँ प्रशस्तपाद भाष्य में पाई जाती हैं जिससे विदित होता है कि प्रशस्तपाद ने किसी अपने पूर्ववर्ती काश्यपाचार्य के मतानुसार इस त्रैरूप्य-सिद्धान्त का विवेचन किया है। प्रसिद्ध रूसी विद्वान् प्रो० चारावास्की ने अपनी 'बुद्धिस्ट लाजिक' नामक पुस्तक के [पृ० २४]में यह प्रतिपादन किया है कि त्रैरूप्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध में वैशेषिक के ऊपर बौद्धों का प्रभाव पड़ा है। बौद्धों के अभिधर्मकोश, प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश [पृ० १] न्यायबिन्दु [२,५] हेतुबिन्दु [पृ० १] और तत्त्वसंग्रह [कारिका १३६२] आदि सभी ग्रन्थों में त्रैरूप्य-सिद्धान्त का ही समर्थन किया गया है और न्यायसम्मत पञ्चरूपता का खण्डन किया गया है। सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में भी पाँचवीं कारिका की व्याख्या में इसी त्रैरूप्यसिद्धान्त का समर्थन किया गया है। इस प्रकार वैशेषिक, सांख्य तथा बौद्ध दर्शन हेतु के पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व इन तीन धर्मों को ही स्वीकार करते हैं।

न्याय-परम्परा में इन तीन रूपों के अतिरिक्त अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपों को और सम्मिलित कर हेतु की पञ्चरूपता का प्रतिपादन किया गया है। इस पञ्चरूपता-सिद्धान्त के प्रथम 'प्रवर्तक' कदाचित् श्री उद्योतकराचार्य रहे हों। उनके बाद वाचस्पतिमिश्र तथा जयन्त भट्ट आदि ने भी इस पञ्चरूपता का समर्थन किया है। और तर्कभाषा में भी उन पाँच रूपों का वर्णन किया गया है। परन्तु यह पञ्चरूपता का सिद्धान्त न्याय-परम्परा में भी उतनी दृढता से अथवा घृतकमुष्टि की भाँति स्थिर नहीं रहा है। नव्य न्याय में गदाधर भट्टाचार्य आदि ने हेतु की गमकतोपयोगी व्याप्ति तथा पक्षधर्मताको प्राधान्य प्रदान कर वस्तुतः हेतु की त्रिरूपता का ही पोषण किया है।

जिस प्रकार हेतु की त्रिरूपता और पञ्चरूपता के विषय में मतभेद है उसी प्रकार हेत्वाभासों की संख्या के विषय में भी मतभेद है। वैशेषिक दर्शन ने जब हेतु की त्रिरूपता का प्रतिपादन किया उसके साथ ही हेत्वाभासों की भी त्रिरूपता का प्रतिपादन किया है। इसके विपरीत न्याय में हेतु की पञ्चरूपता स्वीकार की गई है अतएव उनके यहाँ हेत्वाभास भी पांच प्रकार के माने गए हैं। हेत्वाभासों की संख्या हेतुरूपों के साथ सम्बद्ध है।

न्याय-दर्शन में पांच हेत्वाभासों के नाम सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, और अतीत काल कहे गये हैं। इनमें से तर्कभाषा के असिद्ध के स्थान पर साध्यसम को और कालात्ययापदिष्ट के स्थान पर अतीत काल को रखा जा सकता है। परन्तु उनके स्वरूप में कुछ अन्तर रहेगा।

उपमानम् ।

अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम् । यथा गवयमज्ञानन्नपि नागरिको 'यथा गौस्तथा गवय' इति वाक्यं कुतश्चिदारण्यकात्पुरुषाच्छ्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टं पिण्डं पश्यति तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानमुपमितिकरणत्वात् । गोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानानन्तरमयमसौ गवयशब्दवाच्यः पिण्ड इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिरुपमितिः ।

उपमाननिरूपण

प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बाद तीसरा प्रमाण उपमान है । किसी नागरिक पुरुष ने गवय अर्थात् नील गाय को कभी नहीं देखा । उसको किसी आरण्यक पुरुष ने बताया कि 'यथा गौस्तथा गवयः' जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है । गौ के धर्म को गवय में अतिदेश करनेवाला 'यथा गौस्तथा गवयः' यह वाक्य अतिदेश वाक्य कहलाता है । इसको सुनने के बाद कभी वह नागरिक पुरुष जङ्गल में जाकर गोसदृश एक प्राणी को देखता है और उसके साथ ही 'यथा गौस्तथा गवयः' इस अतिदेश वाक्य का उसको स्मरण हो आता है । इस प्रकार अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृत-गोसादृश्य-पिण्ड का ज्ञान उसको होता है । इसी का नाम उपमान प्रमाण है । इस उपमान प्रमाण का फल या उपमिति है संज्ञा-संज्ञि सम्बन्ध की प्रतीति । अर्थात् अतिदेश-वाक्यार्थ-स्मरण-सहकृत-सादृश्य-विशिष्ट-पिण्ड के ज्ञान से नागरिक पुरुष को यह ज्ञान होता है कि इसी प्राणी का नाम गवय है । यहाँ गोसादृश्य-विशिष्ट-पिण्ड, संज्ञी है, और गवय पद उसकी संज्ञा है । इस प्रकार संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति उपमान प्रमाण का फल है ।

अतिदेश वाक्य [यथा गौस्तथा गवयः] के अर्थ के स्मरण के साथ गोसादृश्यविशिष्ट-पिण्ड [अर्थात् गवय प्राणी] का ज्ञान उपमान [प्रमाण] है । जैसे गवय [नील गाय] को न जानने वाला नागरिक [पुरुष] भी किसी वनवासी [आरण्यक] पुरुष से 'जैसी गाय होती है वैसा ही गवय होता है' यह वाक्य सुन कर वन में जाकर वाक्यार्थ के स्मरण करते हुए जब गोसादृश्यविशिष्ट-पिण्ड को देखता है [अथवा उस पिण्ड को देखकर उस अतिदेश का जब उसको स्मरण होता है] तब उस वाक्यार्थ के स्मरणसहित उस गोसादृश्यविशिष्ट पिण्ड का ज्ञान उपमिति [संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरूप फल] का कारण होने से उपमान प्रमाण [कहलाता] है । गोसादृश्यविशिष्ट-पिण्ड के ज्ञान के बाद यह पिण्ड [ही] गवयपदवाच्य है इस प्रकार की संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध की

सैव फलम् । इदन्तु प्रत्यक्षानुमानासाध्यप्रमासाधकत्वात् प्रमाणान्तरमुपमानमस्ति ।

इति व्याख्यातमुपमानम् ।

प्रतीति उपमिति है । वही [उपमान प्रमाण का] फल है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान से असाध्य प्रमा का साधन होने से उपमान अलग प्रमाण है ।

उपमान की इस प्रकार व्याख्या हो गई है ।

वैशेषिक, सांख्य तथा योग दर्शन में उपमान को अलग प्रमाण नहीं माना गया है। वाचस्पतिमिश्र ने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में उपमान के स्वरूप के विषय में तीन पक्ष दिखा कर उन तीनों अवस्थाओं में उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा शब्द प्रमाण में कर लिया है। परन्तु उदयनाचार्य ने संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध के ग्रहण के लिए उपमान को आवश्यक माना है । हमने अपनी दर्शनमीमांसा में उपमान का निरूपण इस प्रकार किया है ।

प्रसिद्धार्थस्य साधर्म्यादप्रसिद्धप्रसाधनम् ।
उपमितिर्हेतुस्तस्या उपमानं सादृश्यधीः ॥ १ ॥
गवयं यो न जानाति गां जानाति स्वरूपतः ।
यथा गौर्गवयोऽप्येवं तं च कश्चिद् विबोधयेत् ॥ २ ॥
वनं प्राप्तो यदा पिण्डं पश्यति गोनिभं तु सः ।
संस्मरन्नतिदेशं तु गवयं निश्चिनोति तम् ॥ ३ ॥
तत्रातिदेशवाक्यार्थ उपमानं सादृश्यधीः ।
उपमितिः संज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धस्य ग्रहस्तथा ॥ ४ ॥

उपमाने विप्रतिपत्तिं दर्शयति,

उपमानं पृथङ् मानं न्याये यत्तु प्रकीर्तितम् ।
न तत् सांख्ये न वा योगे न च वैशेषिके मतम् ॥ ५ ॥
अनुमानेऽथवा शब्दे क्वचित् प्रत्यक्षके तथा ।
अन्तर्भाव्य पृथक् तस्य प्रामाण्यं खण्डितं तु तैः ॥ ६ ॥

न्यायमतेन तदुपपादयति,

सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह ।
उपमानाद् भवेदाशु न तु शब्दादिभिस्तथा ॥ ७ ॥
तस्मादुपमानं न्याये प्रमाणन्तु पृथङ् मतम् ।
नान्तर्भावो भवेदस्य न्याय्यो न्यायनये क्वचित् ॥ ८ ॥

शब्दः ।

आप्तवाक्यं शब्दः । आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः । वाक्यं त्वाकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां समूहः । अतएव 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इति पदानि न वाक्यम् । परस्पराकाङ्क्षाविरहात् । 'वह्निना सिञ्चेदि'ति न वाक्यं योग्यताविरहात् । न ह्यग्निसेकयोः परस्परान्वययोग्यतास्ति । तथा हि अग्निनेति तृतीयया सेकरूपं कार्यं प्रति करणत्वमग्नेः प्रतिपादितम् । न चाग्निः सेके करणीभवितुं योग्यः । तेन कार्यकारणभावलक्षणसम्बन्धेऽग्निसेकयोरयोग्यत्वादग्निना सिञ्चेदिति न वाक्यम् ।

एवमेकैकशः प्रहरे प्रहरे असहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादि पदानि न वाक्यम् । सत्यामपि परस्पराकाङ्क्षायां सत्यामपि परस्परान्वययोग्यतायां परस्परसान्निध्याभावात् । यानि तु साकाङ्क्षाणि योग्यतावन्ति सन्निहितानि पदानि तान्येव वाक्यम् । यथा—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो

शब्दनिरूपणम्

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान के बाद चौथा प्रमाण शब्द है । शब्द प्रमाण में संकेतग्रह के अवसर पर अनुमान की आवश्यकता पड़ती है इसलिए अनुमान के अनन्तर शब्द को रखा गया है । आगे शब्द प्रमाण का निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

आप्त [पुरुष के] वाक्य [को] शब्द [प्रमाण कहा जाता] है । यथाभूत अर्थ का उपदेश करनेवाला पुरुष आप्त [कहलाता] है [और उसका वाक्य शब्द प्रमाण है] आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं । इसलिए परस्पर आकांक्षा-विरहित होने से गाय, घोड़ा, मनुष्य, हाथी आदि पद [का समूह] वाक्य नहीं है । [इसी प्रकार] योग्यता के अभाव होने से अग्नि से सींचता है यह [पदसमूह] वाक्य नहीं है । अग्नि और सेचन में परस्पर अन्वय की योग्यता नहीं है [क्योंकि] अग्नि से इस तृतीया [विभक्ति] से सेचन रूप कार्य के प्रति अग्नि की करणता प्रतिपादित की है और अग्नि-सेचन का करण होने योग्य नहीं है । इसलिए सेचन और अग्नि के कार्य-कारणभाव रूप सम्बन्ध के अयोग्य होने से अग्नि सींचता है । यह [पदसमूह] वाक्य नहीं है ।

इसी प्रकार एक एक करके प्रहर-प्रहर के बाद अलग-अलग उच्चारित 'गाय को ले आओ' इत्यादि पद [समूह] वाक्य नहीं है । [उनमें] परस्पर अन्वय की आकांक्षा रहते हुए भी और परस्पर अन्वय की योग्यता होते हुए भी परस्पर सन्निधि न होने से [वे वाक्य नहीं कहलाते हैं] जो आकांक्षा युक्त, योग्यता युक्त, और सन्निधि युक्त पद हैं वे ही वाक्य [कहलाते] हैं । जैसे स्वर्ग की इच्छा

यजेत-इत्यादि। यथा च—नदीतीरे पञ्चफलानि सन्ति-इति। यथा च तान्येव-गामानय-इत्यादिपदान्यविलम्बितोच्चरितानि।

नन्वत्रापि न पदानि साकाङ्क्षाणि किन्त्वर्थाः फलादीनामाधेयानां तीराद्याधाराकाङ्क्षितत्वात्। न च विचार्यमाणेऽर्था अपि साकाङ्क्षाः। आकाङ्क्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात्।

सत्यम्। अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतर्यन्योन्यविषयाकाङ्क्षाजनकत्वेन साकाङ्क्षा इत्युच्यन्ते। तद्द्वारेण तत्प्रतिपादिकानि पदान्यपि साकाङ्क्षाणी-त्युपचर्यन्ते। यद्वा पदान्येवार्थान् प्रतिपाद्यार्थान्तरविषयाकाङ्क्षाजनकानी-त्युपचारात् साकाङ्क्षाणि। एवमर्थाः साकाङ्क्षाः परस्परान्वययोग्याः। तद्द्वारेण पदान्यपि परस्परान्वययोग्यानीत्युच्यन्ते।

रखनेवाला ज्योतिष्टोम [नामक] याग करे, इत्यादि [वैदिक वाक्य]। और जैसे नदी तीर पर पाँच फल [के वृक्ष] हैं, यह [लौकिक वाक्य है।] और जैसे अविलम्ब से उच्चरित वही 'गाय को ले आओ' इत्यादि पद [वाक्य हो जाते हैं]।

[प्रश्न] यहाँ [वाक्य के उदाहरणों में] भी पद आकांक्षा युक्त नहीं हैं किन्तु फलादि आधेयों [रूप अर्थों] को तीरादि आधार [रूप अर्थ] को आकांक्षा होने से, अर्थ ही आकांक्षा युक्त हैं। और [वास्तव में] विचार करने पर आकांक्षा के इच्छात्मक, अतः चेतन [आत्मा] का धर्म होने से अर्थ भी साकांक्ष नहीं है [इसलिए आकांक्षा को पद का विशेषण कहना उचित नहीं है। यह पूर्वपक्ष हुआ। इसका उत्तर आगे देते हैं]

[उत्तर] ठीक है [आकांक्षा साक्षात् पदों में नहीं रहती किन्तु] अर्थ अपने [वाचक] पद को सुनने वाले [के मन] में एक दूसरे [पद] के विषय में आकांक्षा के जनक होने से [परम्परया] साकांक्ष कहलाते हैं। उन [अर्थों] के द्वारा उनके प्रतिपादक पद भी [परम्परया] उपचार से साकांक्ष कहे जाते हैं। अथवा पद ही अर्थों का प्रतिपादन करके दूसरे अर्थों के विषय में आकांक्षा को उत्पन्न करते हैं इसलिए उपचार [गौण रूप] से साकांक्ष कहे जाते हैं। इसी प्रकार [परम्परा से] अर्थ [भी] साकांक्ष परस्पर अन्वययोग्य [योग्यताविशिष्ट] होते हैं और उनके द्वारा पद भी परस्पर अन्वय योग्य कहलाते हैं। [अर्थात् योग्यता और आकांक्षा यह दोनों धर्म यद्यपि साक्षात् पदों के धर्म नहीं हैं। योग्यता साक्षात् पदार्थ का धर्म, और आकांक्षा साक्षात् आत्मा का धर्म है फिर भी उपर्युक्त प्रकार से उपचार से वह दोनों, पदों के धर्म हो सकते हैं। ऐसा मानकर ही वाक्य के लक्षण में योग्यता और आकांक्षा को पद का विशेषण बनाया है]।

सन्निहितत्वं तु पदानामेकेनैव पुंसा अविलम्बेनोच्चरितत्वम्। तच्च साक्षादेव पदेषु सम्भवति नार्थद्वारा।

तेनाऽयमर्थः सम्पन्नः। अर्थप्रतिपादनद्वारा श्रोतुः पदान्तरविषया-मर्थान्तरविषयां वाकाङ्क्षां जनयतां प्रतीयमानपरस्पराऽन्वययोग्यार्थप्रतिपादकानां सन्निहितानां पदानां समूहो वाक्यम्।

पदं च वर्णसमूहः। समूहश्चात्र एकज्ञानविषयीभावः। एवं च वर्णानां क्रमवतामाशुतरविनाशित्वेन एकदाऽनेकवर्णानुभवासम्भवात् पूर्वपूर्ववर्णाननुभूय, अन्त्यवर्णश्रवणकाले पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन अन्त्यवर्णसम्बन्धेन पदव्युत्पादनसमयग्रहानुगृहीतेन श्रोत्रेणैकदैव सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीतिर्जन्यते, सहकारिदार्ढ्यात् प्रत्यभिज्ञानवत्। प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षे ह्यतीतापि पूर्वावस्था स्फुरत्येव। ततः पूर्वपूर्वपदानुभवजनितसंस्कारसहकृतेनान्त्यपदविषयेण श्रोत्रेन्द्रियेण पदार्थप्रत्ययानुगृहीतेनानेकपदावगाहिनी वाक्यप्रतीतिः क्रियते।

एक ही पुरुष द्वारा पदों का अविलम्ब से उच्चरितत्व सन्निधि [कहलाती] है। और वह पदों में साक्षात् ही हो सकती है अर्थ द्वारा [मानने की आवश्यकता] नहीं।

इस लिए [वाक्य के लक्षण का] यह अर्थ हुआ कि, अर्थ प्रतिपादन द्वारा अन्य पदों अथवा अन्य अर्थों के विषयों में श्रोता की आकांक्षाको पैदा करने वाले और प्रतीयमान [स्पष्ट रूप से] परस्पर अन्वययोग्य अर्थ के प्रतिपादक सन्निधि युक्त पदों का समूह वाक्य [कहलाता] है।

और वर्णसमुदाय पद [कहलाता] है। समूह [का अर्थ] यहाँ [पद के लक्षण में] 'एक ज्ञान का विषय होना' है। इस प्रकार क्रमिक और क्षणिक [आशुतर विनाशी] अनेक वर्णों का एक साथ अनुभव असम्भव होने से पूर्व पूर्व वर्णो का अनुभव करके अन्तिम वर्ण के श्रवण काल में पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभव से जनित संस्कारसहकृत, पद-व्युत्पादनसमयग्रह से अनुगृहीत, अन्त्यवर्ण-सम्बद्ध श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यभिज्ञा के समान सहकारी [संस्कार] के प्राबल्य से, सत् [अन्तिम वर्ण] और असत् पूर्व वर्णों का अवगाहन करने वाली पद की प्रतीति होती है। प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष ['सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि] में अतीत पूर्वावस्था भी [जो 'सः' पद से सूचित होती है] प्रतीत [स्फुरित] होती ही है। [इसी प्रकार सदसदनेक वर्णों की प्रतीति भी एक साथ हो सकती है]। उस [पदप्रतीति] के बाद [उसी क्रम से] पूर्व पूर्व पदानुभव-जनित संस्कार-सहकृत, पदार्थबोध से अनुगृहीत अन्त्यपदविषयक श्रोत्रेन्द्रिय से [सदसद्] अनेक पदों को ग्रहण करने वाली [पदसमूहात्मक] वाक्य की प्रतीति होती है।

तदिदं वाक्यमाप्तपुरुषेण प्रयुक्तं सच्छब्दनामकं प्रमाणम्। फलन्त्वस्य वाक्यार्थज्ञानम्। तच्चैतच्छब्दलक्षणं प्रमाणं लोके वेदे च समानम्। लोके त्वयं विशेषो यः कश्चिदेवाप्तो भवति, न सर्वः। अतः किञ्चिदेव लौकिकं वाक्यं प्रमाणं, यदाप्तवक्तृकम्। वेदे तु परमाप्तश्रीमहेश्वरेण कृतं सर्वमेव वाक्यं प्रमाणं, सर्वस्यैवाप्तवाक्यत्वात्।

यही वाक्य आप्त पुरुष से प्रयुक्त होने पर शब्द नामक प्रमाण [कहा जाता] है। और इसका फल वाक्यार्थज्ञान होता है। यह शब्द प्रमाण लोक तथा वेद में [दोनों जगह] समान है। लोक में इतनी विशेषता है कि कोई कोई पुरुष ही आप्त होता है सब नहीं। इसलिए कोई कोई लौकिक वाक्य ही प्रमाण होता है जो कि आप्त पुरुष द्वारा कहा हुआ होता है। वेद में परम आप्त परमात्मा से कृत सब ही वाक्य प्रमाण हैं। सब ही [वाक्यों] के आप्त वाक्य होने से।

१–वैशेषिक मत—

न्याय दर्शन में प्रत्यक्षादि चार प्रमाण माने हैं परन्तु न्याय के 'समानतंत्र' कहलाने वाले वैशेषिक दर्शन ने केवल दो ही प्रमाण माने हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान। इनके अतिरिक्त उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन छहों प्रमाणों का वैशेषिक दर्शन ने अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है। यों तो बौद्धों ने भी प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं और चार्वाक ने केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण माना है। परन्तु वैशेषिक दर्शन तो आस्तिक दर्शन है। 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'[1] की प्रतिज्ञा से इस दर्शन का आरम्भ हुआ है और 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'[2]। यह वैशेषिक दर्शन का तृतीय सूत्र है, जिसमें वेद के प्रामाण्य का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। फिर भी वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में शब्द को अलग प्रमाण न मान कर उसका अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया है यह आश्चर्य की बात है। शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाते हुए प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—

'शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः, समानविधित्वात्। यथा प्रसिद्धसमयस्या-सन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेवं शब्दादि-

---

१. वै० १,१,१।　२. वै० १,१,३।

भ्योऽपीति । श्रुतिस्मृतिलक्षणोऽप्याम्नायो वक्तृप्रामाण्यापेक्षः, तद्वचनादाम्नायप्रामाण्यम् । लिङ्गाच्चानित्यो बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे, बुद्धिपूर्वो ददातिरित्युक्तत्वात्[1] ।'

शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव समानविधि के कारण किया गया है । जैसे अनुमान में १ व्याप्तिग्रह, २ लिङ्गज्ञान, ३ व्याप्तिस्मृति के बाद, ४ अनुमिति उत्पन्न होती है । इसी प्रकार शब्द प्रमाण में १ संकेतग्रह, २ वाक्यश्रवण, ३ पदार्थस्मृति के बाद, ४ शाब्दबोध होता है । इसलिए अनुमान तथा शब्द की विधि समान होने से वैशेषिक दर्शन ने शब्द का अनुमान में ही अन्तर्भाव मान लिया है ।

वैशेषिक दर्शन ने न केवल शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में किया है अपि तु श्रुति तथा स्मृति रूप आम्नाय को भी अनित्य और 'वक्तृप्रामाण्याधीनप्रामाण्य' माना है । 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'[2] और 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'[3] इन सूत्रों से वेद की अनित्यता और परतः प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है । इस प्रकार वैशेषिक दर्शन ने वेद को मीमांसा के स्वतः प्रामाण्य के स्थान पर 'तद्वचनात् प्रामाण्य' मानकर परतः प्रमाण माना है । और न्याय जो शब्द को स्वतंत्र प्रमाण मानता है उसके स्थान पर शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया है । यह उसका मीमांसा और न्याय दोनों से भेद है ।

२–प्रभाकर-सम्मत मीमांसक-मत—

मीमांसकों में कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर के अनुयायी दो अलग-अलग सम्प्रदाय हैं । इसमें से प्रभाकर-सम्प्रदाय के अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि भी वैशेषिक के समान शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं । परन्तु उनमें भेद यह है कि वह वैदिक वाक्यों को तो अलग शब्द प्रमाण मानते हैं परन्तु लौकिक वाक्यों को अलग शब्द प्रमाण नहीं मानते हैं । उनका अभिप्राय यह है कि शब्द प्रमाण का फल 'पदार्थ-संसर्गबोध' रूप शब्दबोध है । लौकिक वाक्यों में प्रामाण्य के लिए 'आप्तोक्तत्व' का ज्ञान आवश्यक है । आप्त पुरुष वही है जिसको कहे जानेवाले वाक्य के अर्थ का यथार्थ ज्ञान हो । इसलिए 'पदार्थ-संसर्ग' रूप 'वाक्यार्थ' वक्ता के ज्ञान के अन्तर्गत हो जाता है और उसका ज्ञान अनुमान द्वारा हो सकता है । इसलिए मौलिक वाक्य को शब्द प्रमाण नहीं कहा जा सकता । वह तो अनुमान द्वारा गृहीत 'पदार्थ संसर्ग' का अनुवादक मात्र ही हो सकता है । परन्तु वैदिक वाक्य के अपौरुषेय होने के कारण उनमें

१. प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १०७ । २. वै० १,११ । ३. वै० ६,१,१ ।

'आप्तोक्तत्व' ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसलिए वैदिक वाक्य प्रमाण ही है। यह प्रभाकर सम्प्रदाय का मत है। न्यायकुसुमाञ्जलिकार श्री उदयनाचार्य ने इस विषय में दो कारिकाएँ लिख कर इस पक्ष का खण्डन किया है।

प्राभाकरास्तु, वेदस्यापौरुषेयतया तत्र वक्तृज्ञानानुमानासम्भवात् शब्दः प्रमाणम्। लोके त्वाप्तोक्तत्वज्ञानमपेक्षितम्। तथा च 'अयं वक्ता स्वप्रयुक्तवाक्यार्थ-यथार्थज्ञानवान्, अप्रमाद्यजन्यवाक्यार्थज्ञानजन्यवाक्यप्रयोक्तृत्वात्' इत्यनुमानाद् वक्तृज्ञानावच्छेदकतया, उत्तरकालं वा 'एते पदार्थाः परस्परं संसृष्टा वक्तृयथार्थ-ज्ञानविषयत्वात्' इत्यनुमानात्साक्षाद् वाक्यार्थसिद्धेः, क्लृप्तसामर्थ्यात् शब्दा-त्पुनरन्वयधीरित्यनुवादको लौकिकः शब्दो न प्रमाणमिति प्राहुः।

तत्राह—

निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णये।
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता॥
व्यस्तपुंदूषणाशंकैः स्मारितत्वात् पदैरमी।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत्कुतः[1]॥

पूर्वपक्षी प्रभाकर पदार्थसंसर्ग का बोध पहिले अनुमान की प्रक्रिया से और पीछे शब्द की प्रक्रिया से मान कर शब्द को 'अनुवादक' और अनुमान को 'प्रमाण' कहना चाहते हैं। उत्तर पक्ष का कहना यह है कि अनुमान की प्रक्रिया में व्याप्ति-स्मृति में विलम्ब होगा और शब्द की प्रक्रिया से वैदिक वाक्यों में 'संसर्गबोध' की शक्ति निर्णीत हो चुकी है। अतः निर्णीतशक्तिक वाक्य से पहिले 'संसर्ग' का बोध हो जायगा और अनुमान की प्रक्रिया से विलम्ब से संसर्ग का बोध होगा, इसलिए अनुमान ही 'अनुवादक' है। और यदि इस पर भी लौकिक वाक्य को 'अनुवादक' कहना चाहते हैं तो फिर वैदिक वाक्यों में भी 'अमी वैदिकाः पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्तः, व्यस्तपुन्दूषणाशंकैः पदैः स्मारि-तत्वात्' इस अनुमान से पहिले संसर्ग का निर्णय हो जाने से वैदिक वाक्य को भी 'अनुवादक' मानना होगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि या तो लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के वाक्यों को 'अनुवादक' मानो और या फिर दोनों को प्रमाण मानो। प्रभाकर जो केवल वैदिक वाक्यों को 'प्रमाण' और लौकिक वाक्यों को 'अनुवादक' कहना चाहते हैं उनका यह 'अर्धजरतीय न्याय' ठीक नहीं है।

३—अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद—

'पदार्थ-संसर्ग बोध' को 'वाक्यार्थ' कहते हैं यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। परन्तु इस 'संसर्गबोध' के विषय में भी मीमांसकों में कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकर

१ न्यायकुसुमाञ्जलि ३, १४, १५ हरिदासीयविवृतिः।

वर्णितानि चत्वारि प्रमाणानि। एतेभ्योऽन्यन्न प्रमाणम्, प्रमाणस्य सतोऽत्रैवान्तर्भावात्।

दोनों के अलग अलग मत पाए जाते हैं। जिनको क्रमशः 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद' कहते हैं। कुमारिल भट्ट 'अभिहितान्वयवाद' के मानने वाले हैं। उनके अनुसार वाक्य को सुनने पर पहिले 'अभिधा' शक्ति द्वारा पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है। और उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध 'तात्पर्याशक्ति' द्वारा होता है। पहिले पदार्थ 'अभिहित' अर्थात् अभिधा शक्ति से बोधित होते हैं और पीछे उनका 'अन्वय' या परस्पर संसर्गबोध होता है। इसीको 'अभिहितान्वयवाद' कहते हैं। कुमारिल भट्ट इसी सिद्धान्त को माननेवाले हैं और उनके मत में 'तात्पर्याशक्ति' भी अलग मानी जाती है।

इसके विपरीत प्रभाकर के मत में अभिधा शक्ति से 'केवल' पदार्थों की नहीं, अपितु 'अन्वित' पदार्थों की ही उपस्थिति होती है। क्योंकि अभिधाशक्ति के लिए आवश्यक, सङ्केत का ग्रहण 'केवल' पदार्थ में नहीं अपितु 'अन्वित' पदार्थ में ही होता है।' सङ्केत का ग्राहक मुख्यतः 'व्यवहार' है। और 'व्यवहार' 'केवल' पदार्थ में नहीं अपितु किसी दूसरे के साथ सम्बद्ध या अन्वित पदार्थ में ही होता है। इसलिए 'सङ्केतग्रह' भी किसी 'अन्वित' पदार्थ में ही हो सकता है। इसीलिए अभिधा शक्ति से अन्वित अर्थ ही अभिहित हो सकता है, 'केवल' पदार्थ नहीं। इसी को 'अन्विताभिधानवाद' कहते हैं। इस मत में पदार्थों का संसर्गबोध करानेवाली 'तात्पर्या' शक्ति की अलग आवश्यकता नहीं पड़ती है।

चारों प्रमाणों का वर्णन हो गया। इनसे अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाणभूत [अन्य सब] का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाने से [केवल चार ही प्रमाण हैं]।

हमने अपनी दर्शनमीमांसा में लिखा है—[1]

प्रत्यक्षमात्रं चार्वाका बौद्धा वैशेषिका द्वयम्।
सांख्या योगास्त्रयं चैव तार्किकाश्च चतुष्टयम्॥
पंच प्राभाकरा, भाट्टास्तथा वेदान्तिनश्च षट्।
पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणानि ब्रुवन्ति वै॥

---

१ दर्शनमीमांसा ४।

अर्थापत्तिः

नन्वर्थापत्तिरपि पृथक् प्रमाणमस्ति। अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् 'अर्थापत्तिः'। तथाहि, 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजनं कल्प्यते। दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यतेऽतः पीनत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम्। तच्च प्रत्यक्षादिभ्यो भिन्नं, रात्रिभोजनस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वात्।

नैतत्। रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात्। तथाहि, अयं देवदत्तो

अर्थापत्तिः

नैयायिक लोग प्रत्यक्षादि चार ही प्रमाण मानते हैं। शेष प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं चार प्रमाणों में कर लेते हैं। इन शेष प्रमाणों में 'अर्थापत्ति' और 'अभाव' ये दोनों मुख्य प्रमाण हैं। इसलिए इन दोनों का अन्तर्भाव दिखलाने का प्रयत्न तर्कभाषाकार ने किया है। शेष 'ऐतिह्य' और 'सम्भव' का अन्तर्भाव बहुत स्पष्ट है और वे प्रमाण भी मुख्य नहीं हैं इसलिए उनका अन्तर्भाव तर्कभाषाकार ने नहीं दिखाया है। आगे 'अर्थापत्ति' का 'केवलव्यतिरेकी' अनुमान में अन्तर्भाव दिखाते हैं। मीमांसक और वेदान्ती आदि जो लोग अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानते हैं वे अनुमान का केवल व्यतिरेकी भेद नहीं मानते हैं। और नैयायिक अनुमान का केवल व्यतिरेकी भेद मानते हैं इसलिए वह 'अर्थापत्ति' को अलग प्रमाण नहीं मानते हैं। इसीलिए 'अर्थापत्ति' का 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाते हैं।

[पूर्वपक्षी प्रश्न] अच्छा, अर्थापत्ति भी तो पृथक् प्रमाण है। [उसका लक्षण] अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति [कहलाती] है। जैसे कि देवदत्त दिन में नहीं खाता है परन्तु मोटा है ऐसा देखने या सुनने पर [उसके] रात्रिभोजन की कल्पना कर ली जाती है। [क्योंकि] दिन में न खाने वाले का मोटा होना रात्रिभोजन के बिना नहीं बन सकता है। इसलिए अन्यथा [अर्थात् रात्रिभोजन के विना] पीनत्व की अनुपपत्ति ही [उसके] रात्रिभोजन में प्रमाण होती है। और वह [अर्थापत्ति] प्रमाण रात्रिभोजन के प्रत्यक्षादि का विषय न होने से प्रत्यक्षादि से भिन्न [अलग ही प्रमाण] है।

[उत्तर] यह बात नहीं है। रात्रिभोजन के अनुमान का विषय [अनुमानगम्य] होने से [अर्थापत्ति को अलग प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है]

रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्। यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो, यथा दिवा रात्रौ चाऽभुञ्जानोऽपीनो, न चायं तथा, तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात्। किमर्थमर्थापत्तिः पृथक्त्वेन कल्पनीया।

क्योंकि [अनुमान की प्रक्रिया में] यह देवदत्त रात्रि में खाता है [यह प्रतिज्ञा हुई] दिन में न खाने पर भी मोटा होने से [यह हेतु हुआ]। जो रात्रि में नहीं खाता है वह दिन में न खाने पर मोटा नहीं होता। जैसे दिन और रात्रि में न खानेवाला [नवरात्रोपवासी पुरुष] दुबला [होता] है। [यह व्यतिरेक व्याप्ति और उसका उदाहरण हुआ] यह देवदत्त वैसा [नवरात्रोपवासी के समान दुर्बल] नहीं है [यह उपनय हुआ] इसलिए वैसा [दिन और रात में भोजन न करने वाला] नहीं है [अर्थात् रात्रि में भोजन करता है यह निगमन हुआ] इस प्रकार केवल व्यतिरेकी अनुमान से ही रात्रिभोजन के प्रतीत हो जाने से अर्थापत्ति को अलग प्रमाण क्यों माना जाय।

हमने अपनी दर्शनमीमांसा में लिखा है—

[1]अनुपपद्यमानार्थादुपपादककल्पना।
अर्थापत्तिर्द्विधा प्रोक्ता श्रुतदृष्टप्रभेदतः॥१॥
पीनोऽयं देवदत्तस्तु नैव भुङ्क्ते दिवा च सः।
इति दृष्टे श्रुते वापि कल्प्यते रात्रिभोजनम्॥२॥
अतो वेदान्तिनश्चैव तथा मीमांसकावुभौ।
अर्थापत्तिं पृथक्त्वेन प्रमाणं ब्रुवते परम्॥३॥
अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः।
इति कृत्वानुमानेन गृह्यते रात्रिभोजनम्॥४॥
ततश्च भिद्यते नेयं केवलव्यतिरेकिणः।
अन्तर्भूताऽनुमानेऽतो न्याये मानान्तरं न सा॥५॥
विषयव्यवस्थार्थं च मानयोस्तु विरुद्धयोः।
अर्थापत्तिः पृथङ् मानं मीमांसकमते मता॥६॥
न मानयोर्विरोधोऽस्ति विरोधे वा न मानता।
इति तस्याः प्रमाणत्वं नैवमप्युपपद्यते॥७॥

---

[1] दर्शनमीमांसा ४।

अभावः

नन्वभावाख्यमपि पृथक् प्रमाणमस्ति । तच्चाभावग्रहणायाङ्गीकरणीयम् । तथाहि घटाद्यनुपलब्ध्या घटाद्यभावो निश्चीयते । अनुपलब्धिश्चोपलब्धेरभावः । इत्यभावप्रमाणेन घटाद्यभावो गृह्यते ।

नैतत् । यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यदित्यादितर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवाभावग्रहणात् ।

नन्विन्द्रियाणि सम्बद्धार्थग्राहकाणि । तथाहीन्द्रियाणि वस्तुप्राप्यप्रकाशकारीणि ज्ञानकारणत्वादालोकवत् ।

अभाव निरूपण

[प्रश्न] 'अभाव' [नामक प्रमाण] भी अलग प्रमाण है । और अभाव के ग्रहण करने के लिए उस [अनुपलब्धि अथवा अभाव नामक प्रमाण] को स्वीकार करना चाहिए । क्योंकि घटादि की अनुपलब्धि से घटादि के अभाव का ग्रहण होता है ।

[उत्तर] यह बात नहीं है यदि यहाँ घड़ा होता तो भूतल के समान दिखाई देता । इस प्रकार के तर्क से सहकृत अनुपलब्धि युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अभाव का ग्रहण होने से [अभाव के ग्रहण के लिए अलग अनुपलब्धि अथवा अभाव प्रमाण के मानने की आवश्यकता नहीं है ।]

[प्रश्न] इन्द्रियां [तो] संबद्ध अर्थ की ग्राहक होती हैं । जैसा कि [निम्नांकित अनुमान से सिद्ध होता है] इन्द्रियां वस्तु को प्राप्त कर [वस्तु से संबद्ध होकर ही अर्थ का] प्रकाशित करने वाली हैं ज्ञान का करण होने से प्रकाश के समान ।

वेदान्तियों के मत में घटाभाव, पटाभाव आदि अभावों के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध सम्भव न होने से प्रत्यक्ष अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता है । इसलिए वे अभाव के ग्रहण के लिए 'अभाव' या 'अनुपलब्धि' नामक एक पृथक् प्रमाण मानते हैं । परन्तु नैयायिक अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही मानते हैं । अतः अभाव को पृथक् प्रमाण मानने का खण्डन करने के लिए इस प्रकरण को प्रारम्भ करते हैं ।

आलोक ज्ञान का करण है और वस्तुओं के साथ संबद्ध होकर ही उनको प्रकाशित करता है । इसी प्रकार इन्द्रियां भी ज्ञान का करण होने से आलोक के समान वस्तु के साथ संबद्ध होकर ही उसको प्रकाशित कर सकती हैं । अथवा घ्राण, रसना और त्वक् इन तीन इन्द्रियों के विषय में तो सभी इस बात में एक मत हैं कि ये इन्द्रियाँ वस्तु के साथ सम्बद्ध होकर ही अपने अर्थ को प्रकाशित करती हैं । विवाद केवल चक्षु और श्रोत्र के विषय में है । बौद्ध लोग चक्षु, श्रोत्र

यद्वा चक्षुःश्रोत्रे वस्तुप्राप्यप्रकाशकारिणी बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्। त्वगादीनान्तु प्राप्यप्रकाशकारित्वमुभयवादिसिद्धमेव।

न चेन्द्रियाभावयोः सम्बन्धोऽस्ति संयोगसमवायौ हि सम्बन्धौ, न च तौ तयोः स्तः। द्रव्ययोरेव संयोग इति नियमात्। अभावस्य च द्रव्यत्वाभावात्। अयुतसिद्ध्यभावान्न समवायोऽपि।

तथा मन को प्राप्य प्रकाशकारी नहीं मानते हैं। 'अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि त्रयमन्यथा'।[1] [2]जैन लोग केवल चक्षु को छोड़ कर शेष चार को प्राप्यकारी मानते हैं। [3]सांख्य, न्याय,[4] [5]वैशेषिक तथा मीमांसा[6] आदि सभी वैदिक दर्शन अपनी अपनी प्रक्रिया के अनुसार पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। अन्तरिन्द्रिय मनको केवल सांख्य, योग[7], और वेदान्त ही प्राप्यकारी मानते हैं। शेष वैदिक दर्शन, बौद्ध तथा जैनदर्शन मनको अप्राप्यकारी ही मानते हैं। यहाँ बहिरिन्द्रियों की चर्चा बौद्धों के मत के खण्डन के लिए की है। चक्षु से जिस घटादि अर्थ का प्रत्यक्ष होता है वह चक्षु से दूर होता है और श्रोत्र से जिस शब्द का ग्रहण होता है उसकी उत्पत्ति भी दूर होती है। इसलिए सब इन्द्रियों के बजाय इन्हीं दो इन्द्रियों को पक्ष बना कर दूसरा अनुमान करते हैं।

अथवा चक्षु और श्रोत्र [ये दोनों इन्द्रियां] वस्तु के साथ सम्बद्ध होकर ही [वस्तु] का प्रकाश करने वाली हैं बहिरिन्द्रिय होने से त्वगादि [अन्य बहिरिन्द्रियों] के समान। त्वगादि [अन्य तीन बहिरिन्द्रियों] का वस्तु-प्राप्य प्रकाशकारित्व तो दोनों वादियों को स्वीकृत ही है [इन्हीं के समान चक्षु और श्रोत्र का भी वस्तु के साथ सम्बद्ध होना प्रत्यक्ष में आवश्यक है।]

[परन्तु] इन्द्रिय और अभाव का [कोई भी] सम्बन्ध नहीं [हो सकता] है। [क्योंकि संसार में] संयोग और समवाय [दो ही] सम्बन्ध हैं और उन दोनों [अर्थात् इन्द्रिय और अभाव] के वे दोनों [संयोग या समवाय सम्बन्ध] नहीं हैं। [क्योंकि] संयोग दो द्रव्यों का ही होता है यह नियम होने से। और अभाव के द्रव्य नहीं होने से [इन्द्रिय के द्रव्य होते हुए भी उसके दूसरे सम्बन्धी अभाव के द्रव्य न होने से इन्द्रिय-चक्षु-का अभाव के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है। और समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्धों का ही होता है। अयुतसिद्ध भी पांच परिगणित हैं उनमें भी अभाव की गणना नहीं है इसलिए] अयुतसिद्ध न होने से समवाय सम्बन्ध भी नहीं है।

---

१ अभिधर्म० २,४३। २ आव० नि० शा० ३ सां० सू० १,८०। ४ सू० ३,१,३३-५३। ५ कन्दली पृ० ३२। ६ शा० भा० १,१,१३। ७ योग भा० १,७

संयोग और समवाय ये ही दो सम्बन्ध हैं। इन्द्रिय का अभाव के साथ उनमें से एक भी सम्बन्ध नहीं बनता। इसलिए इन्द्रिय का अभाव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। बिना इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाणसे अभाव का ग्रहण नहीं हो सकता है। अतएव अभाव के ग्रहण के लिए अभाव नामक अलग प्रमाण मानना चाहिये यह पूर्व पक्ष का आशय है।

जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है नैयायिक के मत में 'अभावसमवायौ च ग्राह्याः सम्बन्धषट्कतः' के अनुसार अभाव के ग्रहण में इन्द्रिय और अभाव का 'विशेष्यविशेषणभाव' सम्बन्ध होता है। इसलिए पूर्वपक्षी 'विशेष्यविशेषण-भाव' के सम्बन्ध का ही खण्डन करता है। उसका कहना है कि 'विशेष्य-विशेषणभाव' में सम्बन्ध का लक्षण ही नहीं घटता है इसलिए उसको सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है। सम्बन्ध के लक्षण में तीन बातें आवश्यक हैं। 'सम्बन्धो हि १ सम्बन्धिभ्यां भिन्नः, २ उभयाश्रितः, ३ एकश्च'। अर्थात् संबन्ध को १ सम्बन्धियोंसे भिन्न, २ उभयाश्रित और ३ एक होना चाहिए। जैसे घट और पटका संयोग होता है। इस संयोगमें घट और पट दोनों संबंधी हुए और 'संयोग' उनका 'सम्बन्ध' हुआ। यह संयोग सम्बन्ध अपने संबंधी घट और पट दोनोंसे भिन्न है। घट और पट दोनों 'द्रव्य' हैं परंतु संयोग 'गुण' है। इसलिए 'संयोग' रूप 'गुण' अपने 'द्रव्य' रूप 'संबंधियों'से भिन्न है। वह संयोग घट और पट दोनों में रहता है इसलिए उभयाश्रित हुआ। और उभयाश्रित होनेसे ही एक भी है। घट का पट के साथ जो संयोग है पट का घट के साथ भी वही संयोग है। यहाँ दो संयोग नहीं हैं। इस प्रकार संयोग 'संबंध' में संबंध के लक्षण के तीनों अंश घट जाते हैं। इसलिए संयोग को 'सम्बन्ध' कहना उचित है।

इसी प्रकार तन्तु और पट का 'समवाय' संबन्ध है। इस सम्बन्ध में भी 'सम्बन्ध' का लक्षण घट जाता है। क्योंकि यहाँ तन्तु और पट दोनों 'संबंधी' हैं। और दोनों 'द्रव्य' रूप हैं। परन्तु इनका सम्बन्ध 'समवाय' कोई द्रव्य नहीं है। उसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और अभाव से भिन्न अलग पदार्थ माना गया है। इसलिए 'समवाय' भी सम्बन्धियों से भिन्न है। और उभयाश्रित तथा एक भी है। इसलिए समवाय में भी 'सम्बन्ध' का लक्षण घट जाता है। अतः उसको भी 'सम्बन्ध' कहा जा सकता है।

परन्तु 'विशेष्यविशेषणभाव' में इस सम्बन्ध लक्षण के तीन अंशों में से एक भी नहीं घटता है। सबसे पहिली बात है, 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः'। सो

'विशेष्य विशेषण भाव' 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' नहीं अपितु सम्बन्धिस्वरूप है। 'दण्डी-पुरुषः' इस प्रतीति में दण्ड 'विशेषण' है और पुरुष 'विशेष्य' है। इन दोनों में रहनेवाली 'विशेषणता' या 'विशेष्यता' उन दोनों के स्वरूप से अलग कोई पदार्थ नहीं है अपितु उन दोनों का स्वरूप ही है। दण्ड में जो विशेषणता है वह दण्ड से अलग नहीं है बल्कि दण्ड का स्वरूपभूत है। और पुरुष में जो 'विशेष्यता' है वह भी पुरुष के स्वरूप से अलग नहीं अपितु पुरुष का स्वरूपभूत ही है। अर्थात् 'विशेष्यता' और 'विशेषणता' को सम्बन्धियों से अलग नहीं अपितु 'सम्बन्धिस्वरूप' ही मानना होगा। इसलिए 'विशेष्य-विशेषणभाव' को 'सम्बन्ध' नहीं कहा जा सकता।

यदि यह पूछा जाय कि 'विशेष्यविशेषणभाव' को 'सम्बन्धिस्वरूप' ही क्यों माना जाय सम्बन्धियों से अलग ही क्यों न मान लिया जाय। तो इसका उत्तर यह होगा कि 'घटाभाववद् भूतलम्' इस प्रतीतिमें घटाभाव विशेषण होता है और भूतल विशेष्य है। इसके विपरीत 'भूतलनिष्ठः घटाभावः' इस प्रतीतिमें घटाभाव विशेष्य है और भूतल विशेषण है। इससे यह सिद्ध होता है कि अभाव भी 'विशेष्य' तथा 'विशेषण' होता है। यदि 'विशेष्यविशेषण भाव' को 'सम्बन्धिस्वरूप' न मानकर 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' माना जाय तो घटाभाव में रहनेवाली 'विशेष्यता' और 'विशेषणता' भी घटाभाव से भिन्न कोई अन्य पदार्थ होगी। संसार के समस्त भाव पदार्थों का वर्गीकरण द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों में ही किया गया है। इसलिए यह 'विशेष्य विशेषणभाव' यदि अलग कोई पदार्थ होगा भी तो इन्हीं छः पदार्थों में कहीं उसका अन्तर्भाव होगा। जैसे संयोग और समवाय को सम्बन्धियों से अलग मानने पर भी इन्हीं छः पदार्थों में उनका अन्तर्भाव होता है। संयोग गुण में गिना जाता है और समवाय छठा पदार्थ माना जाता है। इसी प्रकार 'विशेष्य-विशेषणभाव' भी यदि सम्बन्धियों से भिन्न है तो, या तो द्रव्य होगा, या गुण, कर्म, सामान्य, विशेष या समवाय में से कोई होगा। इनसे भिन्न कोई और पदार्थ नहीं हो सकता है।

यदि 'विशेष्यविशेषणभाव' को द्रव्यादि में से कोई पदार्थ मान लिया जाय तो यह आपत्ति उपस्थित होती है कि द्रव्यादि छहों पदार्थोंमें से कोई भी पदार्थ 'अभाव' में नहीं रहता है। द्रव्यादि छहों पदार्थ किसी भाव पदार्थ में ही रह सकते हैं। अभाव में उनमें से कोईभी पदार्थ नहीं रह सकता है। इसलिए यदि 'विशेष्यविशेषणभाव' को 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' मानेंगे तो उसे इन छहों पदार्थों में से ही कोई पदार्थ मानना होगा। और इन छहों पदार्थोंमें से कोई भी पदार्थ

अभाव में नहीं रहता। इसलिए 'विशेष्यविशेषणभाव' भी अभाव में नहीं रह सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि अभाव 'विशेष्य' या विशेषण नहीं हो सकेगा। परन्तु अभाव विशेष्य भी होता है और विशेषण भी यह बात सर्वानुभव सिद्ध है। परन्तु वह कब सिद्ध हो सकती है ? जब कि 'विशेष्यविशेषणभाव' को 'सम्बन्धिस्वरूप' माना जाय। जब 'विशेष्यविशेषणभाव' को 'सम्बन्धिस्वरूप' मानते हैं तब तो अभाव विशेष्य और विशेषण हो सकता है। और यदि 'विशेष्यविशेषणभाव' को 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' मानें तो अभाव न विशेष्य हो सकता है और न विशेषण। इसलिए 'विशेष्यविशेषणभाव' को 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' नहीं अपितु 'सम्बन्धिस्वरूप' ही मानना होगा। और उस दशा में सम्बन्ध के लक्षण का प्रथम अंश 'सम्बन्धिभ्यां भिन्नः' के 'विशेष्यविशेषणभाव' में न घटने से उसको सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है।

इसी प्रकार सम्बन्ध लक्षण के अवशिष्ट दो अंश भी 'विशेष्यविशेषणभाव' में नहीं घटते हैं। दूसरा अंश है। 'उभयाश्रितः'। परन्तु 'विशेष्यभाव' अथवा 'विशेषणभाव' में से कोई भी 'उभयाश्रित' नहीं है। विशेष्यभाव केवल विशेष्य में रहता है। और विशेषणभाव केवल विशेषण में रहता है। इसलिए उनमें से कोई भी 'उभयाश्रित' नहीं है। और जब वह अलग अलग रहते हैं तब उनको 'एक' भी नहीं कहा जा सकता है। विशेष्यभाव अलग है जो केवल विशेष्य में रहता है और विशेषण भाव अलग है जो कि केवल विशेषण में रहता है।

इस प्रकार सम्बन्ध के लक्षण के तीन अंशों में से एक भी अंश विशेष्यविशेषणभाव में नहीं घटता है इसलिए 'विशेष्यविशेषणभाव' को सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रक्रिया से कार्यकारण भाव आदि अन्य समस्त सम्बन्धोंका भी खण्डन किया जा सकता है। इसलिए 'संयोग' और 'समवाय' को छोड़ कर अन्य कोई 'सम्बन्ध' सिद्ध नहीं हो सकता है। और चक्षु आदि इन्द्रिय का अभाव के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं बनता है। क्योंकि संयोग दो 'द्रव्यों' का ही होता है और अभाव 'द्रव्य' नहीं है। तथा 'समवाय' सम्बन्ध 'अयुतसिद्धों' का ही होता है परन्तु अभाव 'अयुतसिद्धों' में नहीं गिना गया है। इसलिए इन्द्रिय और अभाव का न 'संयोग' संबन्ध होता है और न 'समवाय'। इन दो के अतिरिक्त 'विशेष्यविशेषणभाव' आदि और कोई 'संबंध' ही नहीं है। इसलिए इन्द्रिय और अभाव का कोई 'सम्बन्ध' न होनेसे प्रत्यक्ष प्रमाण से इन्द्रिय द्वारा अभावका ग्रहण नहीं हो सकता। यह पूर्व पक्ष है।

विशेषणविशेष्यभावश्च सम्बन्ध एव न सम्भवति भिन्नोभयाश्रितैकत्वाभावात्। सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो भवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च। यथा भेरीदण्डयोः संयोगः स हि भेरीदण्डाभ्यां भिन्नस्तदुभयाश्रितश्चैकश्च। न च विशेषणविशेष्यभावस्तथा। तथाहि दण्डपुरुषयोर्विशेषणविशेष्यभावो न ताभ्यां भिद्यते। न हि दण्डस्य विशेषणत्वमर्थान्तरं, नापि पुरुषस्य विशेष्यत्वमर्थान्तरमपि तु स्वरूपमेव। अभावस्यापि विशेषणत्वाद् विशेष्यत्वाच्च। न चाभावे कस्यचित् पदार्थस्य द्रव्याद्यन्यतमस्य सम्भवः। तस्मादभावस्य स्वोपरक्तबुद्धिजनकत्वं यत्स्वरूपं तदेव विशेषणत्वं, न तु पदार्थान्तरम्।

एवं व्याप्यव्यापकत्वकारणत्वादयोऽप्यूह्याः। स्वप्रतिबद्धबुद्धिजन-

---

इसी का उपपादन ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं।

और विशेषण-विशेष्य भाव [सम्बन्धियों से] भिन्न, उभयाश्रित और एक न होने से सम्बन्ध ही नहीं हो सकता है। क्योंकि सम्बन्ध सम्बन्धियों से भिन्न उभयाश्रित और एक होता है। जैसे भेरी और दण्ड का संयोग [सम्बन्ध है, तो] वह भेरी और दण्ड [दोनों सम्बन्धियों] से भिन्न [भेरी और दण्ड दोनों द्रव्य हैं और संयोग गुण है इसलिए वह दोनों सम्बन्धियों से भिन्न है] उभयाश्रित और एक है। परन्तु विशेषण विशेष्यभाव वैसा [अर्थात् सम्बन्धिभ्यां भिन्नः उभयाश्रितः और एकश्च] नहीं है। क्योंकि [दण्डी पुरुषः इस विशिष्ट प्रतीति में क्रमशः] दण्ड और पुरुष का विशेषण विशेष्य भाव उन [दण्ड और पुरुष के स्वरूप] से भिन्न नहीं है [किन्तु उनका स्वरूप ही है।] दण्ड का विशेषणत्व [उसके स्वरूप से भिन्न] कोई दूसरा पदार्थ नहीं है और न तो पुरुष का विशेष्यत्व [उसके स्वरूप से भिन्न] ही कोई अर्थान्तर है। किन्तु [विशेषण और विशेष्य भाव उन दोनों का] स्वरूपभूत ही हैं। अभाव के भी विशेषण और विशेष्य होने से। [यदि विशेषण विशेष्य भाव को स्वरूप से भिन्न अलग अर्थान्तर माना जाय तो संयोगादि के समान द्रव्यादि छः पदार्थों में ही उसका अन्तर्भाव कहीं होगा। परन्तु] द्रव्यादि [छः पदार्थों] में से किसी एक भी पदार्थ का अभाव में [रहना] सम्भव नहीं है। [क्योंकि अभाव किसी का आश्रय नहीं हो सकता है] इसलिए स्व [अर्थात् घटाभाव] से उपरत बुद्धि [घटाभाववद् भूतलम्] को उत्पन्न करना जो अभाव का स्वरूप है, वही [स्वरूपभूत] विशेषणत्व है। उससे भिन्न] अर्थान्तर नहीं।

इसी प्रकार व्याप्य व्यापक भाव और कार्य कारणत्व आदि भी [संबन्धियों से भिन्न नहीं अपितु सम्बन्धि स्वरूप ही] समझने चाहिए। अग्नि आदि का

कत्वं स्वरूपमेव हि व्यापकत्वमग्न्यादीनाम् । कारणत्वमपि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि स्वरूपमेव हि तन्त्वादीनां, नत्वर्थान्तरमभावस्यापि व्यापकत्वात्कारणत्वाच्च । नह्यभावे सामान्यादिसम्भवः ।

तदेवं विशेषणविशेष्यभावो न विशेषणविशेष्यस्वरूपाभ्यां भिन्नः । नाप्युभयाश्रितो, विशेषणे विशेषणभावमात्रस्य सत्त्वाद् विशेष्यभावस्याभावाद् विशेष्ये च विशेष्यभावमात्रस्य सद्भावाद्, विशेषणभावस्याभावात् । नाप्येको, विशेषणं च विशेष्यं च तयोर्भाव इति द्वन्द्वात् परं श्रूयमाणो भावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तथा च विशेषणभावो विशेष्यभावश्चेत्युपपन्नम् । द्वावेतावेकश्च सम्बन्धः तस्माद् विशेषणविशेष्यभावो

स्वप्रतिबद्ध [अपने से संबद्ध] बुद्धि को उत्पन्न करना ही उनका व्यापकत्व है । [इसी प्रकार] कारणत्व भी तन्त्वादि का कार्यानुकृत अन्वय व्यतिरेकिस्वरूप ही है, अर्थान्तर नहीं । अभाव के भी व्यापक तथा कारण होने से [यदि व्याप्य व्यापक भाव अथवा कार्य कारण भाव को सम्बन्धियों से भिन्न मानेंगे तो जैसा विशेष्य विशेषण भाव के विषय में दिखाया है व्याप्य व्यापक भाव तथा कारण कार्य भाव को द्रव्यादि छः पदार्थों से ही कोई पदार्थ मानना होगा । परन्तु] अभाव में सामान्यादि [छहों पदार्थों में से किसी] का सम्भव नहीं है ।

इस प्रकार विशेषण विशेष्य भाव विशेषण और विशेष्य के स्वरूपों से भिन्न नहीं है । और न उभयाश्रित ही है, विशेषण में विशेषण भाव मात्र के होने और विशेष्य भाव के न होने से, और विशेष्य में विशेष्य भाव मात्र के होने से विशेषण भाव के न होने से । [उन दोनों में से कोई भी उभयाश्रित नहीं है]

और न एक ही है । [क्योंकि] विशेषण और विशेष्य और उन दोनों का भाव इस रूप में [विशेषण विशेष्य भाव पद में 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते', इस नियम के अनुसार] द्वन्द्व से परे श्रूयमाण भाव पद [विशेषण और विशेष्य दोनों पदों में से] प्रत्येक के साथ सम्बद्ध होता है । इस प्रकार विशेषणभाव और विशेष्यभाव यह [अर्थ] उपपन्न होता है । [इससे स्पष्ट है कि] ये दो हैं और सम्बन्ध एक होता है [इसलिए विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध नहीं कहे जा सकते हैं] इसी प्रकार व्याप्य-व्यापक-भावादि भी [सम्बन्ध नहीं हैं । इस प्रकार प्रबलतर युक्तियों से यह सिद्ध होता है कि विशेषण विशेष्य भाव, व्याप्य व्यापक भाव, कार्य कारण भाव आदि कोई भी सम्बन्ध नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि उनमें सम्बन्ध का लक्षण नहीं घटता है । इस प्रकार उनका सम्बन्धत्व सिद्ध न होने पर भी उनके लिए] सम्बन्ध शब्द का प्रयोग तो दो के द्वारा निरूपणीय होने से [सम्बन्ध के साथ] साधर्म्य वश

न सम्बन्धः । एवं व्याप्यव्यापकभावादयोऽपि । सम्बन्धशब्दप्रयोगस्तूभयनिरूपणीयत्वसाधर्म्येणोपचारात् ।

तथा चासम्बद्धस्याभावस्येन्द्रियेण ग्रहणं न सम्भवति ।

सत्यम् । भावावच्छिन्नत्वाद् व्याप्तेर्भावं प्रकाशयदिन्द्रियं प्राप्तमेव प्रकाशयति, नत्वभावमपि । अभावं प्रकाशयदिन्द्रियं विशेषणविशेष्यभावमुखेनैवेति सिद्धान्तः ।

गौण रूप से होता है [यह समझना चाहिए । अर्थात् जैसे संयोग समवाय आदि सम्बन्ध किन्हीं दो पदार्थों में होते हैं । और उन दोनों का कथन कर के ही उस सम्बन्ध को प्रदर्शित किया जा सकता है इसी प्रकार विशेषण विशेष्य भाव में दो पदार्थों के कथन द्वारा ही उसका निरूपण होता है । इसलिए इस उभयनिरूपणीयत्व साधर्म्य से विशेषण विशेष्य भाव को भी गौण रूप से सम्बन्ध कहा जाता है । वास्तव में वह सम्बन्ध नहीं है]

इसलिए [फलितार्थ यह हुआ कि] सम्बन्ध के बिना अभाव का इन्द्रिय से [प्रत्यक्ष] ग्रहण नहीं हो सकता है । [अतः अभाव के ग्रहण के लिए अलग प्रमाण मानना चाहिए । यह पूर्वपक्ष हुआ ।]

[इसका उत्तर यह है कि] ठीक है । [किन्तु इन्द्रिय सम्बद्ध अर्थ को ही ग्रहण करती है इस] व्याप्ति के भाव [पदार्थ] तक परिमित होने से भाव को प्रकाशित करनेवाली इन्द्रिय, सबद्ध [भाव] को ही प्रकाशित करती है । परन्तु अभाव [के विषय में ही यह नियम नहीं] को तो नहीं । अभाव को प्रकाशित करनेवाली इन्द्रिय तो विशेषण विशेष्य [भाव] द्वारा ही प्रकाशित करती है यह सिद्धान्त [पक्ष] है ।

इस पर प्रश्न हो सकता है कि विशेषण विशेष्य भाव के सम्बन्धत्व का खण्डन किया जा चुका है । ऐसी दशा में यदि इन्द्रिय से अभाव का ग्रहण माना जायगा तो असम्बद्ध अभाव का ग्रहण माना जायगा । और उस दशा में अति प्रसङ्ग दोष होगा । अर्थात् जब बिना सम्बन्ध के इन्द्रिय अभाव को ग्रहण कर सकती है तब सभी पदार्थों को बिना सम्बन्ध के ग्रहण करती है यह भी माना जा सकता है । इस शङ्का के होने पर नैयायिक का उत्तर यह है कि हम तो विशेषण विशेष्य भाव को 'सम्बन्ध' मानते हैं इसलिए हमारे मत में इन्द्रिय बिना सम्बन्ध के अभाव को ग्रहण नहीं करती इसलिए अतिप्रसङ्ग का कोई अवसर नहीं है । फिर भी यदि आप उसे असंबद्ध ग्रहण ही कहते हैं तो यह दोष आपके मत में भी आता है । क्योंकि अभाव प्रमाण के मान लेने

असम्बद्धाभावग्रहेऽतिप्रसङ्गदोषस्तु विशेषणतयैव निरस्तः । समश्च परमते ।

यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः ।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥

पर भी उस प्रमाण का अभाव के साथ संयोग का समवाय कोई सम्बन्ध नहीं बन सकेगा । इसलिए यह असंबद्धार्थ ग्राहकत्व दोष आप पर भी आता है । और आप उसका जो समाधान करें वही समाधान हमारे पक्ष में भी समझ लेना चाहिए ।

असम्बद्ध अभाव के ग्रहण में [आने वाला] अतिप्रसङ्गदोष तो विशेषणतया ही खण्डित हो जाता है । और दूसरे [प्रतिवादी] के मत में भी समान है । [इसलिए]-

जहां दोनों [पक्षों] में समान दोष हो और परिहार भी समान हो । ऐसे अर्थ के विचार करते समय किसी एक पक्ष पर दोषारोपण नहीं करना चाहिए ।

इस प्रकार तर्कभाषाकार ने अर्थापत्ति तथा अभाव इन दो प्रमाणों का अन्तर्भाव दिखाया है । इनमें से अर्थापत्ति का 'केवल व्यतिरेकी' अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया है । और अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से ही हो जाता है यह न्याय सिद्धान्त स्थापित किया है । इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द यह चार प्रमाण सिद्ध किए गए हैं । और शेष सबका अन्तर्भाव इन्हीं में किया गया है । परन्तु न्याय की अपेक्षा भी कम प्रमाण मानने वाले सांख्य, योग, वैशेषिक आदि आस्तिक दर्शन भी हैं । सांख्य तथा योग, में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द यह तीन प्रमाण माने गए हैं । उन्होंने उपमान को अलग प्रमाण न मान कर इन्हीं तीनों प्रमाणों में उसका अन्तर्भाव मान लिया है ।

उपमान के विषय में सांख्यमत—

सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने उपमान प्रमाण के भिन्न भिन्न तीन लक्षणों के अनुसार क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीनों प्रमाणों के भीतर उपमान का अन्तर्भाव दिखाते हुए लिखा है—

१ उपमानं तावद्, यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यम् । तज्जनिता धीरागम एव ।

२ योऽव्ययं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक इति प्रत्ययः सोऽप्यनुमानमेव । यो हि शब्दः वृद्धैर्यत्र प्रयुज्यते सोऽसति वृत्यन्तरे तस्य वाचकः । यथा गोशब्दो गोत्वस्य । प्रयुज्यते चैष गवयशब्दो गोसदृशे इति तस्यैव वाचक इति तज्ज्ञानमनुमानमेव ।

३ यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत्प्रत्यक्षमेव । अत एव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम् । न ह्यन्यद् गवि सादृश्यमन्यच्च गवये । भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते । सामान्ययोगश्चैकः । स चेद् गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति यत्र प्रमाणान्तरमुपमानं भवेदिति न प्रमाणान्तरमुपमानम्[1] ।

१ अर्थात् उपमान के तीन प्रकार के लक्षण पाए जाते हैं । उन तीनों के अनुसार उपमान का इन तीन प्रमाणों में उसका अन्तर्भाव हो सकता है । यदि न्याय दर्शन के 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्'[2] इस लक्षण के अनुसार 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य को उपमान प्रमाण मानें तो उससे उत्पन्न ज्ञान अर्थात् वाक्यार्थ ज्ञान ही उसका फल होगा । और वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान शब्द प्रमाण का विषय है इसलिए इस अवस्था में उपमान का काम शब्द प्रमाण से निकल आता है । उसके लिए अलग उपमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ।

२ इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः' यह लिखा है । इसके अनुसार । संज्ञा संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति को उपमान प्रमाण का फल माना जाता है । इस पक्ष में वाचस्पति मिश्र उसका अन्तर्भाव अनुमान में करते हैं । जो शब्द वृद्ध लोग जिस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं यदि लक्षणा आदि अन्य वृत्तियों का आश्रय न लिया जाय तो वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है । वृद्ध लोग गवयशब्द को गोसदृश में प्रयुक्त करते हैं इसलिए वह गोसदृश का वाचक होता है । इस प्रकार अनुमान प्रमाण से संज्ञा संज्ञी के सम्बन्ध की प्रतीति हो सकती है । अतः इस के लिए भी उपमान को अलग प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है ।

३ मीमांसकों ने उपमान प्रमाण का प्रतिपादन अन्य प्रकार से किया है । उनके अनुसार 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य को सुनने के बाद जो व्यक्ति जङ्गल में जाकर गोसदृश प्राणी को देखता है उसे पहिले यह ज्ञान होता है कि इसके समान ही मेरी गौ है । यहां अप्रत्यक्ष गौ में जो इस गवय का सादृश्य प्रतीत होता है वह उपमान प्रमाण से ही प्रतीत होता है यह मीमांसकों का मत है । परन्तु वाचस्पति मिश्र ने इस सादृश्य ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय माना है । यद्यपि गौ प्रत्यक्ष नहीं है, गवय प्रत्यक्ष है । परन्तु गौ तथा गवय का सादृश्य तो एक ही है । वह सादृश्य गवय के प्रत्यक्ष होने से गवय में प्रत्यक्ष है इसलिए उससे अभिन्नगोनिष्ठ सादृश्य भी प्रत्यक्ष है । इस

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी कारिका ५ । २. न्यायसूत्रम् १, १, ६, ।

प्रकार इस कार्य के लिए भी उपमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अत एव सांख्य में उपमान को अलग प्रमाण नहीं माना गया है।

अभाव के विषय में सांख्यमत—

अभाव प्रमाण का अन्तर्भाव नैयायिकों ने भी प्रत्यक्ष प्रमाण में किया है और सांख्य में भी उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही माना गया है। परन्तु उसके उपपादन का मार्ग भिन्न है। सांख्य के मतानुसार भूतल के स्वरूप में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। उनमें कभी भूतल घटवत् अर्थात् घट युक्त होता है और कभी घट के हट जाने पर केवल भूतल शेष रह जाता है। जब केवल भूतल रह जाता है इसी अवस्था को 'घटाभाववद् भूतलम्' कहते हैं। इसलिए घटाभाव भी भूतल का स्वरूप विशेष ही है। भूतल का ग्रहण इन्द्रिय से होता है इसलिए उसका कैवल्य रूप भेद भी जिसको 'घटाभाववद् भूतलम्' कहा जाता है, प्रत्यक्ष ही है। इसीलिए उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में ही हो सकता है।

वैशेषिक मत—

वैशेषिक दर्शन में केवल 'प्रत्यक्ष तथा अनुमान' ये दो ही प्रमाण माने हैं। शेष सबका अन्तर्भाव अनुमान में ही किया है। उसमें से शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में किया गया है यह ऊपर दिखाया जा चुका है। शेष प्रमाणों का अनुमान में अन्तर्भाव करते हुए वैशेषिक में लिखा है—

'प्रसिद्धाभिनयस्य चेष्टया प्रतिपत्तिदर्शनात्तदप्यनुमानमेव।

आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयत्वप्रतिपादनादुपमानमप्याप्तवचनमेव।

दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येव। श्रवणादनुमितानुमानम्।

सम्भवोऽप्यविनाभावित्वादनुमानमेव।

अभावोऽप्यनुमानमेव। यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम्'[1]।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव इन प्रमाणों का साक्षात् या परम्परया अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया है। इसमें विशेषता यह है कि ऐतिह्य की चर्चा नहीं की है और उसके स्थान पर चेष्टा का अन्तर्भाव दिखाया है।

सांख्य विषयक मतभेद—

सांख्य में तीन प्रमाण माने हैं और शेष सबका अन्तर्भाव उन्हीं में दिखाया है। इनमें से उपमान तथा अभाव के अन्तर्भाव का प्रकार दिखाया जा चुका

१ प्रशस्तपादभाष्य पृ० १११।

है। शेष अर्थापत्ति और सम्भव इन दो का अनुमान में और ऐतिह्य का शब्द में अन्तर्भाव माना है।

इस प्रकार देखने से प्रतीत होता है कि प्रमाणों की संख्या के विषय में अनेक प्रकार के मत दार्शनिकों में पाए जाते हैं। विभिन्न मतों में एक से लेकर आठ तक प्रमाण माने गए हैं। इन मतों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

एक-प्रमाणवादी। चार्वाक सम्प्रदाय केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है।

द्वि-प्रमाणवादी। बौद्ध तथा वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो प्रमाण मानते हैं।

त्रि-प्रमाणवादी। सांख्य और योग प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणों को मानते हैं।

चतुः-प्रमाणवादी। नैयायिक, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को मानते हैं।

पञ्च-प्रमाणवादी। प्रभाकर अर्थापत्ति को पञ्चम प्रमाण मानते हैं।

षट्-प्रमाणवादी। कुमारिल भट्ट तथा वेदान्ती अर्थापत्ति तथा अभाव को मिलाकर छः प्रमाण मानते हैं।

अष्ट-प्रमाणवादी। पौराणिक सम्प्रदाय में ऐतिह्य तथा सम्भव दो प्रमाण और बढ़ा कर आठ प्रमाण माने गए हैं।

हमने 'दर्शनमीमांसा' में इसका संग्रह इस प्रकार किया है।[1]

प्रत्यक्षमात्रं चार्वाका बौद्धा वैशेषिका द्वयम्।
सांख्या योगास्त्रयं चैव न्याये चैव चतुष्टयम्॥
पञ्च प्राभाकरा भाट्टास्तथा वेदान्तिनश्च षट्।
पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणान्यत्र मन्वते॥

१ दर्शनमीमांसा ५।

प्रामाण्यवादः

प्रामाण्यवाद निरूपण

इस प्रकार प्रमाणों का निरूपण हो चुकने के बाद इन प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान के प्रामाण्य के निर्णय का प्रश्न सामने उपस्थित होता है। इस विषय में आस्तिक दर्शनों में भी दो प्रकार के मत पाए जाते हैं। मीमांसक कुमारिलभट्ट ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः मानते हैं और अप्रामाण्य परतः मानते हैं।

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते[1]॥

इसके विपरीत नैयायिक और वैशेषिक दर्शन प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को परतः मानते हैं।)

'किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः, १ उत उभयमपि परतः, ३ आहोस्विदप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परतः, ४ उतस्वित् प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं तु परत इति।

स्थितिमेतदर्थक्रियाज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चय इति। तदिदमुक्तं, 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्' [न्याय भाष्य पृ० १] इति। तस्मादप्रामाण्यमपि परोक्षमित्यतो द्वयमपि परत इत्येष एव पक्षः श्रेयानिति[2]।

(इस प्रकार न्याय वैशेषिक के मत में प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों परतः माने गए हैं। मीमांसक मत में प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः माना है। सांख्य और योग का इस विषय में क्या मत है इसका स्पष्ट उल्लेख उनके मुख्य ग्रन्थों में नहीं मिलता है फिर भी माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह में सांख्य को न्याय तथा मीमांसा दोनों से भिन्न प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानने वाला बताया है।)

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः[3]।

'श्लोकवार्तिक' सूत्र २ में 'केचिदाहुर्द्वयं स्वतः' लिखकर इसी सांख्य मत का निर्देश किया गया जान पड़ता है और बौद्ध आचार्य शान्तरक्षित ने भी तत्त्वसंग्रह कारिका २८११ में इसी मत का समर्थन किया है (इस प्रकार न्याय वैशेषिक प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों को परतः मानते हैं। सांख्य योग दोनों को स्वतः मानते हैं। मीमांसा में प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः माना गया है।)अब अप्रामाण्य को स्वतः और प्रामाण्य को परतः माननेवाला

१ श्लोक वार्तिक सू० २, श्लो० ४७।
२ न्यायमञ्जरी पृ० १६०–१७४। कन्दली पृ० २१७-२२०।
३ सर्वदर्शन संग्रह जैमिनिद० पृ० २७९।

एक चौथा पक्ष शेष रह जाता है। सर्वदर्शन संग्रह में 'सौगताश्चरमं स्वतः'[1] लिख कर बौद्धों को इस चतुर्थ पक्ष का मानने वाला बताया है।

परन्तु बौद्ध आचार्य शान्त रक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह'[2] में बौद्ध मत को इन चारों पक्षों से विलक्षण दिखाया है। वह लिखते हैं,—

'न हि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः। अनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि, उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः, किञ्चित् परतः, इति पूर्वमुपवर्णितम्। अत एव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः। पञ्चमस्याप्यनियमपक्षस्य सम्भवात्।'

अनियम पक्ष का अभिप्राय यह है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान में प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनों स्वतः और अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों परतः हैं। जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र[3] ने इसी रूप से तथा आचार्य देवसूरि ने उत्पत्ति और ज्ञप्ति भेद से प्रामाण्य को स्वतः तथा परतः इन दोनों प्रकार का माना है—

तत्प्रामाण्यं[4] स्वतः परतश्चेति।

तदुभयमुत्पत्तौ[5] परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति।

इस प्रकार प्रामाण्यवाद के विषय में कुल छः पक्ष बन जाते हैं—

१ न्याय पक्ष में	प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः हैं।
२ सांख्य पक्ष में	प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः हैं।
३ मीमांसक पक्ष में	प्रामाण्य स्वतः तथा अप्रामाण्य परतः है।
४ बौद्धैकदेशी पक्ष में	अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः है।
५ बौद्धपक्ष [शान्तरक्षित] में	अभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों स्वतः और अनभ्यासदशापन्न ज्ञान में दोनों परतः हैं।
६ जैनपक्ष में	उत्पत्ति में दोनों परतः और ज्ञप्ति में दोनों स्वतः हैं।

तर्कभाषाकार ने यहाँ जो प्रामाण्य चर्चा का विषय उठाया है वह मुख्यतः मीमांसकों के 'स्वतः प्रामाण्यवाद' का निराकरण करने के लिए उठाया है। इसलिए अन्य पक्षों की चर्चा नहीं की है।

हमने अपनी दर्शन मीमांसा में प्रामाण्यवादविषयक इन विभिन्न मतों का संकलन इस प्रकार किया है—

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वं सांख्ये योगे स्वतो मतम्।
तदेव परतो ज्ञेयमुभयं गौतमे नये॥

१ सर्व० द० पृ० २७९।

२ तत्त्वसंग्रह कारिका ३१२२।

३ प्रमाणमीमांसा १, १, ८। ४ परी० १, १३। ५ प्रमाणन० १,२१।

६ दर्शन मीमांसा ५।

प्राभाकराश्च भाट्टाश्च प्रामाण्यं ब्रुवते स्वतः ।
अप्रामाण्यं पुनस्तेषां पुन्दोषात् परतो मतम् ॥
स्वतोऽभ्यासदशापन्ने, उभयं शान्तरक्षितैः ।
अनभ्यासदशायां तैरुभयं परतो मतम् ॥
अप्रामाण्यं स्वतो नित्यं प्रामाण्यं परतस्तथा ।
बौद्धं मतान्तरं प्रोक्तं सर्वदर्शनसंग्रहे ॥
स्वतस्त्वन्तु समुत्पत्तौ ज्ञप्तौ परतस्त्वं तथा ।
उभयोरेतयोः सर्वे जैनाश्च सम्प्रचक्षते[1] ॥

मीमांसक मत का उपपादन—

(मीमांसक मत स्वतः प्रामाण्यवादी है। उनके मत में स्वतः प्रमाण का लक्षण 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्' किया गया है। अर्थात् ज्ञान ग्राहक सामग्री से अतिरिक्त सामग्री प्रामाण्यग्रह के लिए जहाँ अपेक्षित न होती हो उसे स्वतः प्रमाण कहना चाहिए। अर्थात् जहाँ ज्ञान तथा तद्गत प्रामाण्य दोनों का ग्रहण एक ही सामग्री से हो जाता है उसे स्वतः प्रमाण कहा जाता है। इसके विपरीत 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वं परतस्त्वम्' अर्थात् ज्ञान ग्राहक और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री अलग अलग होने पर परतः प्रामाण्य होता है। यह 'स्वतः प्रामाण्य' और 'परतः प्रामाण्य' के लक्षण हैं। मीमांसक मत में ज्ञान और प्रामाण्य दोनों की ग्राहक एक ही सामग्री 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' है और न्याय मत में ज्ञान ग्राहक सामग्री 'अनुव्यवसाय' है तथा 'प्रामाण्य ग्राहक सामग्री' इससे भिन्न 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान' हैं।)

(मीमांसक का अभिप्राय यह है कि 'अयं घटः' इस ज्ञान से घट में 'ज्ञातता' नामक एक धर्म उत्पन्न होता है। यह धर्म 'अयं घटः' इस ज्ञान के होने से पहिले नहीं था इस ज्ञान के बाद उत्पन्न हुआ है इसलिए वह 'अयं घटः' इस ज्ञान से जन्य है। अर्थात् उसका कारण ज्ञान है।

इस 'ज्ञातता' धर्म की प्रतीति 'ज्ञातो मया घटः' इस ज्ञान में होती है। यह 'ज्ञातता' धर्म अपने कारण ज्ञान के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिए 'ज्ञातता' की अन्यथानुपपत्ति से प्रसूता अर्थापत्ति ही इस 'ज्ञातता धर्म' की ग्राहिका है। और जब 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' से ज्ञान का ग्रहण होता है तब उस ज्ञान में रहनेवाले प्रामाण्य का ग्रहण भी उसी अर्थापत्ति से

१. दर्शन मीमांसा ५।

हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान ग्राहक और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री समान हो जाने से 'स्वतः प्रामाण्य' है। यह मीमांसक मत है।)

(परन्तु नैयायिकों के मत में 'ज्ञातता' नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। इसलिए 'ज्ञातता' की सिद्धि का एक और भार मीमांसक पर आता है। बिना ज्ञातता की सिद्धि के 'स्वतः प्रामाण्य' की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए मीमांसक दूसरी 'विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' से 'ज्ञातता' की सिद्धि करते हैं। दूसरा अभिप्राय यह है कि 'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय घट होता है पट नहीं। इस विषय नियम का उपपादन किस आधार पर किया जाय। नैयायिक के मत से इसका उपपादन 'तदुत्पत्ति सिद्धान्त' को मान कर और बौद्धादि मतों में 'तादात्म्य' सिद्धान्त के आधार पर किया जा सकता है। परन्तु वे दोनों ही समाधान ठीक नहीं बनेंगे।)

('तदुत्पत्ति' सिद्धान्त का आशय यह होगा कि ज्ञान के प्रति विषय भी कारण होता है। इसलिए 'अयं घटः' यह ज्ञान घट से पैदा होता है इसलिए घटज्ञान का विषय घट होता है पट नहीं। यह 'तदुत्पत्ति' पक्ष से नैयायिकों की ओर से कहा जा सकता है। परन्तु इसमें दोष यह आता है कि 'घट-ज्ञान' के प्रति जैसे विषय रूप घट कारण होता है इसी प्रकार आलोक भी कारण होता है। घट से उत्पन्न होने के कारण यदि 'घट-ज्ञान' का विषय घट हो सकता है तो 'घट-ज्ञान' आलोक से भी उत्पन्न होता है इसलिए उसका विषय आलोक भी होना चाहिए। परन्तु कोई भी 'घट-ज्ञान' का विषय आलोक को मानने के लिए तैयार नहीं हो सकता है। इसलिए 'तदुत्पत्ति' के आधार पर विषय नियम का उपपादन नहीं किया जा सकता है।)

दूसरा 'तादात्म्य' या 'तदाकारतापक्ष' बौद्धों का या वेदान्त आदि का हो सकता है। ज्ञान के आकार से बाह्य अर्थों का अनुमान माननेवाला बौद्ध वैभाषिक मत है। और उनको सौत्रान्तिक मतमें बाह्य अर्थोंका अस्तित्व मानकर ज्ञान को तज्जन्य तदाकार माना जाता है। इन मतों के अनुसार घट और घटज्ञान का 'तादात्म्य' या 'तदाकारता' होनेसे घट ज्ञान का विषय घट होता है पट नहीं। इस प्रकार तादात्म्य या तदाकारता के आधार पर भी विषय नियम का उपपादन करना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान और विषय वस्तुतः दोनों भिन्न हैं। घटादि विषयों का बाह्य अस्तित्व है और उससे भिन्न ज्ञान का केवल आन्तरिक अस्तित्व है इसलिए घट और ज्ञान का तादात्म्य बन भी नहीं सकता। अतएव घट ज्ञान का विषय घट ही क्यों होता है पट क्यों नहीं। इस विषय नियम का उपपादन न 'तदुत्पत्ति' पक्ष से ठीक होता है और न 'तादात्म्य' पक्ष से ही बन सकता है।

उसके उपपादन का केवल एक ही मार्ग है और वह है ज्ञातता। घट ज्ञान से उत्पन्न होने वाली 'ज्ञातता' केवल घट में रहती है, पट में नहीं। इसलिए घटज्ञान का विषय घट ही होता है पट नहीं। इस प्रकार 'ज्ञातता' के आधार पर ही विषय नियम का उपपादन हो सकता है। अन्यथा नहीं। यह 'विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' ही ज्ञातता की सिद्धि में प्रमाण है।

(जब 'विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' से ज्ञातता की सिद्धि हो जाती है तब वह ज्ञातता अपने कारण रूप ज्ञान की 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' से सिद्ध कर देती है और उसी अर्थापत्ति से, ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान ग्राहक और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री एक होने से 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्' यह स्वतः प्रामाण्य का लक्षण घटित हो जाने से स्वतः प्रामाण्यवाद ही मानना चाहिए यह मीमांसक का मत है।)

नैयायिक मत से स्वतः प्रामाण्य का खण्डन—

इसके विपरीत नैयायिक का सिद्धान्त पक्ष यह है कि मीमांसक 'विषयविषयिभाव' के उपपादन के लिए 'ज्ञातता' को मानना चाहते हैं यह ठीक नहीं है। घट और ज्ञान का 'विषयविषयिभाव' ज्ञातता के आधार पर नहीं अपितु स्वाभाविक है। यदि 'विषयविषयिभाव' को ज्ञातता के आधार पर मानेंगे तो उसमें दो दोष होंगे। एक तो यह कि अतीत और अनागत पदार्थ ज्ञान का विषय नहीं हो सकेंगे। क्योंकि आपके मत से ज्ञान का विषय वही हो सकता है जो ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता का आधार हो। वर्तमान ज्ञातता का आधार वर्तमान पदार्थ ही हो सकता है। अतीत और अनागत पदार्थों का वर्तमान काल में कोई अस्तित्व नहीं है। तब ज्ञान से उत्पन्न होने वाली ज्ञातता उनमें कैसे रहेगी। इसलिए यदि ज्ञातता के आधार पर विषय नियम माना जायगा तो अतीत और अनागत पदार्थ विषय नहीं बन सकेंगे। यह एक दोष है जिसके कारण विषय नियम को ज्ञातता के आधार पर नहीं अपितु स्वाभाविक मानना चाहिए।

ज्ञातता के आधार पर विषय नियम मानने में दूसरा 'अनवस्था' दोष बाधक है। अनवस्था दोष का अभिप्राय यह है कि ज्ञातता का भी हमको ज्ञान होता है अतः ज्ञातता भी उस ज्ञान का विषय होती है। आपके मतानुसार ज्ञातता ज्ञान का विषय तब ही हो सकती है जब उसके ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता उसमें रहे। इस प्रकार एक ज्ञातता के विषयत्व के उपपादन के लिए उसमें दूसरी ज्ञातता माननी होगी। वह दूसरी ज्ञातता भी ज्ञान का विषय होती है इसलिए

उसमें तीसरी ज्ञातता माननी होगी। इस प्रकार एक में दूसरी और दूसरी में तीसरी ज्ञातता मानने से 'अनवस्था' होगी। यह दूसरा दोष ज्ञातता के आधार पर विषय नियम मानने में बाधक है। अतएव विषय नियम ज्ञातता के आधार पर नहीं अपितु स्वाभाविक है यही मानना उचित है।

विषय नियम के उपपादन के लिए मीमांसक ने ज्ञातता की अपरिहार्यता बतलाई थी। जब उसका खण्डन हो गया तब ज्ञातता की सिद्धि का और कोई मार्ग नहीं रह जाता है। इसलिए न्याय मत में ज्ञान विषयता के अतिरिक्त ज्ञातता कोई पदार्थ नहीं है। यह ज्ञातता ही मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद का मूल थी। इसी के आधार पर 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' से ज्ञान और प्रामाण्य का ग्रहण मान कर मीमांसक स्वतः प्रामाण्य को सिद्ध करते हैं। जब उस ज्ञातता का ही खण्डन हो गया तब फिर 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा'। 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' से ज्ञान और प्रामाण्य ग्रहण की चर्चा करना ही व्यर्थ है।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान से ज्ञातता उत्पन्न होती है उसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान से भी ज्ञातता उत्पन्न होती है। इसलिए यदि यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली ज्ञातता से, ज्ञान और प्रामाण्य दोनों का ग्रहण होता है यह माना जाय तो, उसी प्रकार अयथार्थ ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली ज्ञातता से ज्ञान और अप्रामाण्य का ग्रहण भी एक साथ होता है यह भी मानना चाहिए। इस का अर्थ यह हुआ कि जिस 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' से प्रामाण्य का ग्रहण होता है उसी अर्थापत्ति से अप्रामाण्य का ग्रहण भी हो सकता है। इसलिए प्रामाण्य के समान अप्रामाण्य को भी स्वतः मानना चाहिए। अथवा यदि अप्रामाण्य को परतः मानते हैं तो प्रामाण्य को भी परतः मानना चाहिए। परन्तु मीमांसक इसे स्वीकार नहीं करते हैं। वे प्रामाण्य को तो स्वतः मानते हैं परन्तु अप्रामाण्य को करण दोष जन्य अर्थात् परतः मानते हैं। नैयायिक का कहना है कि इन दोनों की एक सी स्थिति है। या तो दोनों को स्वतः मानो अथवा दोनों को परतः मानो। और दोनों को परतः मानना ही उचित है। यह न्याय सिद्धान्त है।

परतः प्रामाण्य का उपपादन—

न्याय के परतः प्रामाण्यवाद में ज्ञान और प्रामाण्य दोनों की ग्राहक सामग्री अलग अलग है। ज्ञान ग्राहक सामग्री तो 'अनुव्यवसाय' है और प्रामाण्य या अप्रामाण्य की ग्राहक सामग्री, प्रवृत्ति के साफल्य या वैफल्य मूलक अनुमान है।

पहिले प्रमाण से घट, पट या जलादि रूप अर्थ का ज्ञान होता है। उसके बाद उसके ग्रहण आदि के लिए मनुष्य प्रवृत्त होता है। प्रवृत्ति होने पर यदि वह प्रवृत्ति सफल हो जाती है अर्थात् वहाँ अर्थ की उपलब्धि हो जाती है तो मनुष्य अपने उस ज्ञान को यथार्थ समझता है। और यदि प्रवृत्ति विफल हो जाती है तो मनुष्य अपने ज्ञान को अयथार्थ अथवा भ्रम समझता है। इस प्रकार प्रवृत्ति के साफल्य या वैफल्य के अनुसार प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निर्णय होता है। ऐसे स्थलों को जहाँ ज्ञान के बाद प्रवृत्ति हो जाती है और उसके बाद प्रामाण्य या अप्रामाण्य का निश्चय होता है, 'अभ्यास दशा' कहते हैं। इस 'अभ्यासदशापन्न ज्ञान' के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय 'प्रवृत्ति साफल्य या वैफल्य मूलक अनुमान' से होता है यह तो स्पष्ट ही है। इसके अनुसार अनुमान इस प्रकार बनेगा। 'इदं मे जलज्ञानं प्रमाणं समर्थ-प्रवृत्तिजनकत्वात्'। यह मेरा जल ज्ञान प्रमाण है सफलप्रवृत्ति का जनक होने से। इस प्रकार 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' हेतु से 'अभ्यासदशापन्नज्ञान' का प्रामाण्य 'प्रवृत्ति साफल्य मूलक अनुमान' के द्वारा गृहीत होता है।

(परन्तु कुछ स्थल ऐसे भी होते हैं जहाँ ज्ञान होने के बाद ही, अर्थात् प्रवृत्ति से पहिले ही, उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। ऐसे ज्ञान को 'अनभ्यासदशापन्न ज्ञान' कहेंगे। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है 'अभ्यासदशापन्नज्ञान' में तो 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' यह हेतु हो सकता है। परन्तु 'अनभ्यासदशा-पन्नज्ञान' में जहाँ प्रवृत्ति हुई ही नहीं है वहाँ 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' यह हेतु कैसे बनेगा। इसका उत्तर यह है कि वहाँ 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' के बजाय 'समर्थप्रवृत्तिजनकज्ञानजातीयत्वात्' यह हेतु रखना चाहिए। इस 'अभ्यास-दशापन्न' शब्द का उल्लेख बौद्ध और जैन दर्शनों ने इस स्वतः प्रामाण्यवाद के प्रसङ्ग में किया है।)

न्याय मत में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण तो इस प्रवृत्ति साफल्य अथवा वैफल्य मूलक अनुमान से होता है परन्तु ज्ञान का ग्रहण 'अनुव्यवसाय' से होता है। ज्ञान के ज्ञान को 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। जैसे 'अयं घटः' यह ज्ञान घट से उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का विषय घट होता है। इस प्रथम ज्ञान को 'व्यवसायात्मक ज्ञान' कहते हैं। इसके बाद 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस द्वितीय ज्ञान का विषय घट नहीं अपितु 'घट ज्ञान' होता है। इस ज्ञान विषयक ज्ञान को 'अनुव्यव-साय' कहते हैं। इसी अनुव्यवसाय से ज्ञान का ग्रहण होता है।

मीमांसक की 'ज्ञातता' की उत्पत्ति भी 'अयं घटः' इस ज्ञान से होती है

इदमिदानीं निरूप्यते। जलादिज्ञाने जाते, तस्य प्रामाण्यमवधार्य कश्चिज्जलादौ प्रवर्तते। कश्चित्तु सन्देहादेव प्रवृत्तः प्रवृत्त्युत्तरकाले जलादिप्रतिलम्भे सति प्रामाण्यमवधारयतीति वस्तुगतिः।

अत्र कश्चिदाह। प्रवृत्तेः प्रागेव प्रामाण्यावधारणात्। अस्यार्थः। येनैव यज्ज्ञानं गृह्यते तेनैव तद्गतं प्रामाण्यमपि न तु ज्ञानग्राहकादन्यज् ज्ञानधर्मस्य प्रामाण्यस्य ग्राहकम्। तेन ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य। ज्ञानं च प्रवृत्तेः पूर्वमेव गृहीतं कथमन्यथा प्रामाण्या-

---

और नैयायिकों के 'अनुव्यवसाय' की उत्पत्ति भी उसी 'अयं घटः' ज्ञान से होती है। परन्तु उन दोनों में अन्तर यह है कि मीमांसक की 'ज्ञातता' तो घट में रहने वाला धर्म है और नैयायिक का 'अनुव्यवसाय' घट में नहीं किन्तु आत्मा में रहने वाला धर्म है।

मीमांसक 'अयं घटः' से घट में ज्ञातता धर्म की उत्पत्ति मान कर उसी के आधार पर विषय नियम का उपपादन करते हैं और उसी के आधार पर 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' से ज्ञान और प्रामाण्य दोनों का ग्रहण मान कर 'स्वतः प्रामाण्यवाद' की स्थापना करते हैं। परन्तु नैयायिक विषय नियम को स्वाभाविक मान कर 'ज्ञातता' का खण्डन कर देते हैं और ज्ञान का ग्रहण 'अनुव्यवसाय' से तथा प्रामाण्य का ग्रहण 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान' से मान कर परतः प्रामाण्यवाद को सिद्ध करते हैं। यही कहते हैं—

अब यह [प्रामाण्यवाद] निरूपण करते हैं कि जलादि का ज्ञान होने पर कोई [अनभ्यास दशा में ही] उसका प्रामाण्य निश्चय करके जलादि [के हान उपादान आदि] में प्रवृत्त होता है। और कोई [प्रामाण्य का अवधारण किए विना] सन्देह से ही प्रवृत्त होकर जल आदि की प्राप्ति होने पर प्रामाण्य का निर्णय [अभ्यास दशापन्न रूप से] करता है। यह वस्तु स्थिति है।

यहाँ [इस विषय में] कोई [मीमांसक] कहता है। प्रवृत्ति के पूर्व ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाने से [प्रवृत्ति साफल्य प्रामाण्य का अनुमापक नहीं है]। इसका अर्थ यह है कि जिस [सामग्री] से जिस ज्ञान का ग्रहण होता है उसी [सामग्री] से उन [ज्ञान] में रहने वाले प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। ज्ञान ग्राहक से भिन्न ज्ञान के धर्म प्रामाण्य का ग्राहक दूसरा नहीं है। [अर्थात् नैयायिक जो ज्ञान का ग्रहण 'अनुव्यवसाय' से और प्रामाण्य का ग्रहण 'प्रवृत्ति साफल्य मूलक अनुमान' से सिद्ध करना चाहते हैं वह ठीक नहीं है] इस लिए [ज्ञान ग्राहक और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री एक होने से] ज्ञान ग्राहक से

प्रामाण्यसन्देहोऽपि स्यात् । अनधिगते धर्मिणिऽसन्देहानुदयात् । तस्मात् प्रवृत्तेः पूर्वमेव ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञाने गृहीते ज्ञानगतं प्रामाण्यमप्यर्थापत्त्यैव गृह्यते । ततः पुरुषः प्रवर्तते । न तु प्रथमं ज्ञानमात्रं गृह्यते ततः प्रवृत्त्युत्तरकाले फलदर्शनेन ज्ञानस्य प्रामाण्यमवधार्यते ।

अत्रोच्यते । ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्या ज्ञानं गृह्यते इति यदुक्तं तदेव वयं न मृष्यामहे तया प्रामाण्यग्रहस्तु दूरत एव । तथा हि इदं किल परस्याभिमतम् । घटादिविषये ज्ञाने जाते 'मया ज्ञायोऽयं घटः' इति घटस्य ज्ञातता प्रतिसन्धीयते । तेन ज्ञाने जाते सति ज्ञातता नाम कश्चिद्धर्मो जात इत्यनुमीयते । स च ज्ञानात्पूर्वमजातत्वात् , ज्ञाने जाते च जातत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानेन जन्यत इत्यवधार्यते । एवं च ज्ञानजन्योऽसौ ज्ञातता नाम धर्मो ज्ञानमन्तरेण नोपपद्यते कारणाभावे कार्यानुदयात् । तेनार्थापत्त्या स्वकारणं-ज्ञानं ज्ञाततयाऽऽक्षिप्यत इति ।

अतिरिक्त [प्रामाण्य ग्रह के लिये दूसरी सामग्री] की अपेक्षा न होने से प्रामाण्य का स्वतस्त्व ही है ।

ज्ञान तो प्रवृत्ति के पूर्व ही गृहीत हो जाता है [यह निश्चय है] अन्यथा [ज्ञान रूप धर्मी का ग्रहण हुए बिना] प्रामाण्य अप्रामाण्य का संदेह भी कैसे हो सकेगा । धर्मी [रूप ज्ञान] के ज्ञान के बिना [उसमें प्रामाण्य या अप्रामाण्य रूप धर्म का] सन्देह नहीं हो सकता है । इसलिए प्रवृत्ति के पहिले [अनभ्यास दशा में] ही ज्ञातता [रूप कार्य] की अन्यथा [ज्ञान रूप कारण के बिना] अनुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होने पर उसमें रहने वाले प्रामाण्य का भी उसी अर्थापत्ति से ग्रहण हो जाता है । उसके बाद पुरुष प्रवृत्त होता है । न कि पहिले केवल ज्ञान गृहीत होता है और उसके बाद प्रवृत्ति के उत्तरकाल में फल को देखकर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है । [यह मीमांसक का पूर्वपक्ष हुआ] ।

इस [विषय] पर [उत्तर] कहते हैं । ज्ञातता की अन्यथानुपपत्ति से प्रसूत अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है यह जो कहा है उसको ही हम [नैयायिक] नहीं मान सकते हैं उस [अर्थापत्ति] के द्वारा प्रामाण्यग्रह तो दूर रहा । क्योंकि [इस विषय में पूर्वपक्षी] दूसरे [मीमांसक के पूर्वपक्ष] का अभिप्राय यह है कि घटादि विषयक ज्ञान के होने पर मैंने यह घड़ा जान लिया इस प्रकार घट की ज्ञातता प्रतीत होती है। उससे ज्ञान के होने पर [घट में ज्ञातता

न चैतद्युक्तम् । ज्ञानविषयतातिरिक्ताया ज्ञाततायाः अभावात् ।

ननु ज्ञानजनितज्ञाततााधारत्वमेव हि घटादेर्ज्ञानविषयत्वम् । तथा हि न तावत् तादात्म्येन विषयता, विषयविषयिणोर्घटज्ञानयोस्तादात्म्यानभ्युपगमात् । तदुत्पत्त्या तु विषयत्वे इन्द्रियादेरपि विषयत्वापत्तिः । इन्द्रियादेरपि तस्य ज्ञानस्योत्पत्तेः । तेनेदमनुमीयते । ज्ञानेन घटे किञ्चिज्जनितं येन घट एव तस्य ज्ञानस्य विषयो नान्यः । इत्यतो विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूतयाऽर्थापत्त्यैव ज्ञाततासिद्धिः, न तु प्रत्यक्षमात्रेण ।

नामक कोई धर्म उत्पन्न हुआ यह अनुमान होता है । और वह [धर्म] ज्ञान से पहिले न होने और ज्ञान के उत्पन्न होने के बाद उत्पन्न होने से अन्वय व्यतिरेक से ज्ञान से उत्पन्न होता है ऐसा निश्चय होता है । इस प्रकार ज्ञान से उत्पन्न यह ज्ञातता नामक धर्म ज्ञान के बिना उपपन्न नहीं होता है कारण के अभाव में कार्य का उदय न होने से । इसलिए ज्ञातता, अर्थापत्ति द्वारा अपने कारण ज्ञान का आक्षेप करती है [यह मीमांसक के पूर्वपक्ष का आशय हुआ ।]

[इसके उत्तर में नैयायिक का कहना है कि] ज्ञान विषयता के अतिरिक्त ज्ञातता [नामक पदार्थ] का अभाव होने से यह [कहना] ठीक नहीं है ।

[इस पर मीमांसक फिर ज्ञातता की सिद्धि 'विषयत्वान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' के आधार पर इस प्रकार करता है कि] ज्ञान से जन्य ज्ञातता का आधार होना ही घट आदि का ज्ञानविषयत्व है । क्योंकि विषय [घट] और विषयी [ज्ञान] का तादात्म्य अभिमत न होने से तादात्म्य से विषयता [नियन्त्रित] नहीं हो सकती । तदुत्पत्ति से [अर्थात् घटज्ञान घट से उत्पन्न होता है इसलिए] विषयत्व मानने पर तो इन्द्रिय आदि [आदि पद से आलोक] से भी उस ज्ञान के उत्पन्न होने से इन्द्रियादि का भी विषयत्व होने लगेगा । [अर्थात् इन्द्रिय और आलोक आदि भी घट ज्ञान का विषय कहलाने लगेंगे ।] इसलिए [तादात्म्य या तदुत्पत्ति अथवा अन्य किसी भी प्रकार से विषय नियम का उपपादन सम्भव न होने से] यह अनुमान होता है कि ज्ञान ने घट में कुछ [ज्ञातता रूप धर्म] उत्पन्न कर दिया है जिसके कारण घट ही उसका विषय होता है अन्य [पटादि] नहीं । इसलिए विषयत्व की अन्यथा [अर्थात् ज्ञातता के बिना] अनुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति [प्रमाण] द्वारा ज्ञातता की सिद्धि होती है । केवल प्रत्यक्ष मात्र से नहीं । [यह मीमांसक का ज्ञातता सिद्धि के विषय में पूर्वपक्ष हुआ । इसका खण्डन आगे करते हैं ।]

सैवम् । स्वभावादेव विषयविषयितोपपत्तेः । अर्थज्ञानयोरेतादृश एव स्वाभाविको विशेषो येनानयोर्विषयविषयिभावः । इतरथातीतानागतयोर्विषयत्वं न स्यात् । ज्ञानेन तत्र ज्ञातताजननासम्भवादसति धर्मिणि धर्मजननायोगात् ।

किञ्च, ज्ञाततायाा अपि स्वज्ञानविषयत्वात् तत्रापि ज्ञातत्तान्तरप्रसङ्गस्तथा चाऽनवस्था । अथ ज्ञातत्तान्तरमन्तरेणापि स्वभावादेव विषयत्वं ज्ञाततायाः । एवं चेत् तर्हि घटादावपि किं ज्ञाततयेति ।

विषयविषयि भाव के स्वभावतः होने से, यह [पूर्वपक्ष का] कहना ठीक नहीं है । अर्थ और ज्ञान का [कुछ] ऐसा स्वाभाविक विशेष [सम्बन्ध] है कि जिससे इन दोनों का विषयविषयिभाव होता है । अन्यथा [यदि ज्ञानजनित ज्ञातता का आधार होने से ही विषयविषयि भाव माना जाय तो] अतीत और अनागत [पदार्थों] का विषयत्व नहीं हो सकेगा । धर्मी [अतीतादि पदार्थ] के अविद्यमान होने पर उसमें [ज्ञातता रूप] धर्म की उत्पत्ति असम्भव होने से । ज्ञान से उस [अतीतादि पदार्थ] में ज्ञातता का उत्पादन, असम्भव होने से । [ज्ञातता के अभाव में अतीतादि पदार्थों का विषयत्व नहीं होगा ।]

और [दूसरा दोष यह भी होगा कि] ज्ञातता भी अपने ज्ञान का विषय होती है इसलिए उसमें दूसरी ज्ञातता माननी होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा । और यदि [इन अनवस्था दोष को बचाने के लिए ज्ञातता में] दूसरी ज्ञातता के माने बिना ही स्वभाव से ही ज्ञातता का विषयत्व [मीमांसक को अभिमत] हो तो ऐसा होने पर घटादि मे भी ज्ञातता [मानने] से क्या [लाभ । जैसे बिना दूसरी ज्ञातता के माने ही ज्ञातता अपने ज्ञान का विषय हो सकती है । इसी प्रकार घट आदि भी ज्ञातता के बिना स्वभाव से ही ज्ञान के विषय हो सकते हैं । फिर उनमें ही ज्ञातता मानने की क्या आवश्यकता है ।]

इस प्रकार विषय नियम को स्वाभाविक मान कर ज्ञातता की अनुपयोगिता प्रतिपादित की । न केवल ज्ञातता अनावश्यक ही है अपितु उसके मानने पर अतीत अनागत आदि का विषयत्व नहीं बन सकता है और अनवस्था दोष भी आता है इसलिए ज्ञातता का मानना असङ्गत है । इस प्रकार से नैयायिक ने ज्ञातता का खण्डन किया । अब आगे यह कहते हैं कि 'दुर्जन तोष' न्याय से यदि थोड़ी देर के लिए ज्ञातता को मान भी लिया जाय तो भी उससे स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि नहीं हो सकती । क्योंकि ज्ञातता मान लेने पर भी ज्ञान

अस्तु वा ज्ञातता तथापि तन्मात्रेण ज्ञानं गम्यते ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा प्रामाण्यमिति कुत एव ज्ञानग्राहकग्राह्यता प्रामाण्यस्य। अथ केनचिज्ज्ञातताविशेषेण प्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानप्रामाण्ये सहैव गृह्येते। एवं चेदप्रामाण्येऽपि शक्यमिदं वक्तुम्। केनचिज्ज्ञातताविशेषेण अप्रमाणज्ञानाव्यभिचारिणा ज्ञानाप्रामाण्ये सहैव गृह्येते इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एव गृह्यताम्।

ग्राहक और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री एक नहीं किन्तु अलग अलग ही माननी पड़ेगी। क्योंकि ज्ञान का ग्रहण तो प्रत्येक ज्ञातता से होता है फिर चाहे वह ज्ञातता यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न हुई हो अथवा अयथार्थ ज्ञान से। दोनों ही प्रकार के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञातता अपने कारण 'ज्ञान' का अर्थापत्ति से बोध करावेगी। परन्तु प्रामाण्य का ग्रहण दोनों प्रकार की ज्ञातता नहीं करा सकती है। प्रामाण्य का ग्रहण तो केवल वही ज्ञातता करा सकेगी जो यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न हुई हो। इस प्रकार ज्ञान ग्राहक सामग्री 'ज्ञातता मात्र' और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री केवल यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली 'ज्ञातता विशेष' है। इसलिए, ज्ञान ग्राहक और प्रामाण्य ग्राहक सामग्री में भेद हो जाने से ज्ञातता को मान लेने पर भी स्वतः प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता है। यही कहते हैं—

अथवा [दुर्जन तोष न्याय से] ज्ञातता मान भी लें तो भी 'ज्ञातता मात्र' [अर्थात् यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान सभी से उत्पन्न होने वाली सभी प्रकार की ज्ञातता] से ज्ञान का ग्रहण होता है और प्रमाण ज्ञान की अव्यभिचारिणी [यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न] किसी 'ज्ञातता विशेष' से प्रामाण्य गृहीत होता है इसलिए ज्ञानग्राहक सामग्री से प्रामाण्य की ग्राह्यता कहाँ रही।

और यदि प्रमाण ज्ञान की अव्यभिचारिणी [यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न हुई] किसी ज्ञातता विशेष से ज्ञान और प्रामाण्य का ग्रहण साथ ही होता है यह कहो तो, अप्रमाण ज्ञान की अव्यभिचारिणी किसी ज्ञातता विशेष [अयथार्थ अथवा भ्रम ज्ञान से उत्पन्न हुई ज्ञातता] से ज्ञान और अप्रामाण्य का ग्रहण भी साथ ही होता है इसलिए अप्रामाण्य भी स्वतः ही मानना चाहिए [परन्तु मीमांसक इस को नहीं मानते हैं। वह प्रामाण्य का स्वतः और अप्रामाण्य का परतः ग्रहण मानते हैं। नैयायिक का कहना यह है कि इस युक्ति से या तो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानना चाहिए या फिर दोनों को परतः ही मानना चाहिये। और दोनों का परतः मानना ही अधिक युक्तिसङ्गत है।]

अथैवमप्यप्रामाण्यं परतस्तर्हि प्रामाण्यमपि परत एव गृह्यताम्। ज्ञानग्राहकादन्यत इत्यर्थः। ज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षेणैव गृह्यते प्रामाण्यं पुनरनुमानेन। तथाहि जलज्ञानानन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिर्द्विधा, फलवती; अफला चेति। तत्र या फलवती प्रवृत्तिः सा समर्था तया तज्ज्ञानस्य याथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यमनुमीयते। प्रयोगश्च विवादाध्यासितं जलज्ञानं प्रमाणं, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्। यन्न प्रमाणं तन्न समर्थां प्रवृत्ति जनयति यथा प्रमाणाभास इति केवलव्यतिरेकी।

अत्र च फलवत्प्रवृत्तिजनकं यज्जलज्ञानं तत्पक्षः, तस्य प्रामाण्यं साध्यं याथार्थ्यमित्यर्थः। न तु प्रमाकरणत्वं, स्मृत्या व्यभिचारापत्तेः। हेतुस्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं फलवत्प्रवृत्तिजनकत्वमिति यावत्।

अनेन तु केवलव्यतिरेक्यनुमानेनाभ्यासदशापन्नस्य ज्ञानस्य प्रामाण्येऽवबोधिते तद्दृष्टान्तेन जलप्रवृत्तेः पूर्वमपि तज्जातीयत्वेन लिङ्गेनान्वय-

और यदि ऐसा होने पर भी [अप्रमाण ज्ञान की अव्यभिचारिणी किसी ज्ञातता विशेष से ज्ञान और अप्रामाण्य के एक साथ ही गृहीत होने पर भी] अप्रामाण्य परत' ही [मानना अभीष्ट] है तो प्रामाण्य का ग्रहण भी परतः मानना चाहिए। [परतः] अर्थात् ज्ञान ग्राहक [सामग्री] से भिन्न [सामग्री] से [न्याय सिद्धान्त]। ज्ञान का ग्रहण [अनुव्यवसाय रूप] मानस प्रत्यक्ष से होता है। और प्रामाण्य का ग्रहण [प्रवृत्ति साफल्य मूलक] अनुमान से। [इसे यों समझिए] जैसे कि जल ज्ञान के अनन्तर जलार्थी की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती [हो सकती] है [एक] फलवती और [दूसरी] अफला। उसमें जो फलवती [सफला] प्रवृत्ति है वह समर्था [प्रवृत्ति कहलाती] है। उससे उस ज्ञान का याथार्थ्य रूप प्रामाण्य अनुमित होता है। [उसके अनुमान वाक्य का] प्रयोग [इस प्रकार बनेगा]। विवाद ग्रस्त [अर्थात् सन्दिग्ध, प्रस्तुत] जल ज्ञान समर्थ [सफल] प्रवृत्ति का जनक होने से प्रमाण है। जो [ज्ञान] समर्थ [सफल] प्रवृत्ति को उत्पन्न नहीं करता है वह प्रमाण नहीं होता है जैसे प्रमाणाभास। यह केवल व्यतिरेकी [अनुमान] है।

यहां [इस व्यतिरेकी अनुमान में] सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाला जो जल ज्ञान है वह पक्ष है और उसका प्रामाण्य अर्थात् याथार्थ्य साध्य है। प्रमाकरणत्व नहीं [साध्य है]। स्मृति में व्यभिचारी होने से। [अर्थात् समर्थ प्रवृत्ति जनक या सफल प्रवृत्ति को उत्पन्न करने वाली स्मृति का भी याथार्थ्य रूप प्रामाण्य माना जाता है। प्रमाकरणत्व रूप प्रामाण्य स्मृति का नहीं होता है। इसलिये यहां प्रामाण्य का अर्थ याथार्थ्य करना चाहिए प्रमाकरणत्व नहीं] और

व्यतिरेक्यनुमानेनान्यस्य ज्ञानस्यानभ्यासदशापन्नस्य प्रामाण्यमनुमीयते। तस्मात् परत एव प्रामाण्यं न ज्ञानग्राहकेणैव गृह्यत इति।

[उस प्रामाण्य का साधक] हेतु समर्थ प्रवृत्तिजनकत्व अर्थात् सफल प्रवृत्ति जनकत्व है। इस केवल व्यतिरेकी अनुमान से 'अभ्यासदशापन्न' ज्ञान के प्रामाण्य के सिद्ध हो जाने पर उसको दृष्टान्त मानकर जल प्रवृत्ति के पूर्व भी 'तज्जातीयत्व' रूप लिङ्ग से अन्वय व्यतिरेकी अनुमान द्वारा 'अनभ्यासदशापन्न' ज्ञान का प्रामाण्य भी अनुमित होता है। इसलिये 'परतः प्रामाण्य' ही मानना चाहिए। अर्थात् ज्ञान ग्राहक [सामग्री] से [प्रामाण्य] गृहीत नहीं होता है।

यहां 'अभ्यासदशापन्न' और 'अनभ्यासदशापन्न' दो प्रकार के ज्ञानों का उल्लेख किया है। जहां जल ज्ञान के बाद उसकी प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति भी हो चुकी है उस ज्ञान को 'अभ्यासदशापन्न ज्ञान' कहते हैं। इस 'अभ्यास-दशापन्नज्ञान' में तो 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' यह हेतु ठीक बैठ जाता है। क्योंकि उससे समर्थ प्रवृत्ति उत्पन्न हो चुकी है। परन्तु जहाँ जल प्रवृत्ति के पूर्व ही ज्ञान में प्रामाण्य का ग्रहण हो जाता है वहां तो 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' यह हेतु नहीं बन सकता है क्योंकि उस ज्ञान से तो अभी 'समर्थ' अथवा 'असमर्थ' किसी प्रकार की भी प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुई है। तब उसको 'समर्थप्रवृत्ति-जनक' कैसे मान सकते हैं। इसलिए इस प्रकार के 'अनभ्यासदशापन्न ज्ञान' के स्थल में प्रामाण्य के अनुमान के लिए 'समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्' के स्थान पर 'समर्थप्रवृत्तिजनकज्ञानजातीयत्वात्' यह हेतु मानना चाहिए। 'अनभ्यासदशा-पन्न ज्ञान' से यद्यपि अभी प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुई है। परन्तु वह ज्ञान समर्थ-प्रवृत्तिजनक ज्ञान के समान ही अदुष्टकरणजन्य होने से तज्जातीय है। इसलिए उसके आधार पर अन्वय व्यतिरेकी अनुमान से 'अनभ्यासदशापन्न ज्ञान' के प्रामाण्य का भी निश्चय हो सकता है। इसलिये ज्ञान का ग्रहण सर्वत्र मानस व्यापार रूप 'अनुव्यवसाय' से और प्रामाण्य का ग्रहण 'प्रवृत्ति साफल्यमूलक अनुमान' से होता है इसलिए ज्ञान और प्रामाण्य का ग्रहण भिन्न भिन्न सामग्री से होने के कारण 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्व' रूप 'स्वतः प्रामाण्य' नहीं, अपितु 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्व' रूप 'परतः प्रामाण्य' ही मानना चाहिए। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय और न्याय का सिद्धान्त पक्ष है। 'इति' शब्द से इस 'प्रामाण्यनिरूपण' के प्रकरण की समाप्ति सूचित करते हुए प्रकरण का उपसंहार किया गया है।

हमने अपनी 'दर्शनमीमांसा' में 'प्रामाण्यवाद' के विषय का इस प्रकार संग्रह किया है,[1]

प्रामाण्यं किं स्वतो ज्ञाने परतो वा प्रमाणजे ।
स्वतो मीमांसकाः प्राहुः परतश्चेति तार्किकाः ॥ १ ॥
ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वं स्वतस्त्वमत्र सम्मतम् ।
परतस्त्व पुनर्भिन्नसामग्रिग्राह्यता तयोः ॥ २ ॥

मीमांसकाभिमतं स्वतःप्रामाण्यमुपपादयति—

जाते तावद् घटज्ञाने ज्ञातता जायते घटे ।
ज्ञातोऽसाविति ज्ञाता सा कारणं ज्ञानमाक्षिपेत् ॥ ३ ॥
एवं च ज्ञातताऽन्यथा-नुपपत्तिप्रसूतया ।
अर्थापत्त्याग्रहस्त्वाद्ये ज्ञानप्रामाण्ययोर्मतः ॥ ४ ॥

स्वतःप्रामाण्यस्याधारभूतां ज्ञाततामुपपादयति—

घट एव घटज्ञाने विषयो न पटः कुतः ।
आलोकादावतिव्याप्तेर्नोत्पत्तिस्तन्नियामिका ॥ ५ ॥
ज्ञातता ज्ञानजन्यैव विषयत्वे प्रयोजिका ।
अन्यथानुपपत्त्यास्य ज्ञातता च प्रसिद्ध्यति ॥ ६ ॥

अत्र तार्किकमतेन ज्ञाततां खण्डयति—

घटादौ ज्ञातताधर्मो नायं तार्किकसम्मतः ।
विषयत्वं घटादीनां स्वभावादेव तन्मते ॥ ७ ॥
अन्यथाऽनागतेऽतीते विषयत्वं न सम्भवि ।
धर्मिण्यविद्यमाने हि धर्मस्तत्र कथं भवेत् ॥ ८ ॥
ज्ञाततापि स्वज्ञानस्य विषयत्वं प्रपद्यते ।
ज्ञातताधारता तत्र मता किं वा न सम्मता ॥ ९ ॥
ज्ञातता ज्ञाततायां चेदपरापि प्रकल्प्यते ।
अविश्रान्तेः क्रमस्य स्यादनवस्था दुरुत्तरा ॥ १० ॥
अनवस्थाभयान्नो चेज् ज्ञातताऽन्तरकल्पना ।
ज्ञाततायाः कथन्नु स्याद्विषयत्वं तया बिना ॥ ११ ॥
विषयत्वं च तस्याश्चेज् ज्ञातताऽन्तरमन्तरा ।
घटादीनां कथन्न स्याद्विषयत्वं तदन्तरा ॥ १२ ॥
ज्ञातो घटः प्रतीतिश्चेज् ज्ञाततायाः प्रसाधिका ।
दृष्टः कृतः प्रतीत्या स्युर्दृष्टताकृततादयः ॥ १३ ॥

१ दर्शनमीमांसा ५ ।

चत्वार्येव प्रमाणानि युक्तिलेशोक्तिपूर्वकम् ।
केशवो बालबोधाय यथाशास्त्रमवर्णयत् ॥

इति प्रमाणपदार्थः समाप्तः

विषयत्वव्यवस्थातो स्वभावादेव मृष्यताम् ।
व्यर्थमेव तदर्थन्तु ज्ञाततायाः प्रकल्पनम् ॥ १४ ॥
ज्ञातताया अभावे च ज्ञानप्रामाण्ययोर्ग्रहः ।
नार्थापत्त्या, स्वतो नातो, भिन्नोपायैस्तयोर्ग्रहः ॥ १५ ॥

ज्ञाततासत्त्वेऽपि स्वतःप्रामाण्यानुपपत्तिं दर्शयति—

अथापि ज्ञाततासत्त्वे तुल्यसाधनसाध्यता ।
ज्ञानप्रामाण्ययोर्नैव कथञ्चिदुपपद्यते ॥ १६ ॥
ज्ञानन्तु ज्ञाततामात्रग्राह्यं सामान्यतः सदा ।
विशिष्टयैव प्रामाण्यं तत्त्वज्ञानोत्थया पुनः ॥ १७ ॥
भक्षितेऽप्यतो लशुने व्याधिशान्तिर्न दृश्यते ।
कथन्नु पण्डितम्मन्यैः कृतेयं मूढकल्पना ॥ १८ ॥
न ज्ञानं नापि प्रामाण्यमर्थापत्त्या तु गृह्यते ।
किन्तु भिन्नैव सामग्री मता न्याये तयोर्ग्रहे ॥ १९ ॥

नैयायिकाभिमतं परतः प्रामाण्यं सिद्धान्तयति—

अनुव्यवसायरूपं ज्ञानमात्मनि ज्ञानजम् ।
जानाम्यहं घटन्त्वेवं तेन ज्ञानग्रहो मतः ॥ २० ॥
तदुत्तरं प्रवृत्तेस्तु साफल्यादवधारितम् ।
प्रामाण्यमथ वैफल्यादप्रामाण्यं च निश्चितम् ॥ २१ ॥
तस्मान्न्यायस्य सिद्धान्ते स्वतस्त्वं नैव सम्मतम् ।
परत एव प्रामाण्यं तथा प्रामाण्यमेव च ॥ २२ ॥

[इस ग्रन्थ के लेखक] केशव [मित्र] ने [इस न्याय] शास्त्र के अनुसार थोड़ी सी संक्षिप्त [युक्त्यन्वित] युक्तियाँ देते हुए [प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द यह] चार ही प्रमाण हैं यह बात बालकों के बोध के लिए वर्णित की है ।

यह प्रमाण पदार्थ [का निरूपण] समाप्त हुआ ।

प्रमेयनिरूपणम्

प्रमाणान्युक्तानि, अथ प्रमेयाण्युच्यन्ते।

'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्'[1] इति सूत्रम्।

तत्रात्मत्वसामान्यवानात्मा। स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः, प्रतिशरीरं भिन्नो नित्यो विभुश्च। स च मानसप्रत्यक्षः। विप्रतिपत्तौ तु बुद्ध्यादिगुणलिङ्गकः। तथा हि बुद्ध्यादयस्तावद् गुणाः अनित्यत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्। गुणश्च गुण्याश्रित एव।

प्रमेय निरूपण

'प्रमाणों' का वर्णन कर चुके। अब 'प्रमेयों' का वर्णन करते हैं।

१ आत्मा, २ शरीर, ३ इन्द्रिय, ४ अर्थ, ५ बुद्धि, ६ मन, ७ प्रवृत्ति, ८ दोष, ९ प्रेत्यभाव, १० फल, ११ दुःख, और १२ अपवर्ग [यह बारह] तो 'प्रमेय' हैं।

यह [न्याय दर्शन के प्रथमाध्याय के प्रथम आह्निक का नवाँ] सूत्र है। [इस सूत्र में न्याय के अभिमत बारह प्रमेयों का 'उद्देश' अर्थात् नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तन किया गया है। उनके लक्षण और परीक्षा आगे करेंगे]

उनमें से 'आत्मत्व' सामान्य [जाति] जिसमें रहता है वह आत्मा [कहलाता] है। वह देह, इन्द्रिय आदि से पृथक् है। प्रत्येक शरीर में अलग-अलग, नित्य, और विभु [व्यापक] है। और वह मानस प्रत्यक्ष [का विषय] है। [अपना आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है। दूसरे में आत्मा है या नहीं इस प्रकार का] मतभेद [अथवा सन्देह] होने पर बुद्धि आदि गुण-लिङ्गक [होता] है। [अर्थात् बुद्धि आदि गुण रूप लिङ्ग से अनुमान द्वारा सिद्ध होनेवाला है]। उससे वह [बुद्धि आदि गुणों द्वारा आत्मा की सिद्धि] इस प्रकार [होती] है। सबसे पहिले बुद्धि आदि [आदि पद से आत्मा में रहने वाले सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि अन्य सब गुणों का ग्रहण कर लेना चाहिए] अनित्य होते हुए केवल एक इन्द्रिय से ही ग्राह्य होने से 'गुण' हैं। और 'गुण' 'गुणी', के आश्रित ही रहता है। [इसलिए बुद्धि आदि 'गुण' जिस 'गुणी' के आश्रित रहते हैं वह आत्मा है इस बात को आगे 'परिशेष' अनुमान से सिद्ध करेंगे।]

यहाँ बुद्धि आदि को गुण सिद्ध करने के लिए 'अनित्यत्वे सति एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' यह हेतु दिया गया है। इसमें इतना लम्बा हेतु का स्वरूप न रख कर केवल ग्राह्यत्वात् इतना ही हेतु रखा जाता तो अनुमान प्रमाण से

---

[1] न्यायदर्शन १, १, ९।

ग्राह्य परमाणु रूप द्रव्य में भी गुण का लक्षण चला जाता उसके वारण के लिए 'ग्राह्यत्वात्' के साथ इन्द्रिय को जोड़ कर 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्' कहा। ऐसा कहने से परमाणु में अतिव्याप्ति नहीं होती है। क्योंकि वह इन्द्रियग्राह्य नहीं अपितु अनुमानग्राह्य है। परन्तु यदि 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्' इतना ही हेतु गुणत्व की सिद्धि के लिए दिया जाय तो घट आदि में यह हेतु चला जायगा घटादि भी इन्द्रिय ग्राह्य हैं। इसलिए उस अतिव्याप्ति के वारण के लिए इन्द्रिय के साथ 'एक' और 'मात्र' पद को जोड़कर 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' कहा है। घटादि द्रव्य चक्षु से भी गृहीत होते हैं और चक्षु के बिना टटोल कर स्पर्श के द्वारा त्वगिन्द्रिय से भी गृहीत हो सकते हैं। इसलिए वह 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्य' नहीं अपितु दो इन्द्रियों से ग्राह्य होने से 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्व' हेतु उनमें नहीं जा सकेगा। अब यदि केवल 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' को ही गुणत्व का साधन हेतु माना जाय तो 'सुखत्व' आदि जाति में उसकी अतिव्याप्ति हो जावेगी। जिस इन्द्रिय से जो द्रव्य गृहीत होता है उसी इन्द्रिय से तद्गत जाति का भी ग्रहण होता है इसलिए जैसे सुख-दुःख आदि का ग्रहण मन रूप एक इन्द्रिय से होता है उसी प्रकार उनमें रहने वाली सुखत्वादि जाति का ग्रहण भी मन रूप एक इन्द्रिय से ही होता है इसलिए 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' मनरूप केवल एक ही इन्द्रिय से ग्राह्य होने से सुखत्वादि जाति भी गुण कहलाने लगेगी। इस अतिव्याप्ति को वारण करने के लिए 'अनित्यत्वे सति' यह विशेषण जोड़ा गया है। सुखत्वादि जाति 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्य' होने पर भी अनित्य नहीं अपितु नित्य है। इसलिए यह हेतु अब उनमें नहीं जा सकता है। इस प्रकार 'अनित्यत्वे सति एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' इस हेतु से बुद्धि आदि गुण हैं यह बात सिद्ध होती है। और गुण, गुणी के आश्रित ही रहता है। इसलिए बुद्धि आदि गुणों का आश्रय कोई गुणी अवश्य होना चाहिए। परन्तु आत्मा को छोड़कर अन्य जो आठ द्रव्य रह जाते हैं वह बुद्धि आदि 'गुणों के आश्रयभूत 'गुणी' नहीं हो सकते हैं। इसलिए उन आठ द्रव्यों से अतिरिक्त बुद्धि आदि गुणों का आश्रय नवम द्रव्य मानना होगा। वही 'आत्मा' है इसी बात को 'परिशेष' अनुमान से आगे सिद्ध करते हैं।

आत्मा को छोड़ कर शेष जो आठ द्रव्य रह जाते हैं उनमें से १—पृथिवी, २ अप्, ३ तेज, ४ वायु और ५ आकाश यह पांच द्रव्य 'पञ्चभूत' कहलाते हैं। इन पांचों भूतों के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द आदि गुणों का प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों से होता है, मन से नहीं। और बुद्धि आदि का प्रत्यक्ष मन से होता है बाह्येन्द्रियों से नहीं। इस भेद के कारण बुद्धि आदि इन

तत्र बुद्ध्यादयो न गुणा भूतानां मानसप्रत्यक्षत्वात् । ये हि भूतानां गुणास्ते न मनसा गृह्यन्ते यथा रूपादयः । नापि दिक्कालमनसां गुणा, विशेषगुणत्वात् । ये हि दिक्कालादिगुणाः संख्यादयो न ते विशेषगुणास्ते हि सर्वद्रव्यसाधारणगुणा एव । बुद्ध्यादयस्तु विशेषगुणा, गुणत्वे सत्येकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वाद्, रूपवत् अतो न दिगादिगुणाः ।

पाँच भूतों के गुण नहीं हो सकते हैं । और 'विशेष गुण' होने से बुद्ध्यादि गुण १ दिक्, २ काल, ३ मन इन तीनों के भी गुण नहीं हो सकते हैं । क्योंकि दिक् , काल, और मन इन तीनों में 'सामान्य गुण' रहते हैं 'विशेष गुण' नहीं । और बुद्धि आदि 'विशेष गुण' हैं इसलिए वह दिक् , काल, और मन के भी गुण नहीं हो सकते हैं । यही बात कहते हैं ।

उसमें बुद्धि आदि [गुण] मानस प्रत्यक्ष [के विषय] होने से [पृथिवी आदि पांच] भूतों के गुण नहीं हैं । जो [रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, और शब्द यह पाँच] भूतों के गुण हैं वह मन से गृहीत नहीं होते हैं जैसे रूपादि [गुण से मन से प्रत्यक्ष नहीं होते हैं । इसलिए बुद्धि आदि गुण आठ द्रव्यों में से पाँच भूतों के गुण नहीं हो सकते हैं ।] और न दिक् , काल, तथा मन [इन तीनों] के [गुण हो सकते हैं] 'विशेष गुण' होने से । जो संख्या आदि दिक् , काल, आदि के गुण होते हैं वह 'विशेष गुण' नहीं [किन्तु] सर्वद्रव्य [में रहने वाले] 'साधारण गुण' ही हैं । और बुद्धि आदि तो 'विशेष गुण' हैं [इसलिए वह दिक् , काल, और मन इन तीनों के भी गुण नहीं हो सकते हैं । बुद्धि आदि को 'विशेष' गुण सिद्ध करने के लिए हेतु देते हैं] रूप के समान केवल एक इन्द्रिय मात्र से ही ग्राह्य गुण होने से ।

यहां 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात्' इस हेतु के साथ 'गुणत्वे सति' यह विशेषण जोड़ कर विशिष्ट को हेतु बनाया है । इस विशेषण रूप 'गुणत्वे सति' को जोड़ने का अभिप्राय यह है कि 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्व' तो रूपत्व आदि जाति में भी रहता है । यदि केवल इतना ही हेतु रखा जाय तो 'रूपत्व' आदि जाति भी विशेष गुण कहलाने लगेगी । अतः उसके वारण के लिए 'गुणत्वे सति' विशेषण रखा गया है । रूपत्वादि जाति 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्य' होने पर भी 'गुण' नहीं है अतएव उसमें 'गुणत्वे सति' यह विशेषण अंश न होने से वह 'विशेष गुण' नहीं हो सकती है । किसी किसी संस्करण में 'गुणत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' यह पाठ है । अर्थात् 'मात्र' पद नहीं रखा गया है । उस दशा में 'गुणत्वे सति एकेन्द्रियग्राह्यत्वात्' यह विशिष्ट हेतु भी संख्या आदि

तस्मादेभ्योऽष्टभ्यो व्यतिरिक्तो बुद्ध्यादीनां गुणानामाश्रयो वक्तव्यः स एवात्मा।

प्रयोगश्च, बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः, पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यस्तु पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितो न भवति, नासौ पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणोऽपि भवति यथा रूपादिरिति केवलव्यतिरेकी। अन्वयव्यतिरेकी वा। तथाहि, बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रिताः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यो यदनाश्रितो गुणः स तदतिरिक्ताश्रितो भवति। यथा पृथिव्याद्यनाश्रितः शब्दः पृथिव्याद्यति-

---

'सामान्य गुण में' 'अतिव्याप्त' हो जायगा। क्योंकि संख्या गुण भी है और 'एकेन्द्रिय ग्राह्य' भी है। 'मात्र' पद जोड़ देने से वह दोष नहीं रहता है। क्योंकि संख्या 'एकेन्द्रियग्राह्य' होनेपर भी 'एकेन्द्रियमात्रग्राह्य' नहीं है। क्योंकि उसका ग्रहण चक्षु तथा त्वचा दोनों से हो सकता है। इसलिए वह पाठ ठीक नहीं है। अथवा उस पाठ की व्याख्या मात्रपद का सन्निवेश करके ही करना होगा।

इसलिये इन [पृथ्वी आदि पञ्चभूत तथा दिक्, काल और मन] आठ [द्रव्यों] से अतिरिक्त [किसी नवम द्रव्य को] बुद्धि आदि गुणों का आश्रय कहना चाहिए। वही [नवम द्रव्य] आत्मा है।

[इस का साधक] प्रयोग [अनुमान वाक्य] इस प्रकार है। १-बुद्धि आदि पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित हैं [यह प्रतिज्ञा हुई] २-पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में अनाश्रित होकर [गुण] होने से [यह हेतु हुआ]। ३-जो पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित नहीं होता वह पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से व्यतिरिक्त द्रव्य में अनाश्रित गुण भी नहीं होता [अपितु पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में आश्रित गुण ही होता है यह व्यतिरेक व्याप्ति हुई] जैसे रूपादि [यह उदाहरण हुआ इस प्रकार] यह केवल व्यतिरेकी [अनुमान वाक्य] है।

अथवा अन्वय-व्यतिरेकी [अनुमान वाक्य इस प्रकार हो सकता है] जैसे, बुद्धि १ पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्यों में आश्रित हैं, [यह प्रतिज्ञा हुई] २ पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में अनाश्रित होकर गुण होने से [यह हेतु हुआ] जो जिस [द्रव्य] में अनाश्रित गुण होता है वह उससे भिन्न [द्रव्य] में आश्रित [गुण] होता है जैसे पृथिवी आदि [आठ द्रव्यों] से अतिरिक्त [नवम द्रव्य] आकाश में आश्रित है। [यह उदाहरण हुआ। इस प्रकार यह 'अन्वय व्याप्ति' का उदाहरण बन जाता है। और व्यतिरेक

रिक्ताकाशाश्रय इति ! तथा च बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रयाः।

तदेवं पृथिव्याद्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तो नवमं द्रव्यमात्मा सिद्धः। स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः, परममहत्परिमाणवानित्यर्थः। विभुत्वाच्च नित्योऽसौ व्योमवत्। सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः।

व्याप्तिका उदाहरण पहिले दिखा चुके हैं। इसलिए आत्माका साधक यह 'अन्वय व्यतिरेकी' अनुमान वाक्य भी बन सकता है।] इसलिए बुद्धि आदि [गुण] पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य में आश्रित [गुण] हैं।

इस प्रकार पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से अतिरिक्त [बुद्धि आदि गुणों का आश्रयभूत] नवम द्रव्य 'आत्मा' सिद्ध हो गया। और वह सर्वत्र कार्य [अदृष्टा-नुरूप फल] की उपलब्धि होने से 'विभु' अर्थात् 'परममहत् परिमाण' वाला है। और 'विभु' होने से वह आकाश के समान नित्य [भी] है। और [प्रत्येक व्यक्ति के] सुख आदि के भिन्न होने से प्रत्येक शरीर में [आत्मा भी] अलग अलग है।

विभुत्ववादी पक्ष—

यहाँ 'स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः, परममहत्परिमाणवानित्यर्थः' यह पंक्ति विशेष रूप से समझने योग्य है। यहाँ जिस आत्मा का वर्णन किया जा रहा है उसके विषय में ही आगे 'सुखादीनां वैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः' यह भी लिखा है इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह 'शरीरस्थ आत्मा' अर्थात् 'जीवात्मा' का ही वर्णन है। और उसको विभु अर्थात् व्यापक या 'परममहत्परिमाणवान्' माना है। 'जीवात्मा' के इस विभुत्व को सिद्ध करने के लिए सर्वत्र 'कार्योपलम्भ' को हेतु रूप में प्रस्तुत किया है। 'सर्वत्र कार्योप-लम्भात्' का अभिप्राय यह है कि न्याय सिद्धान्त में जिस वस्तु से जिस व्यक्ति को किसी प्रकार का भोग प्राप्त होता है उस वस्तु की उत्पत्ति में वस्तु की उत्पादक अन्य कारण सामग्री के अतिरिक्त उस व्यक्ति का 'अदृष्ट' या धर्म और अधर्म भी एक कारण होता है। अतएव किसी घट के निर्माण में चक्र, चीवर, कुलाल, कपाल, आदि अन्य कारण सामग्री के साथ उससे भोग होने वाले व्यक्ति का 'अदृष्ट' भी उसमें कारण होता है। एक ही कुम्भकार के बनाए और एक ही 'अवा' में पकाए गए घड़ों में भी परस्पर भेद देखा जाता है। कोई अधिक पका कोई कम पका होता है। यह जो कार्य में भेद मिलता है इसका कारण भोक्ताओं का 'अदृष्ट' भेद ही है। एक ही उद्यान में खड़े, एक ही पानी से सींचे गए, वृक्षों के फलों में भेद होता है। वहाँ भी भोक्ताओं का 'अदृष्ट'

उस भेद का कारण है। इस प्रकार एक व्यक्ति के जीवन में जिस जिस वस्तु से भोग प्राप्त होता है वह किन किन स्थानों में विभक्त है इसका परिगणन सम्भव नहीं है। जहाँ भी वह पुरुष पहुँच जाय वहीं उसको भोग प्राप्त होगा। इसलिए उसके भोग की सामग्री सर्वत्र है यही मानना चाहिए। उस स्थान विशेष पर उस वस्तु की उत्पत्ति में यदि उस व्यक्ति का 'अदृष्ट' कारण है तो यह मानना चाहिए कि सर्वत्र उस 'अदृष्ट' का सम्बन्ध है। यह तभी हो सकता है जब कि उस 'अदृष्ट'के अधिकरण 'आत्मा' की सत्ता सर्वत्र मानी जाय। इसीलिए आत्मा की सर्वत्र सत्ता मानने के लिए उसको 'विभु' या परममहत्परिमाण वाला मानना आवश्यक है। यही 'सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः' इस पंक्ति का आशय है।

मध्यमपरिमाणवादी पक्ष—

न्याय आदि अनेक दर्शनों में जीवात्मा को 'विभु' माना गया है और इस 'सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः' को ही उसके 'विभुत्व' का उपपादक हेतु माना गया है। परन्तु इसके अतिरिक्त आत्मा को 'मध्यमपरिमाण' और 'अणुपरिमाण' मानने वाले पक्ष भी पाये जाते हैं। जैन विद्वान् आत्मा को 'मध्यम परिमाण' अथवा 'देहपरिमाण' मानते हैं।

परन्तु 'मध्यम परिमाण' मानने में सबसे प्रमुख दोष यह है कि 'मध्यम परिमाण' वाले सभी पदार्थ अनित्य होते हैं। 'मध्यम परिमाण' जन्य या अनित्य पदार्थों में ही रहता है। नित्य पदार्थ या तो 'अणु परिमाण' वाले होते हैं अथवा 'विभु' अर्थात् 'परममहत्परिमाण' वाले। 'जीवात्मा' के फल भोग आदि की व्यवस्था उसको नित्य मानने पर ही बन सकती है। इसलिए उसको नित्य मानना आवश्यक है। और नित्य होने की दशा में दो ही मार्ग हैं या तो उसे 'अणु परिमाण' माना जाय अथवा 'विभु'। 'मध्यम परिमाण' नहीं माना जा सकता है। इसलिए 'जीवात्मा' को 'मध्यम परिमाण' अथवा 'देह परिमाण' वाला मानना उचित नहीं है।

न्याय के अतिरिक्त सांख्य आदि अन्य दर्शनों में भी जीवात्मा को विभु माना गया है। विभु मानने का आधार ऊपर दिखाया जा चुका है। 'स च सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः'। सर्वत्र 'अदृष्टानुरूप फलभोग रूप' 'कार्य' की उपलब्धि होने से जीवात्मा विभु है। इसके अतिरिक्त अणु पक्ष में एक देश-स्थित आत्मा से सकल देह व्यापिनी चेष्टा आदि का नियंत्रण नहीं हो सकता है। इसलिए जीवात्मा को विभु मानना चाहिए यह विभुवादियों का अभिप्राय है।

जीवात्मा के 'विभुत्ववाद' की आलोचना—

परन्तु यह 'विभुत्व पक्ष' भी नितान्त निर्दोष पक्ष नहीं कहा जा सकता है देहादि के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होना ही जन्म और देहादि से उसका वियोग होना ही मृत्यु है। जन्म के समय जीवात्मा का शरीर में आना और मृत्यु के समय जीवात्मा का शरीर को छोड़ जाना यह दोनों बातें उसको 'विभु' मानने में नहीं बन सकती हैं। विभु पदार्थ तो सर्वत्र व्यापक है। उसका आना जाना नहीं बन सकता है। फिर जीवात्मा को भोग तो शरीर देश में ही होता है। बिना शरीर के अथवा शरीर से बाहर तो किसी प्रकार का भोग नहीं होता। तब शरीर से बाहर उसको 'विभु' मानने से क्या लाभ। 'सर्वत्र कार्योपलम्भाद् विभुः' कह कर जो उसके 'विभुत्व' का उपपादन किया है सो सुख-दुःख रूप कार्य की सर्वत्र उपलब्धि तो देह के वहां पहुंचने पर ही होती है देह के पहुँचे बिना नहीं होती। उस दशा में वहां अन्य समय में भी जीवात्मा रहता है ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता है।

और प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति में भोक्ता के अदृष्ट को कारण मान कर उस पदार्थ की उत्पत्ति काल में भोक्ता के अदृष्ट का सम्बन्ध हो सके केवल इस दृष्टि से जीवात्मा को विभु कहा जा सकता है। उसमें भी आपत्ति यह है कि एक वस्तु से अनेकों व्यक्तियों को भोग होता है उन सबका अदृष्ट उस वस्तु के निर्माण में कारण होगा तो इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के अनन्त कारण मानने होंगे और उससे बड़ा गौरव होगा। इसके अतिरिक्त यह सभी जीवात्मा एक समान आकार वाले समान परिमाण वाले हैं। उन सबकी एकत्र स्थिति कैसे हो सकेगी। व्याप्य-व्यापक भाव से तो दो पदार्थ एक जगह रह सकते हैं। परन्तु व्याप्य-व्यापक भाव के लिए उनमें स्थूल सूक्ष्म का तारतम्य होना चाहिए जीवात्माओं में परस्पर वैसा तारतम्य नहीं है। इसलिये समानाकार अनेक जीवात्माओं की एकत्र स्थिति का उपपादन भी नहीं हो सकता है। यदि आत्मा को विभु मानेंगे तो उसके साथ अनेकात्मवाद के स्थान पर 'एकात्मवाद' का मानना अधिक सुसङ्गत होगा। जो कि नैयायिकों को अभीष्ट नहीं है। ऐसी दशा में विभुत्व पक्ष भी सुसङ्गत प्रतीत नहीं होता।

जीवात्मा का अणुत्ववादी पक्ष—

उस दशा में जीवात्मा के परिमाण के विषय में तीसरा अणुत्व पक्ष शेष रह जाता है। इस अणुत्व पक्ष में मुख्य दोष यह दिया जाता है कि शरीर के एक देश में जीवात्मा के स्थित होने पर सारे शरीर की क्रियाओं का नियंत्रण

और शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों में होने वाली वेदनाओं का अनुभव जीवात्मा को कैसे हो सकेगा। इसका समाधान अधिक कठिन नहीं है! शरीर की रचना में तारयंत्र के समान इस प्रकार की व्यवस्था की हुई है कि किसी भी स्थान पर हुई क्रिया की सूचना तुरन्त केन्द्रस्थान में पहुँच जाती है और उसकी प्रतिक्रिया उचित स्थान पर हो जाती है। इसके लिए शरीर में ज्ञानवाही और क्रियावाही तन्तु माने गए हैं। उनके द्वारा आत्मा को एक देशस्थ मानने पर भी देहव्यापिनी क्रियाओं के नियंत्रण में कोई बाधा नहीं होती। इसलिए जीवात्मा को अणु परिमाण मानने में कोई बाधक हेतु प्रतीत नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त जीवात्मा को अणु मानने में जन्म के समय उसके शरीर के साथ संयोग तथा मृत्यु के समय शरीर से वियोग का उपपादन भी हो सकता है। जो विभुत्व पक्ष में नहीं बन सकता है। अतएव 'अणुत्व' पक्ष अधिक युक्तिसङ्गत है। उपनिषदों में जीवात्मा के अणुत्व के प्रतिपादक अनेक वचन भी मिलते हैं। उनमें कुछ वाक्य यहां दे रहे हैं—

'एषो[1] अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'।

'अन्तः[2]शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रोऽयं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः'।

'[3]अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः'।

'तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतमिति'॥

इन वाक्यों में 'अंगुष्ठमात्रः' शब्द जीवात्मा के अणुत्व का ही सूचक है। 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्' आदि वचनों में अन्यत्र भी आत्मा को 'अंगुष्ठमात्र' कहा गया है। परन्तु यहां अंगुष्ठमात्र पद सूक्ष्मशरीर सहित आत्मा का ग्राहक है अथवा लक्षणया अणुत्व का बोधक है यही मानना होगा। अन्यथा अंगुष्ठमात्रत्व के 'मध्यम' परिमाण में आ जाने से वह 'अंगुष्ठमात्र' भी अनित्य हो जायगा। कठोपनिषद् के उपर्युक्त बचन में शरीर से उसके निष्क्रमण का वर्णन बड़े सुन्दर दृष्टान्त से किया गया है 'मुञ्जादिवेषीकां' जैसे सरकण्डे की मूंज के भीतर से सींक निकल आती है और मूंज ज्यों की त्यों बनी रहती है। इसी प्रकार 'धैर्येण' धीरे से आत्मा को निकाल लिया जाता है। यह जो जीवात्मा का देह में प्रवेश और देह से निर्गम है वह अणुत्व पक्ष के अतिरिक्त अन्य पक्षों में नहीं बनता है। इसलिए जीवात्मा को अणु ही मानना युक्तिसङ्गत है।

आत्मा का स्थान—

अणु होने की अवस्था में शरीर में आत्मा का स्थान कौन सा माना जाय

१ मुण्डक ३, ९। २ मुण्डक ३, ५। ३ कठ० २, १७।

यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका उत्तर उपर्युक्त कठोपनिषद् के वाक्य में ही मिल जाता है। 'सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' कह कर कठोपनिषद् ने हृदय को ही उसका स्थान माना है। भारतीय विचार धारा के अनुसार हृदय ही आत्मा का स्थान है। इसीलिए हृदय शब्द की 'हृदि अयम् हृदयम्' यही निरुक्ति की गई है। 'तस्य एतदेव निरुक्तं हृदि अयं हृदयमिति'। यूनानी दार्शनिकों में 'अरस्तू' [३८४ से ३२२ ई० पूर्व] हृदय को ही ज्ञान और आत्मा का केन्द्र मानता था। सत्रहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक 'डेकार्टे' [१५९६ से १६५०] ने हृदय के स्थान पर मस्तिष्क की नलिका में स्थित 'पीनियल' नामक ग्रन्थि को ज्ञान अथवा आत्मा का केन्द्र माना है।

हमने अपने 'दर्शनमीमांसा' ग्रन्थ में इस सब विषय को इस प्रकार लिखा है—
जीवात्मानं निरूपयति—

तत्रात्मा चेतनो नित्यो, ज्ञानादीनां समाश्रयः।
समाहितैकधीगम्यो, स्वगुणानुमितोऽथवा ॥ १ ॥
न्यायसूत्रेषु प्राधान्याज्जीवात्मैव निरूपितः।
परं शास्त्रेषु जीवात्मा, परमात्मा चेति स द्विधा ॥ २ ॥

मध्यमपरिमाणवादं निराकरोति—

विभुर्न्यायादिसिद्धान्ते, जीवोऽणुर्वैदिके नये।
देहमात्रपरिच्छिन्नो मध्यमो जिनसम्मतः ॥ ३ ॥
जीव एव शरीरस्थश्चेष्टते सर्वदेहगः।
शरीरव्यापिनीः सर्वाः स च गृह्णाति वेदनाः ॥ ४ ॥
देहाकारस्ततो जीवो जिनशास्त्रेषु सम्मतः।
अनित्यत्वप्रसङ्गात्तु मतमेतन्न सङ्गतम् ॥ ५ ॥
अनित्यास्तु मताः सर्वे मध्याकारा घटादयः।
अनित्यो मध्यमो जीवो, नित्योऽणुर्विभुरेव वा ॥ ६ ॥

विभुत्ववादमालोचयति—

अणुर्नानुभवेत् सर्वं, सर्वदेहं न चालयेत्।
तस्मान्न्यायादिसिद्धान्ते सम्मतो विभुरेव सः ॥ ७ ॥
परं विभुत्व-पक्षोऽयं बहुदोषसमाकुलः।
न सामान्येन सौकर्यात् स्वीकर्तुं तत्तु शक्यते ॥ ८ ॥

---

१ दर्शन मीमांसा ५।

¹विभुर्यदि भवेज्जीवो बहिर्देहाद् विनिःसृतः ।
सर्वस्त्वनुभवो देहे बहिष्ट्वे किं प्रयोजनम् ॥ ९ ॥
विभोश्च सर्वव्यापित्वाच्च गतागतिसम्भवः ।
जीवस्यातो विभुत्वे हि, न स्यादस्य गतागतिः ॥ १० ॥
जन्म देहादिभिर्योगो वियोगो मृत्युरेव च ।
विभोर्जन्म च मृत्युश्च गत्यभावान्न सम्भवेत् ॥ ११ ॥
विभोर्देहादिभिर्योगो जीवस्य सुस्थिरः सदा ।
जन्ममृत्युव्यवस्थायै कल्प्यं हेत्वन्तरं भवेत् ॥ १२ ॥
विभुत्वे तुल्यरूपत्वं बहुत्वं चापि सम्मतम् ।
बहूनां तुल्यरूपाणां कथमेकत्र संस्थितिः ॥ १३ ॥

अणुत्वपक्षं सिद्धान्तयति—

तस्मादणुर्मतो जीवो नित्योऽनेकः समः सदा ।
एकदेशस्थितो देहे सर्वं वेत्तुं च स क्षमः ॥ १४ ॥
यांत्रिकी रचना देहे तादृशी प्रभुणा कृता ।
स क्षमः सर्वविज्ञाने हृद्देशेऽपि स्थितो यथा ॥ १५ ॥
हृद्देशे सुस्थितो जीव ईशश्चात्र प्रतिष्ठितः ।
तस्मादत्रैव संप्रोक्तः साक्षात्कारोऽनयोः सदा ॥ १६ ॥

ईश्वर की चर्चा—

आत्मा के साथ 'ईश्वर' का विवेचन दर्शनों का मुख्य विषय होना चाहिए था। परन्तु प्रायः प्रमाणों के विवेचन के प्रपञ्च में फँस कर दर्शनों ने मुख्य प्रमेय परमात्मा के निरूपण में बहुत उदासीनता से काम लिया है। यहाँ भी तर्कभाषाकार ने ईश्वर के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो प्रमाणों के विषय में इतना विस्तार न करके यदि सबसे मुख्य प्रमेय ईश्वर के विवेचन में अधिक से अधिक भाग का उपयोग होता तो वह अधिक उपयुक्त होता। परन्तु जान पड़ता है कि इन ग्रन्थकारों ने 'साधन'भूत प्रमाणों को ही सब कुछ समझ कर उनको ही 'साध्य' जैसी प्रधानता दे दी है। और मुख्य प्रमेय ईश्वर की नितान्त उपेक्षा कर दी है। यह दर्शनशास्त्र के गौरव को कम करनेवाली स्थिति है। तर्कभाषा की इस कमी को पूरा करने के लिए हम अपने लिखे 'न्यायकुसुमाञ्जलिपरिशिष्ट' में से कुछ कारिकाएं जिन में ईश्वर-विषयक चर्चा की गई है यहां उद्धृत कर रहे हैं।

१ दर्शनमीमांसा ५ ।

प्रमाणविषयीभूतं, यावज्ज्ञानस्य गोचरम् ।
प्रमेयं तद्धि विज्ञेयं, संविभक्तं द्विधा स्थितम् ॥ १ ॥
दृश्यं तत्र प्रकृत्याख्यं, जगदेतज्जडात्मकम् ।
चेतनं सर्वमात्माख्यं, द्विधा जीवेशरूपतः ॥ २ ॥
तदेतत् त्रितयं नित्यं, मिथो भिन्नं स्वरूपतः ।
तत्वं 'सौपर्णदृष्टान्ते' वेदे विस्पष्टमीरितम् ॥ ३ ॥

'ऋग्वेद' में एक मंत्र आया है जो इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि मित्र रूप और साथ रहने वाले दो पक्षी एक समान वृक्ष पर बैठे हुए हैं उनमें से एक उस वृक्ष के स्वादु फलों का भक्षण करता है और दूसरा न खाता हुआ शोभित हो रहा है। इस मन्त्र में अलङ्कार रूप से 'प्रकृति' रूप 'वृक्ष' के ऊपर बैठे हुए 'जीव' तथा 'ईश्वर' रूप दो 'पक्षियों' का वर्णन है। जिनमें से एक अर्थात् 'जीवात्मा' उस 'प्रकृति' रूप वृक्ष के फलों को भोगता है और दूसरा उस का भोग नहीं करता है। यह प्रतिपादन किया गया है। इसी 'द्वा सुपर्णा' वाले दृष्टान्त को ऊपर की कारिका में 'सौपर्ण दृष्टान्त' कहा है। इस मन्त्र से 'सौपर्ण दृष्टान्त' के द्वारा ईश्वर, जीव तथा प्रकृति इन तीनों तत्वों की नित्य सत्ता सिद्ध होती है। न्यायशास्त्र भी इन तीनों की नित्य सत्ता मानता है। ईश्वर नित्य है और वह जगत् का निमित्त कारण है। प्रकृति भी नित्य है और वह जगत् का उपादान कारण है। जीवात्मा भी नित्य है उसी के भोगापवर्ग सम्पादन के लिए ईश्वर, प्रकृति रूप उपादान कारण से घटादि के समान सृष्टि का निर्माण करता है। 'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' इत्यादि रूप में ईश्वर सिद्धि के लिए जिन अनुमानों का प्रयोग नैयायिक आदि करते हैं उनका यही अभिप्राय है।

परमात्मानं निरूपयति—

परमात्मा जगत्स्रष्टा, सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ।
सच्चिदानन्दरूपश्च, ह्येको नित्यो विभुस्तथा ॥ ४ ॥
निमित्तमात्रं सर्गेऽसौ, जीवाच्च प्रकृतेः पृथक् ।
प्रणवादिपदैर्वाच्यस्तथा वेदप्रकाशकः ॥ ५ ॥

१ न्यायकुसुमाञ्जलि परिशिष्ट। २ ऋग्वेद १,१६४,२०। ३ मुण्डक ३,१।

तदस्तित्वे च तद्रूपे विवादो बहु दृश्यते ।
दर्शनानां च धर्माणां भेदस्तन्मूलको मतः ॥ ६ ॥

'जडाद्वैतं' निराकरोति—

[1]बृहस्पतिसमाः प्रत्ना नव्याश्च स्पेन्सरादयः ।
जडाद्वैतपरा नून—मात्ममात्रापलापकाः ॥ ७ ॥
पञ्चभूतानि तत्त्वानि, यद्वा भूतचतुष्टयम् ।
जडाऽजडात्मकं तेभ्यो जगत्सर्वं प्रवर्तते ॥ ८ ॥
जडाद्वैतपरा ये तु, चेतनाद्वैतिनश्च ये ।
अगृहीतार्थतत्त्वौ तु, समावेताववैदिकौ ॥ ९ ॥
जड वा चेतनं तत्त्वमेकमेव भवेद् यदि ।
कथन्नामावकल्पेत, दृश्यमाना भिदानयोः ॥ १० ॥

स्वभाववादं निराकरोति—

लोकायताश्च बौद्धाश्च, तथा चान्येऽपि नास्तिकाः ।
सर्गं स्वाभाविकं मत्वा, प्रतिषेधन्ति चेश्वरम् ॥ ११ ॥
सर्गस्याकस्मिकत्वे तु, तद्विनाशो न सम्भवी ।
हेतोर्नाशात्तु कार्याणां, विनाशोऽप्युपपद्यते ॥ १२ ॥
नियतावधिकार्याणां, दर्शनाच्छ्रुतिबोधितः ।
कार्यकारणभावोऽयं, स्वीकर्तव्यस्त्वकामतः ॥ १३ ॥
मनसाप्यचिन्त्यरूपस्य, सूक्ष्मस्य जगतो ध्रुवम् ।
उत्पत्तिश्च व्यवस्था च सर्वज्ञादेव सम्भवेत् ॥ १४ ॥
बुद्ध्यपेक्षा व्यवस्थाऽस्य, रचना च सुदुष्करा ।
चेतनापेक्षिणी नित्यं, जडाद्वैते न कल्पते ॥ १५ ॥
अग्निरुष्णो जलं शीतं, सर्गमेवं निदर्शनात् ।
यस्तु स्वाभाविकं ब्रूते, नासौ न्यायेन सङ्गतः ॥ १६ ॥
स्वाभाविकेऽपि सामर्थ्ये, चेष्टिकादौ विशेषतः ।
न भवनादिनिर्माणं, दृष्टं चेतनमन्तरा ॥ १७ ॥
एवं प्रकृतिसामर्थ्य—मात्रान्न सर्गसम्भवः ।
नापि युक्ता व्यवस्थाऽस्य, सम्भवेच्चेतनं विना ॥ १८ ॥
यतः सर्गो व्यवस्था च, नियन्तारमपेक्षते ।
तस्मान्नैव जडाद्वैत—पक्षो युक्तियुतो भवेत् ॥ १९ ॥

---

१ न्यायकुसुमाञ्जलि परिशिष्ट क ।

'चेतनाद्वैतवादं' निराकरोति

लोके बहुतरं तत्त्वं, जडमन्नानुभूयते ।
चेतनाद्वैतपक्षे तु, तत्सत्त्वं नावकल्पते ॥ २० ॥
कूटस्थं चेतनं ब्रह्म, कथन्नाम जडीभवेत् ।
तदभावे कथं लोके, पृथिव्याद्युपलभ्यते ॥ २१ ॥
इदं दृश्यमयं द्रष्टा, चेतनोऽयं जडं त्विदम् ।
कथं स्याच्चेतनाद्वैते, भेदोऽयं सर्वसाक्षिकः ॥ २२ ॥
अतो नव्याश्च प्रत्नाश्च, चेतनाद्वैतवादिनः ।
प्रत्यात्मानुभवाद्भिन्नं, विश्वं मिथ्येति चक्षते ॥ २३ ॥
रज्जौ सर्पादिविभ्रान्ति-स्तथा स्वप्नादिप्रत्ययः ।
बाध्यतेऽतो मतो मिथ्या, न चेदं बाध्यते जगत् ॥ २४ ॥
अबाध्यतेऽपि मिथ्येति, वचो साहसमात्रकम् ।
चेतनाद्वैतपक्षोऽयं, तस्मान्नैवोपपद्यते ॥ २५ ॥
अस्मिन् पक्षे तु संदृष्टा, सर्वं मिथ्येति कल्पना ।
लोकानुभवविरोधात् , सैव मिथ्येति निश्चयः ॥ २६ ॥
अथवाङ्गीकृतेऽद्वैतेऽनुपपत्तेस्तु लाघवात् ।
चेतनाद्वैततो नूनं जडाद्वैतस्य साधुता ॥ २७ ॥

चेतनाऽद्वैतविज्ञानाद्वैतयोः सादृश्यं दर्शयति—

विज्ञानं तु निराचष्टे शङ्करो दृढयुक्तिभिः ।
योगक्षेमे समं ब्रह्म-वादमातिष्ठते पुनः ॥ २८ ॥
स्वप्नवत् कल्पिता अर्था, मता विज्ञानिनां यथा ।
सांवृताः शाङ्करेऽप्येवं स्वप्नवत् परिकल्पिताः ॥ २९ ॥
विज्ञानाद्वैतवादश्चेद् , युक्तिभिर्नोपपद्यते ।
नतरां तस्य युक्तः स्याद् , ब्रह्मवादोऽपि तादृशः ॥ ३० ॥
नास्तिकास्तु जडाद्वैतं, चेतनाद्वैतमास्तिकाः ।
मन्वते इति भेदोऽपि, वस्तुतो नोपपद्यते ॥ ३१ ॥
समावनीश्वरौ वादावुभावेताववैदिकौ ।
दुर्बलश्चेतनाद्वैतः, प्रत्यक्षादिविरोधतः ॥ ३२ ॥

अभिन्ननिमित्तोपादानसिद्धान्तं निराकरोति—

ब्रह्मोपादानकञ्चैव, जगद् ब्रह्मनिमित्तकम् ।
लूतानिदर्शनाद् घोषः, सदोषोऽद्वैतवादिनाम् ॥ ३३ ॥

लूतातन्तावुपादानं, शरीरं तद्ध्यचेतनम् ।
चेतनं च निमित्तं स्या-न्नाभिन्नमुभयं ततः ॥ ३४ ॥
जडचेतनसंभिन्ना, लूतैकाभिमता यदि ।
जडाऽजडात्मकं तर्हि, किन्तु ब्रह्मापि कल्प्यते ॥ ३५ ॥
जडाऽजडं विरुद्धं तु, रूपमेकत्र पश्यता ।
सामानाधिकरण्यं हि, तेजस्तिमिरयोः कुतम् ॥ ३६ ॥
किन्ते प्रयोजनं सिद्ध्येत्, कुर्वतः क्लिष्टकल्पनाम् ।
जडाऽजडात्मकं तत्त्वं भिन्नमास्थीयतामतः ॥ ३७ ॥

लूतातन्तुदृष्टान्तं सङ्गमयति—

जगतः सृजने चैव, पालने चाथ नाशने ।
निमित्तत्वं प्रभोः प्रोक्तं, नोभयत्वं निदर्शने ॥ ३८ ॥
स्वदेहसुलभं तत्त्वमुपादाय जडं यथा ।
'सृजते गृह्णते' तन्तुं, लूता काले यथोचितम् ॥ ३९ ॥
एवं प्रकृतिमादाय, विश्वं निर्माति चेश्वरः ।
क्षिणोति च स्वयं काले, सोऽयमर्थो निदर्शने ॥ ४० ॥
नैवाभिन्ननिमित्तोपा-दानकत्वमुदीरितम् ।
जडाऽजडं विरुद्धं नो ततो ब्रह्म प्रकल्प्यताम् ॥ ४१ ॥

मृत्पिण्डदृष्टान्तं सङ्गमयति—

यत्र च ब्रह्मणो ज्ञानात्, सर्वज्ञानं प्रतिश्रुतम् ।
यथा मृत्पिण्डविज्ञानात्, ज्ञातं सर्वन्तु मृण्मयम् ॥ ४२ ॥
एवंविधे तु दृष्टान्ते, विकारार्थे मयट् श्रुतः ।
तदर्थः प्रकृतेर्ज्ञानाद्, विकारो ज्ञायतेऽखिलः ॥ ४३ ॥
एवञ्चेद् ब्रह्मणो ज्ञानात्, सर्वज्ञानमभीप्सितम् ।
विकृतं वै भवेद् ब्रह्म, कूटस्थं नोपपद्यते ॥ ४४ ॥
किञ्च ज्ञातेऽप्युपादाने, लौहे चाथ मृदादिके ।
तद्विकारास्तु दुर्ज्ञेया, यन्त्रदेहादयो मताः ॥ ४५ ॥
ब्रह्मज्ञानेऽपि न ज्ञातं विश्वनिर्माणकौशलम् ।
तत एषा प्रतिज्ञा तु हीयते लोकदर्शनात् ॥ ४६ ॥
किञ्च दृष्टान्तसामर्थ्यात्, प्रकृतित्वं समर्थितम् ।
न निमित्तमतो ब्रह्म, जडं स्यान्नोभयात्मकम् ॥ ४७ ॥

नवीनवेदान्तस्य अवैदिकत्वं दर्शयति—

नोपादानमतो ब्रह्म निमित्तं केवलन्तु तत् ।

उपादानञ्च विश्वस्य विज्ञेया प्रकृतिः पृथक् ॥ ४८ ॥
ततो नव्ये तु वेदान्ते यदद्वैतं प्रसाध्यते।
सर्वं वेदविरुद्धं तत्, तन्न किञ्चिन्न वैदिकम् ॥ ४९ ॥
तन्त्र त्वाविद्यिको जीव, ईश्वरश्चापि मायिकः।
तत्त्वं ब्रह्मैव जीवेशौ तद्विवर्तौ जगत् तथा ॥ ५० ॥
प्रकृतिर्भावभूताऽपि, 'माया' शब्दात्तथोदिता।
स्वप्नवच्च निरालम्बा सर्वा सर्गस्थितिर्मता ॥ ५१ ॥
एषां नैकोऽपि सिद्धान्तो, वास्तवो वैदिकोऽथवा।
सा सर्वा शाङ्करी माया, तत्त्वदृष्टिं व्यपोहति ॥ ५२ ॥
अबाध्यं लोकप्रत्यक्षं, यच्च वेदोदितं ध्रुवम्।
तन्मिथ्याऽगोचरं बुद्धेः, कल्पनाप्रभवं च सत् ॥ ५३ ॥
तथ्यं वितथं कुरुते, वितथं तथ्यमेव च।
सा तु मायैव विज्ञेया, विदुषां बुद्धिमोहिनी ॥ ५४ ॥

सांख्यस्य निरपेक्षप्रधानकारणवादं निराकरोति—

अचेतनं यथा क्षीरं, वत्सवृद्ध्यै प्रवर्तते।
प्रधानं जडमप्येवं, स्वतः सर्गाय कल्पते ॥ ५५ ॥
निदर्शनबलेनैवं, सांख्यम्मन्यास्तु केऽपि वै।
मत्वा जगज्जडोद्भूतं, नाङ्गीकुर्वन्ति चेश्वरम् ॥ ५६ ॥
किन्तु क्षीरप्रवृत्तिः साऽचेतनादथ चेतनात्।
जायते मूढकल्पैस्तु, वराकैर्न विचारितम् ॥ ५७ ॥
तत्र क्षीरप्रवृत्तेर्वै, निदानं चेतनं मतम्।
अन्यथा संस्रवेद् दुग्धं, मृतायामपि मातरि ॥ ५८ ॥
नैव दृष्टा मृतायान्तु, क्षीरवृत्तिर्यतस्ततः।
निदर्शनाभासमूला, सैषा ज्ञेया प्रतारणा ॥ ५९ ॥
ईश्वराधिष्ठितादेव, प्रधानात् सर्गसम्भवः।
न केवलादधिष्ठान-मन्तराऽस्य समुद्भवः ॥ ६० ॥
ततश्च सांख्यम्मन्यानां पक्षो न न्यायसङ्गतः।
अवैदिको ध्रुवं चैष, न श्रौतो नापि यौक्तिकः ॥ ६१ ॥

मीमांसकानां जगन्नित्यत्ववादं निराकरोति—

न लयो न भवोत्पत्तिर्नित्यः सर्गः सनातनः।
तस्माज्जगन्निमित्तार्था, व्यर्थैवेश्वरकल्पना ॥ ६२ ॥

वेदेऽप्यपौरुषेयेऽतो, स्वतः प्रामाण्यसम्भवात् ।
नेश्वरापेक्षि प्रामाण्यं, ततो नासौ प्रकल्प्यताम् ॥ ६३ ॥
कश्चिन्मीमांसकम्मन्य-स्तर्काभाससमाश्रयः ।
वेदानुगोऽपि वै चित्रं, प्रत्याचष्टे परेश्वरम् ॥ ६४ ॥
नासदीये तु ऋक्सूक्ते, लयावस्था प्रदर्शिता ।
अभिध्यानात्तथेशस्य, सर्गोत्पत्तिश्च वर्णिता ॥ ६५ ॥
आविर्भावश्च वेदानां, परेशाद् दर्शितो मुहुः ।
स्फुटं पुरुषसूक्ते च, ततो नापौरुषेयता ॥ ६६ ॥
ततश्चापौरुषेयत्व-नित्यत्वे वेदसर्गयोः ।
न वेदे सम्मते क्वापि, ध्रुवं, तेऽवैदिके ततः ॥ ६७ ॥
ज्ञानं गुणो गुणी चेशो, वेदो नूनं तदाश्रयः ।
सर्वविद्यामयो ज्ञेयो, न कर्मैकपरो मतः ॥ ६८ ॥
वैदिकंनाप्यनेनैवं, दर्शिता वेदबाह्यता ।
मूर्खमित्रादतः श्रेष्ठो विद्वाञ् शत्रुः प्रकीर्तितः ॥ ६९ ॥

ईश्वरस्य स्वरूपं दर्शयति—

ईश्वरोऽयं निराकारः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ।
अनादिरविकारी चा-नन्तः सर्वगतो विभुः ॥ ७० ॥
सच्चिदानन्दरूपोऽपि, दयालुर्न्यायतत्परः ।
सर्गे स्थितौ लये हेतुः नित्यतृप्तो निराशयः ॥ ७१ ॥

सृष्टिकर्तृत्वे सांख्यस्य पूर्वपक्षः—

प्रेक्षावतां प्रवृत्तिस्तु स्वार्थात् कारुण्यतोऽथवा ।
व्याप्ता संदृश्यते लोके, न स्तः सर्गक्रमे च ते ॥ ७२ ॥
स्वार्थमूला प्रवृत्तिश्चे-न्नित्यतृप्तः कथं प्रभुः ।
सर्गोद्भवश्च कारुण्यं, कथं सर्गे प्रवर्तयेत् ॥ ७३ ॥
ततः सर्गक्रमो नैव, प्रेक्षावद्वृत्तिमूलकः ।
प्रकृत्यैव कृतो नूनमिति सांख्यनयो मतः ॥ ७४ ॥

तस्य निराकरणम्—

परदुःखप्रहाणेच्छा कारुण्यमन्तराऽपि तद् ।
स्वार्थहीनाः प्रवर्तन्ते, स्वकर्तव्यपरायणाः ॥ ७५ ॥
'कुर्वन्नेवेह कर्माणि', घोषोऽयं वैदिकस्तु नः ।
स्वार्थकारुण्यहीनानां वै ब्रूते कर्तव्यभावनाम् ॥ ७६ ॥

अतस्तु सांख्यसम्बानां, सर्वोऽयं बुद्धिविभ्रमः ।
न तु चोदक्षमं तत्वं किञ्चित्तत्र लभेमहि ॥ ७७ ॥

सृष्टिकर्तृत्वेऽपरः पूर्वपक्षः—

ईश्वरो विश्वनिर्माणादात्मानं खेदयत्यपि ।
जीवांश्च पातयत्यस्मिन्, दुःखे संसारसागरे ॥ ७८ ॥
ईशस्यैतेन कार्येण, कश्चिल्लाभो न सम्भवी ।
हानिश्चैषा ध्रुवं दृष्टा, सर्वसन्तापकारिणी ॥ ७९ ॥
तस्मादमुष्य व्यापारो, बुद्धिपूर्वो न दृश्यते ।
अव्यापारो वरं तस्य, दुःखात् सर्वान् विमोचयेत् ॥ ८० ॥

तस्य निराकरणम्—

लीलानिःश्वसितन्याया-जगदेतत् प्रवर्तते ।
तस्मादत्र परेशस्य स्वात्मखेदः कथं भवेत् ॥ ८१ ॥
वेदे विश्वमिदं नैव हेयं दुःखमयं मतम् ।
जीवानामप्यतो नैव, लोको दुःखैककारणम् ॥ ८२ ॥
यत्र रात्रि-दिनं चैव, पर्यायात् संप्रवर्तते ।
तत्राश्वासः सुखं चैव, न रात्रौ न दिने सदा ॥ ८३ ॥
जीवश्चेच्चेतनः कश्चि-दन्धकूपे निपातितः ।
न प्रकाशं सुखं पश्येत्, का नु तस्य भवेद् गतिः ॥ ८४ ॥
यदि सृष्टिर्न जायेत, सुभगेयं दिनात्मिका ।
अन्धे तमसि सीदन् वै, जीवः कष्टतमं व्रजेत् ॥ ८५ ॥
जीवानाञ्च समुद्धार-स्ततः सर्गक्रमाद्भवेत् ।
आनन्दालोकलाभश्च, सृष्टेर्लाभोऽमितस्ततः ॥ ८६ ॥

सर्वशक्तिमत्वे पूर्वपक्षः—

स्वाधीनोऽथ पराधीनः, परेशोऽयं जगत्कृतौ ।
स्वाधीनश्चेदुपादानमदृष्टञ्चेहते कथम् ॥ ८७ ॥
स्वाधीनोऽयमनार्याणां यत्र 'कुन्' शब्दमात्रतः ।
जगत् सञ्जायते सर्वं, नोपादानमपेक्षते ॥ ८८ ॥
ईशोऽयं पुनरस्माकमदृष्टं प्रकृतिं विना ।
अक्षमो विश्वनिर्माणे, न स्वाधीनः प्रतीयते ॥ ८९ ॥
चेतनो जडतन्त्रश्चेद् विश्वं निर्मातुमक्षमः ।
जितं हन्त जडेनैव, क्व चैश्वर्यं जगत्प्रभोः ॥ ९० ॥

भूतान्यचेतनान्येव, अदृष्टञ्चाप्यचेतनम् ।
सर्वशक्तिस्तदाधीनो, हास्यत्वं किन्न यात्यसौ ॥ ९१ ॥

तस्य समाधानम्—

जीवानामुपभोगो हि सृष्टेराद्यं प्रयोजनम् ।
तन्नियामकमदृष्टं, न नियामकमीश्वरे ॥ ९२ ॥
ईश्वरो विभजत्येभ्यः, कर्मयोग्यं फलं यदा ।
सा न्यायपरतैवास्य, पारतन्त्र्यन्न तन्मतम् ॥ ९३ ॥
भोग्यञ्च प्राकृतं, देहः प्राकृतो भोगसाधनम् ।
भोगः प्रकृतितन्त्रो हि, न तत्तन्त्रः परेश्वरः ॥ ९४ ॥
सृष्टिः स्थितिर्लयश्चैवमीश्वरेच्छावशात् सदा ।
तादृशो महिमा तस्य परैश्वर्यप्रयोजकः ॥ ९५ ॥

बहुदेववादं निराकरोति—

विराड् रूपं श्रुतं तस्य, विभुत्वद्योतनाय यत् ।
तन्मूलं वास्तवं रूपं, लोके कैश्चित् प्रकल्पितम् ॥ ९६ ॥
ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चेति, वरुणाग्नियमादिकाः ।
संज्ञा वेदे श्रुतास्ताः स्युरन्वर्था गुणयोगतः ॥ ९७ ॥
एकस्यैव परेशस्य, नामभेदात् प्रकीर्तनम् ।
'एकं सद् विप्रा बहुधा', वदन्तीति श्रुतेर्वचः ॥ ९८ ॥
ते तद्बोधाक्षमैः सर्वैः भिन्ना देवाः प्रकल्पिताः ।
भिन्नानि कल्पितान्येषां शरीराणि, रूपाणि च ॥ ९९ ॥
एवं साकारवादो वा, बहुदेववादोऽथवा ।
वेदार्थस्यानभिज्ञानात्, संप्रवृत्तो न वैदिकः ॥ १०० ॥
स्वतन्त्राः शक्तिसम्पन्नाः, प्रभवो बहवो यदि ।
मिथस्तेषां विरोधे तु, सर्वं स्यात् कार्यमाकुलम् ॥ १०१ ॥
प्रसिद्धश्च पुराणादौ, विरोधस्तादृशः स्वयम् ।
तस्मादयुक्तावेतौ, वादौ नूनमवैदिकौ ॥ १०२ ॥

अवतारवादं निराकरोति—

परिणामोऽनयोरेवावतारश्चाप्यवैदिकः ।
अवतारं विना कार्ये सर्वशक्तिर्न किं क्षमः ॥ १०३ ॥
नरा रामादयोऽप्यासन्, लौकिकाश्च गुणोत्तराः ।
नावतीर्णस्ततस्तत्र, देहधारी परेश्वरः ॥ १०४ ॥

शरीरम्

तस्य भोगायतनमन्त्यावयवि 'शरीरम्' । सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः । स च यदवच्छिन्न आत्मनि जायते तद्भोगायतनं, तदेव शरीरम् । चेष्टाश्रयो वा शरीरम् । चेष्टा तु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया, न तु स्पन्दनमात्रम् ।

नरा आदर्शरूपास्ते, लोकशक्तिप्रदायिनः ।
नान्यथास्मत्कृते तेषां चरित्रं दीपकं भवेत् ॥ १०५ ॥
पूज्याः पुरुषरूपेण, वीरपूजास्ति श्रेयसी ।
मर्त्यानां तु ध्रुवं तेषामीश्वरत्वमवैदिकम् ॥ १०६ ॥
मूर्तयो मन्दिरेष्वत्र, तेषामेव प्रतिष्ठिताः ।
तासु प्रतीकरूपासु, न्याय्या नेशत्वभावना ॥ १०७ ॥
वीरपूजाप्रतीकानि, मन्दिराण्युचितानि चेत् ।
ईशपूजानिमित्तत्वे, तत् सर्वममङ्गलम् ॥ १०८ ॥

७-शरीर निरूपण—

उस [आत्मा] के भोग का आयतन [आश्रय] अन्त्य अवयवी शरीर [कहलाता] है । सुख दुःख में से किसी एक का साक्षात्कार, भोग [कहलाता] है । वह जिससे अवच्छिन्न [सीमित] आत्मा में रहता है वह [उस विभु आत्मा का] भोगायतन है और वही शरीर है । अथवा चेष्टा का आश्रय शरीर [कहलाता] है । [और] चेष्टा तो हित और अहित के [यथाक्रम] प्राप्ति तथा परिहार [अर्थात् हित की प्राप्ति और अहित के परिहार] के लिए [की गई] क्रिया [विशेष कहलाती] है केवल [अचेतन पदार्थ में होने वाली] गति मात्र [चेष्टा] नहीं [कही जाती] है ।

यहाँ 'तस्य भोगायतनं अन्त्यावयवि शरीरम्' यह शरीर का लक्षण किया गया है शरीर के अवयव करचरणादि के द्वारा भी आत्मा को भोग होता है इसलिए यदि केवल 'भोगायतनं शरीरं' कहा जाय तो यह लक्षण शरीर के एक अवयव में भी अतिव्याप्त हो जायगा । अत एव उस अतिव्याप्ति के वारण के लिए 'अवयवी' पद रखना आवश्यक है । अर्थात् अवयव शरीर नहीं है अपितु उन अवयवों से बना हुआ अवयवी शरीर है । परन्तु करचरणादि अवयवों के भी अंगुली आदि अवयव होते हैं । उन अवयवों की दृष्टि से करचरणादि भी अवयवी हैं । इस लिए 'भोगायतनं अवयवि शरीरम्' यह लक्षण करचरणादि में फिर भी अतिव्याप्त हो जावेगा । अतएव उस अतिव्याप्ति

इन्द्रियम्

शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियं 'इन्द्रियम्'। अतीन्द्रियमिन्द्रियमित्यु-

का वारण करने के लिए 'अन्त्यावयवि' विशेषण रखा गया है। करचरणादि अवयवी तो हैं परन्तु अन्त्य अवयवी नहीं हैं। अन्त्य अवयवी सम्पूर्ण शरीर है। इसलिए 'तस्य भोगायतनं अन्त्यावयवि शरीरम्' ऐसा लक्षण करने पर वह करचरणादि में अतिव्याप्त नहीं होता है। अन्त्यावयवि का अर्थ 'द्रव्यान्तरानारम्भक अवयवी' है। कर चरण आदि शरीर रूप द्रव्यान्तर के आरम्भक होने से अन्त्यावयवी नहीं कहे जा सकते हैं। शरीर किसी दूसरे द्रव्य का आरम्भक नहीं है अतएव वह अन्त्यावयवी है।

यदि केवल 'अन्त्यावयवी शरीरम्' यह लक्षण रखा जाय अर्थात् भोगायतनं पद को लक्षण में न रखा जाय तो घटादि में अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि घटादि भी द्रव्यान्तर के अनारम्भक होने से अन्त्यावयवी तो हैं ही। इसलिए 'अन्त्यावयवि शरीरम्' यह लक्षण उनमें अतिव्याप्त हो जायगा। अत एव उस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए लक्षण में भोगायतनं पद का सन्निवेश किया गया है।

न्याय सूत्रकार ने '[1]चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्' इस प्रकार शरीर का लक्षण किया है। उसको ध्यान में रख कर शरीर का दूसरा लक्षण 'चेष्टाश्रयो वा शरीरम्' किया है। चेष्टा का अर्थ साधारण गति या साधारण क्रिया नहीं अपितु 'प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणिका क्रिया' है। 'प्रयत्नवान् आत्मा' का संयोग जिसका असमवायि कारण है उस क्रिया को 'चेष्टा' कहते हैं। यह क्रिया मुख्यतः हित की प्राप्ति अथवा अहित के परिहार के लिए ही होती है इसलिए ग्रन्थकार ने 'हिताहितप्राप्तिपरिहारार्था क्रिया चेष्टा' इस प्रकार 'चेष्टा' का लक्षण किया है। यह चेष्टा जड़ पदार्थ में नहीं रह सकती है, अपितु चेतन के शरीर में ही रह सकती है। इसलिए शरीर का दूसरा लक्षण 'चेष्टाश्रयः शरीरम्' किया है।

२—इन्द्रिय निरूपण—

आगे इन्द्रिय का लक्षण कहते हैं—

शरीर से संयुक्त, अतीन्द्रिय [इन्द्रियों से गृहीत न होने वाला] ज्ञान का करण 'इन्द्रिय' [कहलाता] है। [इस लक्षण का पद कृत्य दिखलाते हैं] 'अतीन्द्रियं इन्द्रियम्' ऐसा कहने [केवल इतना लक्षण करने] पर काल आदि में भी इन्द्रियत्व [अर्थात् इन्द्रिय का लक्षण] चला जायगा, इसलिए 'ज्ञानकरणम्' [यह विशेषण और] कहा है। [काल, आकाश आदि पदार्थ भी अतीन्द्रिय हैं अर्थात्

१ न्यायदर्शन १, १, ११।

च्यमाने कालादेरपीन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तं ज्ञानकरणमिति। तथापीन्द्रिय-सन्निकर्षेऽतिप्रसङ्गोऽत उक्तं शरीरसंयुक्तमिति। शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरण-मिन्द्रियमित्युच्यमाने आलोकादेरिन्द्रियत्वप्रसङ्गोऽत उक्तमतीन्द्रियमिति।

चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत नहीं होते हैं। इसलिए यदि 'अतीन्द्रियं' इतना ही इन्द्रिय का लक्षण किया जाय तो कालादि भी इन्द्रिय कहलाने लगेंगे। अतएव उस अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए उसके साथ 'ज्ञानकारणम्' यह अंश भी जोड़ा गया है। काल आदि ज्ञान के करण नहीं हैं अतः अतीन्द्रिय होने पर भी इन्द्रिय नहीं कहलाते हैं]।

फिर भी [ज्ञानकरणं को जोड़ कर 'ज्ञानकरणमतीन्द्रियं इन्द्रियम्' ऐसा लक्षण करने पर भी] इन्द्रिय [और अर्थ] के सन्निकर्ष में अतिव्याप्ति होगी [क्योंकि इन्द्रिय का अर्थ के साथ जो संयोगादि षोढा सन्निकर्ष दिखाया गया है वह ज्ञान का करण है और उसका ग्रहण भी इन्द्रिय से नहीं होता। इसलिए ज्ञान का करण और अतीन्द्रिय होने से लक्षण उसमें अतिव्याप्त हो जायगा। इन्द्रिय सन्निकर्ष को अतीन्द्रिय इसलिए कहा गया है कि जिन पदार्थों का संयोग सम्बन्ध होता है वह दोनों पदार्थ यदि प्रत्यक्ष होते हैं तब तो उन दोनों का संयोग भी प्रत्यक्ष होता है। परन्तु यदि वह दोनों पदार्थ अथवा उनमें से कोई एक अप्रत्यक्ष हो तो उनका संयोग भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। जैसे वायु का चक्षु से ग्रहण नहीं होता है तो पुस्तक के साथ वायु के संयोग का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार इन्द्रियों के अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष भी अतीन्द्रिय ही है। इसीलिए 'ज्ञानकरणमतीन्द्रियं इन्द्रियम्' यह लक्षण इन्द्रिय सन्निकर्ष में अतिव्याप्त हो जाता है। उसके वारण के लिए 'शरीर-संयुक्तं' यह पद रखा है। [इन्द्रिय सन्निकर्ष का शरीर के साथ संयोग नहीं होता है क्योंकि संयोगादि सन्निकर्ष, द्रव्य रूप नहीं है। और संयोग केवल द्रव्यों का ही होता है]।

'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणं इन्द्रियम्' ऐसा कहने पर आलोक आदि में इन्द्रि-यत्व प्राप्त होगा [क्योंकि आलोक का शरीर के साथ संयोग भी है और वह ज्ञान का कारण भी है] इसलिए [अतिव्याप्ति के वारण के लिए] 'अतीन्द्रियम्' यह कहा है। [आलोक अतीन्द्रिय नहीं है अतः यह लक्षण उस में अतिव्याप्त नहीं होगा] इस प्रकार इन्द्रिय के लक्षण में 'शरीरसंयुक्तं' 'ज्ञानकरणं' और 'अतीन्द्रियं' यह जो तीन पद रखे हैं उन सबका रखना अनिवार्य है। इस प्रकार इन्द्रिय के 'शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियं इन्द्रियम्'। इस लक्षण का पदकृत्य दिखाया है।

तानि चेन्द्रियाणि षट्। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रमनांसि।

तत्र गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्। नासाग्रवर्ति तच्च पार्थिवं गन्धवत्त्वाद् घटवत्। गन्धवत्वञ्च गन्धग्राहकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यं गुणं गृह्णाति तदिन्द्रियं तद्गुणसंयुक्तं, तथा चक्षू रूपग्राहकं रूपवत्।

वह इन्द्रियां छः हैं। घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र [यह पांच बाह्येन्द्रिय] और मन [अन्तरिन्द्रिय अन्तःकरण]।

घ्राणेन्द्रिय का निरूपण—

उन [छहों] में से गन्ध की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय घ्राण [कहलाती] है। वह नासिका के अग्रभाग में रहती है। और वह [घ्राणेन्द्रिय] गन्धवत् होने से पार्थिव [पृथिवीजन्य इन्द्रिय] है। [घ्राणेन्द्रिय में] गन्धवत्व, गन्ध के ग्राहक होने से है। जो इन्द्रिय रूपादि [रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन] पांचों में से जिस गुण को ग्रहण करती है वह उस गुण से युक्त [कहलाती] है जैसे रूप की ग्राहक चक्षु रूपवत् [कहलाती] है।

'गन्धोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं घ्राणम्' यह घ्राण का लक्षण किया गया है। इसका पदकृत्य इस प्रकार है। यदि केवल 'उपलब्धिसाधनं इन्द्रियं घ्राणम्' यह लक्षण कहा जाय तो चक्षुरादि में अतिव्याप्ति हो जायगी। क्योंकि चक्षुरादि भी उपलब्धि के साधन हैं अतः घ्राण का लक्षण उनमें न चला जाय इसके वारण के लिए गन्ध पद रखा है। 'गन्धोपलब्धिसाधनं घ्राणम्' यह कहा जाय तो केसर आदि सुगन्धित पदार्थ भी गन्धोपलब्धि के साधन होते हैं उनमें घ्राण का लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय इसके वारण के लिए 'इन्द्रियं' पद रखा गया है।

'तानि चेन्द्रियाणि षट्' में इन्द्रियों की छः संख्या बतलाई है। इनमें घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र यह पांच ज्ञानेन्द्रियां कहलाती हैं, और बाह्य इन्द्रियां मानी जाती हैं। मन अन्तःकरण कहलाता है। सांख्य आदि में इनके अतिरिक्त 'वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः' पांच कर्मेन्द्रियां भी मानी जाती हैं। यहां केवल ज्ञानेन्द्रियों का उल्लेख किया है, कर्मेन्द्रियां नहीं गिनाई गई हैं। ज्ञानेन्द्रियों के विषय में सांख्य मत में केवल एक त्वगिन्द्रिय ही है इस प्रकार का एकेन्द्रियवादी भी एक पक्ष पाया जाता है। वह त्वगिन्द्रिय ही चक्षुः, रसना, नासिका, श्रोत्र आदि स्थलों में विशेष प्रकार की होकर रूप, रस आदि भिन्न-भिन्न गुणों को ग्रहण करती है। इस 'एकेन्द्रियवाद' के खण्डन के लिए यहाँ इन्द्रियों की संख्या ६ बतलाई है।

रसोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं रसनम्। जिह्वाग्रवर्ति। तच्चाप्यं रसवत्त्वात्। रसवत्त्वञ्च रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वाल्लालावत्।

रूपोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं चक्षुः। कृष्णताराग्रवर्ति। तच्च तैजसं, रूपादिषु पञ्चसु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्।

स्पर्शोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं त्वक्, सर्वशरीरव्यापि। तत्तु वायवीयं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवातवत्।

शब्दोपलब्धिसाधनमिन्द्रियं श्रोत्रम्। तच्च कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशमेव, न द्रव्यान्तरं शब्दगुणत्वात्। तदपि शब्दग्राहकत्वात्। यदिन्द्रियं रूपादिषु पञ्चसु मध्ये यद्गुणव्यञ्जकं तत् तद्गुणसंयुक्तं यथा चक्षुरादि रूपग्राहकं रूपादियुक्तम्। शब्दग्राहकञ्च श्रोत्रमतः शब्दगुणकम्।

रसनेन्द्रिय निरूपण—

रस की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय 'रसना' है। वह जिह्वा के अग्रभाग में स्थित है। वह रसवती होने से आप्य [जलीय इन्द्रिय] है। रूपादि पाँचों में से रस की ही अभिव्यञ्जक होने से [रसनेन्द्रिय] रसवत् है।

चक्षुरिन्द्रिय निरूपण—

रूप की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय 'चक्षु' है। वह [आँख की] काली पुतली में रहती है। और वह रूपादि पांचों में से रूप की ही अभिव्यञ्जक होने से प्रदीप के समान तैजस [तेज या अग्नि से उत्पन्न इन्द्रिय] है।

त्वगिन्द्रिय निरूपण—

स्पर्श की उपलब्धि का साधनभूत इन्द्रिय 'त्वक्' सर्वशरीर व्यापी है। और वह तो वायवीय [वायु से उत्पन्न इन्द्रिय] है। रूपादि पाँचों में से स्पर्श की ही अभिव्यञ्जक होने से। शरीर में लगे हुए जल के शैत्य के अभिव्यञ्जक पंखे की वायु के समान।

श्रोत्रेन्द्रिय निरूपण—

शब्द की उपलब्धि की साधनभूत इन्द्रिय श्रोत्र है। और वह 'कर्णशष्कुली' से घिरा हुआ आकाश ही है अन्य [कोई अलग] द्रव्य नहीं [है] शब्दगुण [युक्त] होने से। और वह [शब्दगुणत्व] भी शब्द का ग्राहक होने से है। जो इन्द्रिय रूपादि पांचों में से जिस गुण का व्यञ्जक है वह उस गुण से युक्त है। जैसे रूपादि का ग्राहक चक्षुरादि [इन्द्रिय] रूपादि युक्त [कहा गया] है। और श्रोत्र शब्द का ग्राहक है इसलिए शब्दगुणयुक्त है [और इसीलिए श्रोत्र आकाश रूप ही है]।

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्चाणुपरिमाणं, हृदयान्तर्वर्ति। ननु चक्षुरादीन्द्रियसद्भावे किं प्रमाणम्? उच्यते। अनुमानमेव। तथाहि रूपाद्युपलब्धयः करणसाध्याः क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्।

अर्थाः

अर्थाः षट्पदार्थाः। ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः।

मनो निरूपण—

[सुखादि की उपलब्धि का साधनभूत [अन्तः] इन्द्रिय मन है। वह अणु परिमाण और हृदय के भीतर रहने वाला है।

इन्द्रियों की सिद्धि—

[प्रश्न] चक्षु आदि इन्द्रिय की सत्ता में क्या प्रमाण है।

[उत्तर] कहते हैं। अनुमान ही [इन्द्रियों की सत्ता में प्रमाण है]। जैसे कि, रूपादि का ज्ञान कारण से साध्य है, क्रिया होने से, छेदन क्रिया के समान। [जो जो क्रिया होती है वह किसी कारण से साध्य होती है। जैसे छेदन क्रिया हँसिया, चाकू, फरसा आदि किसी कारण से ही साध्य होती है इसी प्रकार रूपादि का ज्ञान भी किया है। उसका भी कोई कारण होना चाहिए। रूपादि के ज्ञान का जो करण है वही इन्द्रिय कहलाता है। इस प्रकार अनुमान से इन्द्रियों की सिद्धि होती है]।

४—अर्थ निरूपण—

प्रमेयों के निरूपण में 'आत्मा' 'शरीर' और 'इन्द्रिय' इन तीन प्रमेयों के निरूपण के बाद 'अर्थ' रूप चतुर्थ प्रमेय का वर्णन क्रम प्राप्त है। इस अर्थ के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन के द्रव्य गुण आदि समस्त पदार्थों का वर्णन किया जा रहा है। तर्कभाषा, न्याय और वैशेषिक दोनों का सम्मिलित 'प्रकरणग्रन्थ' है। परन्तु उसका मुख्य आधार न्याय है। इसलिये उसमें मुख्य रूप से न्याय के प्रमाणादि पदार्थों का निरूपण किया है। और वैशेषिक के पदार्थों का निरूपण इस 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत किया है। न्यायमुक्तावली आदि कुछ ग्रन्थ इस प्रकार के भी हैं जिनमें मुख्य रूप से वैशेषिक दर्शन के द्रव्य आदि पदार्थों का निरूपण किया गया है। और उसके 'बुद्धि' नामक पदार्थ के अन्तर्गत न्याय के प्रमाणादि पदार्थों का निरूपण किया गया है। यहाँ 'अर्थ' नामक प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन के अभिमत पदार्थों का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

अर्थ [से वैशेषिकोक्त द्रव्यादि] छः पदार्थ [गृहीत होते] हैं। और वह १ द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म, ४ सामान्य, ५ विशेष और ६ समवाय हैं। [न्याय में

प्रमाणादयो यद्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेन कीर्तनम् ।

प्रतिपादित] प्रमाणादि [पदार्थ] यद्यपि इन [वैशेषिकोक्त पदार्थों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं फिर भी प्रयोजन वश [उनका] अलग कथन किया है ।

प्रमाणादि के प्रतिपादन का प्रयोजन—

न्याय दर्शन के वात्स्यायन भाष्य में भी इस प्रश्न को उठाया गया है कि प्रमाण आदि सब पदार्थों का अन्तर्भाव केवल एक प्रमेय पदार्थ के अन्तर्गत ही हो सकता है फिर न्याय में सोलह पदार्थों का निरूपण क्यों किया गया है। इसका समाधान करते हुए भाष्यकार ने यह स्वीकार किया है कि उनका अन्तर्भाव प्रमेय में हो सकता है। फिर भी उनके अलग प्रतिपादन करने का विशेष प्रयोजन होने से उनका अलग प्रतिपादन किया है। विशेष प्रयोजन यह है कि 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती'[1] इस वचन के अनुसार 'आन्वीक्षिकी' अर्थात् न्यायविद्या, 'त्रयी' अर्थात् वेद विद्या, वार्ता अर्थात् शिल्प वाणिज्य आदि और 'दण्डनीति' अर्थात् राजशास्त्र, यह चार प्रकार की अलग अलग विद्याएँ संसार के कल्याण के लिए मानी गई हैं। वैसे तो इन सबका भी प्रमेय में अन्तर्भाव हो सकता है। परन्तु इनका अलग निरूपण किए बिना उनका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। इसी प्रकार प्रमाणादि पदार्थ, न्याय विद्या के प्रधान अङ्ग हैं। न्याय विद्या उन प्रमाणादि पदार्थों के ऊपर ही अवलम्बित है। उनके निरूपण के बिना न्याय विद्या का निरूपण नहीं हो सकता है। अन्यथा यदि प्रमाण आदि पदार्थों का निरूपण न्याय में न किया जाय तो न्याय विद्या भी उपनिषदों के समान केवल अध्यात्म विद्या मात्र रह जायगी। अतएव न्याय विद्या के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा के लिए ही इन पदार्थों का अलग निरूपण किया है। भाष्यकार लिखते हैं—

तत्र[2] संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकम् । संशयादयो यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्त इति । सत्यमेतत्, इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते । यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या । तस्याः पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः । तेषां पृथग् वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात् यथोपनिषदः । तस्मात् संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते ।

इस उद्धरण का भावार्थ ऊपर दिया जा चुका है। इसी भाष्य के आधार पर यहां केशव मिश्र ने 'तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेन कीर्तनम्' यह पंक्ति लिखी

---

१ न्यायदर्शनम् १, १, १ । २ न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य १,१,१ ।

तत्र समवायिकारणं द्रव्यम् । गुणाश्रयो वा । तानि च द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव ।

है। तर्कभाषा के किन्हीं टीकाकारों ने 'प्रमाणादीनां साक्षान्निःश्रेयसाङ्गत्वविवक्षया प्राधान्येन कीर्तनम्' अर्थात् प्रमाण आदि के साक्षात् निःश्रेयस का साधन होने से उनका विशेष रूप से अलग कीर्तन किया गया है। इस प्रकार की व्याख्या की है।

द्रव्य निरूपण—

उन [द्रव्यादि पदार्थों] में [जो] समवायिकारण [होता है वह] द्रव्य [होता] है [यह द्रव्य का लक्षण है।] अथवा [जो] गुणों का आश्रय [होता] है [वह द्रव्य है यह द्रव्य का लक्षण है]। वह द्रव्य १ पृथिवी, २ जल, ३ अग्नि, ४ वायु, ५ आकाश [यह पञ्चभूत कहलाते हैं] ६ काल, ७ दिक्, ८ आत्मा और ९ मन यह नौ ही हैं।

मीमांसकाभिमत द्रव्य—

'नवैव द्रव्याणि' इस 'एवकार' के प्रयोग से ग्रन्थकार नौ से अधिक द्रव्यों का व्यवच्छेद करते हैं। यह अधिक संख्या का निषेध मुख्यतः मीमांसकों के 'तमः' पदार्थ के खण्डन के लिए किया गया है। मीमांसक इन नौ द्रव्यों के अतिरिक्त 'तमः' अर्थात् अन्धकार को भी दशम द्रव्य मानते हैं। उनका कथन है कि—

तमः खलु चलन्नीलं परापरविभागवत्।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति ॥

अर्थात् तम में चलन क्रिया, नील रूप, परत्व, अपरत्व, विभाग आदि गुण रहते हैं इसलिए उसको द्रव्य मानना चाहिए। और उसका अन्तर्भाव पृथिवी आदि द्रव्यों में नहीं हो सकता है इसलिए उसे इन नौ द्रव्यों से भिन्न दसवां द्रव्य मानना चाहिए। 'नीलं तमश्चलति' यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति से तम में नील गुण और चलन क्रिया सिद्ध हैं। गुणाश्रय तथा क्रिया का आश्रय द्रव्य ही होता है इसलिए 'तम' का द्रव्यत्व सिद्ध है। और उस 'तम' में गन्धगुण नहीं रहता है इसलिए वह पृथिवी के अन्तर्गत नहीं हो सकता है। उसमें नील रूप रहता है इसलिए जल, वायु, आकाश, अग्नि, काल, दिक्, आत्मा आदि में अन्तर्भूत नहीं हो सकता है क्योंकि इनमें से किसी में नील रूप नहीं रहता है। जल का रूप अभास्वर शुक्ल, और अग्नि का रूप भास्वर शुक्ल है नीला नहीं। शेष वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन

छः द्रव्यों में किसी प्रकार का रूप नहीं रहता है और तम में नील रूप रहता है इसलिए तम का अन्तर्भाव इन नौ द्रव्यों में नहीं हो सकता है। इसलिए तम को नौ द्रव्यों से भिन्न दशम द्रव्य मानना चाहिए। यह मीमांसकों का अभिप्राय है।

नैयायिक मत से तम के द्रव्यत्व का खण्डन—

इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना यह है कि—

आवश्यकतेजोऽभावेनोपपत्तौ द्रव्यान्तरकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ताप्रतीतिस्तु भ्रमरूपा। कर्मवत्ता प्रतीतिरपि आलोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेव। तमोऽतिरिक्तत्वेऽनन्तावयवादिकल्पनागौरवञ्च स्यात्।

आवश्यक तेजोऽभाव से ही तम का उपपादन हो जाने से उसको अलग पदार्थ मानना उचित नहीं है। अर्थात् तेजः पदार्थ माना ही है। उसके अनित्य होने से उसका अभाव मानना भी आवश्यक है। उस तेजोऽभाव का नाम ही तम है। इस प्रकार तेजोऽभाव से ही तम का काम निकल जाता है इसलिए तम को अलग द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है। फिर उसको द्रव्य सिद्ध करने के लिए जो नीलरूप गुण का और चलन रूप क्रिया का आश्रय उसको कहा जाता है यह भी ठीक नहीं है। यह दोनों प्रतीतियाँ वस्तुतः भ्रम हैं। तम में नील रूप की प्रतीति उसी प्रकार भ्रम है जिस प्रकार आकाश में नील रूप की प्रतीति। आकाश वस्तुतः निराकार अतएव रूप रहित है। फिर भी स्वच्छ आकाश को देख कर 'नीलं नभः' इस प्रकार की प्रतीति तथा व्यवहार होता है। परन्तु आकाश के नीलरूप होने से इस प्रतीति को भ्रम मानने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। इसलिये जिस प्रकार आकाश में 'नीलं नभः' यह नीलरूपवत्ता प्रतीति भ्रान्त है। उसी प्रकार 'नील तमः' यह प्रतीत भी भ्रान्त है। रही चलन क्रिया की प्रतीति वह भी औपचारिक होने से भ्रान्ति ही है। जहाँ 'तमश्चलति' ऐसी प्रतीति होती है वहाँ वस्तुतः तम नहीं चलता है, अपितु प्रकाश अथवा आवरक द्रव्य चलता है। उसके चलने से जो तेज का भाग आवरण में आ जाता है, जहाँ जहाँ तेज नहीं पहुँच पाता है वही तेजोऽभाव वाला स्थल चलता हुआ प्रतीत होता है। इसलिए तम में गति की प्रतीति भी भ्रान्ति रूप ही है। अतएव तम को द्रव्य सिद्ध करने वाले दोनों हेतुओं के भ्रमरूप होने से तम द्रव्य नहीं है। यह नैयायिकों का आशय है। तम के इस द्रव्यत्व के खण्डन की चर्चा न्याय तथा वैशेषिक दोनों

१. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली प्र० ख०।

पृथिव्यादिद्रव्याणि ।

तत्र पृथिवीत्वसामान्यवती पृथिवी काठिन्यकोमलत्वाद्यवयव-संयोगविशेषेण युक्ता । घ्राण-शरीर-मृत्पिण्ड-पाषाण-वृक्षादिरूपा । रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-संस्कारवती । सा च द्विविधा, नित्याऽनित्या च । नित्या परमाणुरूपा । अनित्या च कार्यरूपा । द्विविधायाः पृथिव्या रूप-

---

दर्शनों में हुई है । न्याय दर्शन में साध्यसम हेत्वाभास का निरूपण करते हुए भाष्यकार ने लिखा है—

'द्रव्यं छायेति साध्यं, गतिमत्त्वादिति हेतुः । साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात् साध्यसमः । अयमप्यसिद्धत्वात् साध्यवत्प्रज्ञापयितव्यः । साध्यं तावदेतत् किं पुरुषवच्छायापि गच्छति, आहोस्विदावरकद्रव्ये संसर्पति, आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यते इति । सर्पता खलु द्रव्येण यो यस्तेजोभाग आव्रियते तस्य तस्यासन्निधिरेव अविच्छिन्नो गृह्यते इति । आवरणन्तु प्राप्तिप्रतिषेधः[1] ।

यहाँ 'तम' शब्द का प्रयोग न करके 'छाया' शब्द का प्रयोग किया है । तेजोऽभाव का ही नाम तम या छाया है । उस छाया में गति नहीं रहती है अपितु आवरक द्रव्य में गति होने से जहाँ जहाँ तेज का अभाव होता जाता है वहाँ छाया चलती प्रतीत होती है यह सिद्ध किया है । इसी विषय की चर्चा वैशेषिक दर्शन के पञ्चम अध्याय के द्वितीय आह्निक के निम्न दो सूत्रों में की गई है—

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ॥ १९ ॥[2]

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥ २० ॥

पृथिवी निरूपण—

उन [पृथिवी आदि नौ द्रव्यों] में [से] पृथिवीत्व जाति [सामान्य] से युक्त पृथिवी [कहलाती] है । [वह] कठोर [लोहा पत्थर आदि में] और कोमल [रूई धूल आदि में] आदि अवयव संयोग विशेष से युक्त [होती] है । [वह शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार की होती है ।] घ्राण [इन्द्रिय] शरीर [मनुष्य आदि का] और मिट्टी का पिण्ड पत्थर वृक्ष आदि [विषय] रूप [तीन भेद वाली] है । १ रूप, २ रस, ३ गन्ध, ४ स्पर्श, ५ संख्या, ६ परिमाण, ७ पृथक्त्व, ८ संयोग, ९ विभाग, १०, परत्व, ११ अपरत्व, १२ गुरुत्व, १३ द्रवत्व, १४ संस्कार [इन चौदह गुणों से] युक्त है ।

---

१. न्याय दर्शन वात्स्यायन भाष्य १, २, ४९ । २ वैशेषिक दर्शन ५, २, १९-२०

रस-गन्ध-स्पर्शा अनित्याः पाकजाश्च । पाकस्तु तेजःसंयोगः, तेन पृथिव्याः पूर्वरूपादयो नश्यन्त्यन्ये जन्यन्त इति पाकजाः ।

वह दो प्रकार की है नित्य और अनित्य । नित्य परमाणु रूप और अनित्य कार्यरूप [पृथिवी] है । [नित्य और अनित्य] दोनों प्रकार की पृथिवी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, [यह चारों गुण] अनित्य और पाकज [ही] होते हैं। [पाकज में] पाक [शब्द का अर्थ] तो तेजःसामान्य [अग्नि सामान्य] का संयोग है । उस [तेज अर्थात् अग्नि] के संयोग से पृथिवी [पार्थिव घट आदि] के पूर्व [श्याम] रूप आदि [कच्चे घड़े का श्याम रूप, विशेष प्रकार का रस, गन्ध तथा स्पर्श] नष्ट हो जाते हैं और [उनके स्थान पर रक्त रूप, कठोर स्पर्श, विशेष प्रकार का रस और गन्ध, आदि] दूसरे [गुण] उत्पन्न हो जाते हैं । [इसीलिए पाक अर्थात् अग्नि संयोग से उत्पन्न होने के कारण वह 'पाकज' गुण कहलाते हैं] ।

यह जो द्रव्य आदि के निरूपण का प्रकरण चल रहा है वह वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार लिखा जा रहा है यह बात पहिले कह चुके हैं । वैशेषिक दर्शन में १ द्वित्व, २ पाकजोत्पत्ति, तथा ३ विभागजविभाग इन तीनों का बड़ा विस्तृत विवेचन किया गया है । और उनके उत्पत्ति तथा विनाश की बड़ी जटिल प्रक्रिया वैशेषिक के प्रशस्तपाद भाष्य में प्रदर्शित की गई है । इसलिए यह तीनों वैशेषिक दर्शन के मुख्य विषय समझे जाते हैं । और वैशेषिक दर्शन के पाण्डित्य की परीक्षा उनके परिज्ञान के आधार पर ही होती है । इसलिए यह श्लोक प्रसिद्ध है कि—

> द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
> यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥

पाकजोत्पत्ति—

इन तीन विषयों में से पाकजोत्पत्ति भी एक विषय है । इसलिए उसको ठीक तरह से समझ लेना चाहिए । पृथ्वी में रहने वाले रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श यह चार ही गुण 'पाकज' अर्थात् अग्नि संयोग से उत्पन्न माने जाते हैं । कच्चा फल हरा होता है पक कर वह पीला या लाल आदि हो जाता है । कच्चे फल के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से पके फल के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श सब ही भिन्न होते हैं । फलों के पकने का कारण गर्मी अथवा तेजःसंयोग ही है यह स्पष्ट है । अतएव पके फल में जो विशेष रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह पृ० २२० ।

होते हैं वे पाक अर्थात् तेजःसंयोग से ही उत्पन्न होते हैं। उनके पहिले रूप, रस आदि नष्ट होकर पाक से उनमें नए रूप, रस आदि उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे सब 'पाकज' कहलाते हैं। यह 'पाकज' गुण केवल पृथ्वी में ही रहते हैं अन्यत्र नहीं। यह 'पाकज' पद की साधारण व्याख्या हुई।

'पीलुपाक' तथा 'पिठरपाक'—

कच्चा घड़ा जब 'अवाँ' में पकाया जाता है तब उसका श्याम रूप नष्ट होकर अग्नि संयोग से उसमें रक्त रूप उत्पन्न हो जाता है। इसलिए घट के रूप आदि चारों गुण 'पाकज' गुण हैं। परन्तु श्यामरूप नष्ट होकर रक्त रूप की उत्पत्ति किस प्रकार होती है उसकी प्रक्रिया में न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में थोड़ा भेद पाया जाता है। और इस विषय में दोनों के सिद्धान्त अलग अलग नाम से प्रसिद्ध हैं। पाकजोत्पति के विषय में वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त 'पीलुपाक' कहलाता है। 'पीलु' शब्द का अर्थ परमाणु है। 'पीलुपाक' अर्थात् परमाणुओं का पाक। वैशेषिक के मतानुसार परमाणुओं का पाक होता है। 'पाकज' रूप रस आदि गुण परमाणुओं में पैदा होते हैं। पिण्ड रूप घटादि में नहीं। इसके विपरीत नैयायिकों के सिद्धान्त में पाकज गुणों की उत्पत्ति परमाणुओं में नहीं अपितु घट के सम्पूर्ण 'पिण्ड' में होती है। इसलिए न्याय का सिद्धान्त 'पिठरपाक' नाम से प्रसिद्ध है। 'पिठर' शब्द का अर्थ है पिण्ड अर्थात् न्याय के मत में पाक परमाणुओं का नहीं किन्तु सम्पूर्ण घट पिण्ड का होता है। इसलिए न्याय के सिद्धान्त को 'पिठरपाक' कहते हैं।

वैशेषिक का पीलुपाक—

वैशेषिक दर्शन के 'पीलुपाक' सिद्धान्त के अनुसार 'पाकज' गुण परमाणुओं में उत्पन्न होते हैं अविभक्त पूर्ण घट में नहीं। घड़े के परमाणुओं में श्याम रूप का नाश होकर रक्त रूप की उत्पत्ति हो सके इसके लिए प्रत्येक परमाणु के बीच अग्नि का प्रवेश आवश्यक है। अतएव वैशेषिक की प्रक्रिया में पकते समय घड़े के परमाणुओं के घटारम्भक संयोग का नाश होकर उसके परमाणु अलग अलग हो जाते हैं। तब उन विभक्त परमाणुओं में श्याम रूप का नाश होकर नए रक्त रूप की उत्पत्ति होती है। और फिर वह रक्त परमाणु मिलकर घट को पुनः निर्मित करते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार घड़े के पकते समय 'आँवाँ' के भीतर एक बार कच्चे घड़े के सब परमाणु अलग अलग हो जाते हैं। अर्थात् घट का नाश हो जाता है। फिर उन विभक्त परमाणुओं में 'पाकज' रक्त रूप की उत्पत्ति हो जाने के बाद, प्राणियों

के अदृष्ट के द्वारा फिर उन रक्त परमाणुओं के संयोग से रक्त घट की उत्पत्ति होती है। इसी का नाम 'पीलूपाक' अर्थात् परमाणुओं का पाक है। इस सिद्धान्त में जो घड़े का नाश और उत्पत्ति मानी है उसका अर्थ केवल इतना ही है कि जब घड़ा अग्नि में रखा जाता है तब उसके परमाणुओं के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता है, वह एक दूसरे से बिल्कुल संयुक्त होते हैं। परन्तु जब उनके बीच अग्नि का प्रवेश होता है, तो उनमें कुछ थोड़ा सा अन्तर हो जाता है जिसके कारण उनके बीच अग्नि को प्रवेश करने का अवसर मिल जाता है। इसी अन्तर या विभाग को घट का नाश कहा जा सकता है। और रक्त रूप उत्पन्न होने के बाद घड़े के ठण्डे होते समय जैसे जैसे अग्नि उनके बीच से निकलता जाता है वह परमाणु फिर पूर्ववत् मिलते जाते हैं। इसी पुनः संयोग के द्वारा घट का पुनर्निर्माण होता है। यही वैशेषिक दर्शन की 'पीलुपाक' की प्रक्रिया है। इस 'पीलुपाक' सिद्धान्त का उपपादन वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में इस प्रकार किया गया है—

पार्थिवपरमाणुरूपादीनां पाकजोत्पत्तिविधानम्। घटादेरामद्रव्यस्याग्निना सम्बद्धस्याग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा तदारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते। तेभ्यो विभागाः, विभागेभ्यः संयोगविनाशाः, संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति। तस्मिन् विनष्टे स्वतन्त्रेषु अग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षाच्छ्यामादीनां विनाशः। पुनरन्यस्मादग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात् पाकजा जायन्ते। तदनन्तरं भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगात् पाकजेष्वणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगात् द्व्यणुकादिक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते। तत्र च कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः।

न च कार्यद्रव्य एव रूपाद्युत्पत्तिविनाशो वा सम्भवति, सर्वावयवेषु अन्तर्बहिश्च वर्तमानस्याग्निना व्याप्त्यभावात्। अणुप्रवेशादपि च व्याप्तिर्न सम्भवति, कार्यद्रव्यविनाशादिति[1]।

इन दोनों अनुच्छेदों में से पहिले अनुच्छेद में 'पीलूपाक' के अनुसार पाकजोत्पत्ति की प्रक्रिया दिखाई है और दूसरे अनुच्छेद में न्याय दर्शन के 'पिठरपाकवाद' का खण्डन किया है। कार्यद्रव्य अर्थात् घट के पिण्ड में ही पाकज रूप आदि गुणों का उत्पत्ति और विनाश सम्भव नहीं है। क्योंकि यदि घट का पिण्ड अग्नि में ज्यों का त्यों बना रहे, तो उसके भीतर के अवयवों में अग्नि का प्रवेश नहीं हो सकेगा इसलिए भीतर के अवयव रक्त नहीं होने चाहिए। परन्तु घड़े के खप्पड़ को तोड़ने पर उसके भीतर के अवयव भी लाल दिखाई

[1] वैशेषिक दर्शन, प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ४६-४७।

अप्त्वसामान्ययुक्ता आपः । रसनेन्द्रियशरीरसरित्समुद्रहिमकरकादिरूपाः । गन्धवर्जस्नेहयुक्तपूर्वोक्तगुणवत्यः । नित्या अनित्याश्च । नित्यानां रूपादयो नित्या एव । अनित्यानां रूपादयोऽनित्या एव ।

देते हैं । घड़े के अविकल रूप में बने रहने से भीतर के अवयवों में अग्नि का सम्बन्ध नहीं हो सकता है । इसलिए उसमें श्याम रूप का नाश और रक्त रूप की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती है । यदि यह कहा जाय कि परमाणुओं के भीतर अग्नि का प्रवेश हो जाने से घट में ही पाकज गुणों की उत्पत्ति हो सकती है, तो 'पीलुपाकवादी' इसी को घटादि कार्य द्रव्य का नाश कहता है । क्योंकि पहिले से घट के परमाणुओं में तनिक भी अन्तर या अवकाश नहीं है । बाद में अग्नि का संयोग होने पर अग्नि के ताप से प्रत्येक वस्तु फैलती है, विज्ञान के इस सिद्धान्त के अनुसार घटादि के अवयवों में भी फैलाव होता है अर्थात् उसके संयुक्त परमाणुओं में थोड़ा सा विभाग हो जाता है । 'पीलुपाकवादी' वैशेषिक इस से ही द्रव्यारम्भक संयोग का नाश, और उसके कारण, घट आदि द्रव्य का नाश मान लेता है ।

न्याय का पिठरपाक—

पाक के पूर्व, घट के परमाणुओं में इतना अन्तर नहीं रहता है कि उनके भीतर अग्नि प्रवेश कर सके । जब अग्नि के संयोग से वह परमाणु इतने विभक्त हो जाते हैं कि उनमें अग्नि को प्रवेश करने का अवसर मिल जाता है तो वैशेषिक मत में घट के अवयवों का यह विभाग ही घट का विनाश कहलाता है । इसलिए 'पिठर' अर्थात् पिण्ड में नहीं, अपितु 'पीलु' अर्थात् परमाणु में ही पाक होता है । यही वैशेषिक का 'पीलुपाक' सिद्धान्त हुआ ।

परन्तु 'पिठरपाकवादी' नैयायिक परमाणुओं के बीच अग्नि का प्रवेश मानने पर भी उसे द्रव्य का नाश नहीं कहता है । उसे द्रव्यनाश कहने से उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया का गौरव व्यर्थ ही मानना होता है । अतः वह 'पिठर' अर्थात् 'पिण्ड' में ही पाक मानता है । यही इन दोनों का भेद है ।

आपो निरूपण—

अप्त्व जाति से युक्त आप् [जल] है । रसनेन्द्रिय, [वरुणलोक में प्रसिद्ध जलीय] शरीर, और सरित्, समुद्र, हिम [बर्फ] और ओला आदि रूप [विषय] है । [पृथिवी के जो १४ गुण गिनाए थे उनमें से गन्ध को हटा कर उसके स्थान पर स्नेह को रख देने से] गन्ध रहित और स्नेह युक्त पूर्वोक्त चौदह गुणों [अर्थात् १ रूप, २ रस, ३ स्नेह, ४ स्पर्श, ५ संख्या, ६ परिमाण, ७ पृथक्त्व, ८ संयोग, ९ विभाग, १० परत्व, ११ अपरत्व, १२ गुरुत्व, १३ द्रवत्व

तेजस्त्वसामान्यवत् तेजः । चक्षुःशरीरसवितृसुवर्णवह्निविद्युदादि-प्रभेदम् । रूप-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वाऽपरत्व-द्रवत्व-संस्कारवत् । नित्यमनित्यञ्च पूर्ववत् । तच्चतुर्विधम् । ।

१ उद्भूतरूपस्पर्शम् । २ अनुद्भूतरूपस्पर्शम् । ३ अनुद्भूतरूप-

और १४ संस्कार] से युक्त हैं । [वह] नित्य और अनित्य [दो प्रकार के] है । [नित्य परमाणु रूप और अनित्य कार्य रूप होते हैं] । नित्य [अर्थात् परमाणु रूप] के रूपादि गुण नित्य ही [होते] हैं और अनित्य [कार्य रूप जलों] के रूपादि गुण [भी] अनित्य ही होते हैं ।

तेजोनिरूपण—

तेजस्त्व [अग्नित्व] सामान्य से युक्त तेज [होता] है । [वह भी शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का होता है ।] चक्षु [इन्द्रिय], शरीर [सूर्यलोक-वासियों के शरीर तैजस शरीर होते हैं] और सूर्य, सुवर्ण, अग्नि, विद्युत् आदि [विषय रूप] भेदों से युक्त होता है । १ रूप, २ स्पर्श, ३ संख्या, ४ परिमाण, ५ पृथक्त्व, ६ संयोग, ७ विभाग, ८ परत्व ९ अपरत्व, १० द्रवत्व, ११ संस्कार [इन ग्यारह गुणों] से युक्त होता है । [वह भी पृथिवी आदि के समान] नित्य और अनित्य पूर्ववत् होता है । [अर्थात् परमाणु रूप अग्नि नित्य और कार्य रूप अग्नि अनित्य होता है] वह चार प्रकार का होता है ।

१ उद्भूत रूपस्पर्श [जिसमें अग्नि का भास्वर शुक्ल रूप और उष्ण स्पर्श दोनों उद्भूत अर्थात् प्रत्यक्ष के योग्य हैं । जैसे सूर्य आदि अथवा अग्नि आदि । इन दोनों में अग्नि का भास्वर शुक्ल रूप और उसका उष्ण-स्पर्श दोनों उद्भूत अथवा प्रत्यक्ष अनुभव के योग्य हैं]

२ अनुद्भूतरूप स्पर्श [अर्थात् जिसमें तेज का भास्वर शुक्ल रूप और उष्णस्पर्श दोनों में से कोई भी उद्भूत अर्थात् अनुभव के योग्य न हो । जैसे चक्षु इन्द्रिय । चक्षु इन्द्रिय, रूप का ग्राहक होने से तैजस इन्द्रिय है । परन्तु उसमें न तो तेज का भास्कर शुक्ल रूप ही अनुभव होता है और न उष्ण स्पर्श ही अनुभव होता है । अतः उसके रूप और स्पर्श दोनों ही अनुद्भूत हैं । जो चक्षु आंख से दिखाई देती है । वह तो केवल गोलक मात्र है । चक्षु इन्द्रिय तो उस गोलक से भिन्न उसमें रहने वाली शक्ति रूप है । अतः गोलक में रूप स्पर्श उद्भूत होने पर भी चक्षु इन्द्रिय अनुद्भूतरूपस्पर्श ही है ।

३ अनुद्भूतरूप और उद्भूत स्पर्श [जैसे गरम पानी में रहने वाली अग्नि का उष्ण स्पर्श तो अनुभव होता है परन्तु उसका भास्वर शुक्ल रूप दिखाई नहीं देता ।]

मुद्भूतस्पर्शम् । ४ उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शञ्चेति ।

उद्भूतरूपस्पर्शं यथा सौरादितेजः पिण्डीभूतं तेजो वह्न्यादिकम् ।

---

४ उद्भूतरूप और अनुद्भूतस्पर्श [जैसे प्रदीपप्रभामण्डल । प्रदीप का प्रकाश तो बहुत दूर से दिखाई देता है अतएव उसका भास्वर शुक्ल रूप तो उद्भूत है परन्तु उष्ण स्पर्श अनुभव में न आने के अनुद्भूत है ।]

[आगे ग्रन्थकार इन चारों भेदों के उदाहरण देते हैं ।]

१ उद्भूतरूपस्पर्श [तेज का उदाहरण] जैसे सूर्य आदि का तेज अथवा पुञ्जीकृत अग्नि आदि [इनका भास्वरशुक्ल रूप और उष्ण स्पर्श दोनों उद्भूत अर्थाद् अनुभव योग्य हैं]

सुवर्ण का तेजस्त्व—

तेज के विषय-रूप में 'सवितृसुवर्णवह्निविद्युदादिप्रभेदम्' कह कर तेज या अग्नि के जो चार भेद दिखलाए हैं उनमें 'सुवर्ण' भी एक है । मीमांसक लोग सुवर्ण को पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से भिन्न अलग द्रव्य मानते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक भी सुवर्ण को एक अलग तत्त्व स्वीकार करते हैं । परन्तु न्याय और वैशेषिक में सुवर्ण को तेज के अन्तर्गत माना है । अर्थात् वह तेज का विशेष भेद है । सुवर्ण का तैजस पदार्थ मानने में उनकी युक्ति यह है कि शुद्ध सुवर्ण को किसी तापमान तक गरम किया जाय वह जल आदि के समान बाष्प आदि के रूप में उड़ेगा नहीं बना ही रहेगा । इसलिए वह तेजोरूप अथवा तैजस पदार्थ है । उनका अनुमान वाक्य इस प्रकार बनता है । 'सुवर्णं तैजसम् असति प्रतिबन्धके अत्यन्तानलसंयोगे सत्यप्यनुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवी' । अर्थात् प्रतिबन्धक के अभाव में अत्यन्तानल संयोग होने पर भी अनुच्छिद्यमानजन्य द्रवत्व युक्त होने से सुवर्ण तैजस है । आयुर्वेद में सुवर्ण को भस्म करने की विधियां दी हैं परन्तु वह औषधादि प्रतिबन्धक का योग होता ही है । द्रवत्व प्रतिबन्धक किसी औषधादि के प्रयोग के बिना शुद्ध सुवर्ण का द्रवत्व किसी भी तापमान पर नष्ट नहीं होता । इसलिए सुवर्ण तैजस द्रव्य है । यह नैयायिकों का मत है ।

सुवर्ण का पञ्चम प्रकारत्व—

अब प्रश्न यह होता है कि सुवर्ण यदि तैजस द्रव्य है तो उसमें तेज का भास्वर शुक्ल रूप और उष्णस्पर्श अनुभव क्यों नहीं होता ? सुवर्ण का रूप, भास्वर शुक्ल के स्थान पर पीत, और उसका स्पर्श उष्णके स्थान पर अनुष्णाशीत क्यों उपलब्ध होता है ? इसलिए नैयायिकों ने सुवर्ण को 'उद्भूताभिभूतरूपस्पर्श'

सुवर्णन्तु उद्भूताभिभूतरूपस्पर्शम् । तदनुद्भूतरूपत्वेऽचाक्षुषं स्यात्, अनुद्भूतस्पर्शत्वे त्वचा न गृह्येत। अभिभवस्तु बलवत्सजातीयेन पार्थिवरूपेण स्पर्शेन च कृतः।

अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजो यथा चक्षुरिन्द्रियम् । अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं यथा तप्तवारिस्थं तेजः। उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं यथा प्रदीपप्रभामण्डलम्।

माना है। अर्थात् उसके उष्णस्पर्श और भास्वर शुक्ल रूप को विजातीय और बलवत् पार्थिव रूप तथा स्पर्श ने अभिभूत कर दिया है। इसलिये उसमें पीतरूप और अनुष्णाशीतस्पर्श प्रतीत होता है। उसमें रूप अथवा स्पर्श में से किसी को भी अनुद्भूत नहीं मान सकते हैं क्योंकि रूप के अनुद्भूत होने पर उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष न होगा और स्पर्श के अनुद्भूत होने पर त्वचा से उसका ग्रहण सम्भव नहीं होगा। इसलिए रूप तथा स्पर्श के अनुद्भूतत्व के आधार पर तेज के जो चार भेद ऊपर दिखाए हैं उन चारों से भिन्न सुवर्ण एक अलग ही पांचवां भेद 'उद्भूताभिभूतरूपस्पर्श' है। यही बात आगे कहते हैं।

सुवर्ण तो [पूर्वोक्त चारो भेदों में से भिन्न] 'उद्भूताभिभूतरूपस्पर्श' [पांचवां भेद] है। [क्योंकि] अनुद्भूतरूप होने पर वह अचाक्षुष हो जायगा और अनुद्भूतस्पर्श होने पर त्वचा से गृहीत नहीं होगा। [इसलिए उसके रूप और स्पर्श दोनों को उद्भूत मानना होगा। परन्तु उसमें अग्नि के भास्वर शुक्ल रूप तथा उष्णस्पर्श के स्थान पर पीत रूप और अनुष्णाशीत स्पर्श उपलब्ध होता है इस कारण उसको 'उद्भूताभिभूतरूपस्पर्श' पांचवां भेद मानना चाहिए। उसके रूप और स्पर्श का] अभिभव तो बलवान् सजातीय पार्थिव रूप तथा स्पर्श ने कर दिया है। [इसलिए पार्थिव रूप और स्पर्श से अभिभूत होने से पीत रूप और अनुष्णाशीतस्पर्श सुवर्ण में उपलब्ध होता है]।

२ अनुद्भूतरूपस्पर्श तेज [का उदाहरण] जैसे चक्षु इन्द्रिय। [चक्षु तैजस इन्द्रिय है। परन्तु उस में तेज का भास्वरशुक्ल रूप तथा उष्णस्पर्श दोनों अनुभव नहीं होते हैं]।

३ अनुद्भूतरूप और उद्भूतस्पर्श [वाले तेज का उदाहरण] जैसे गरम पानी में स्थित तेज [उस में उष्णस्पर्श तो अनुभव होता है परन्तु भास्वर शुक्ल रूप अनुभव नहीं होता है]।

४ उद्भूतरूप और अनुद्भूत स्पर्श [वाले तेज का उदाहरण] जैसे, दीपक का प्रकाश-मण्डल। उसका भास्वर शुक्ल रूप तो दिखाई देता है परन्तु उष्णस्पर्श अधिक दूर पर अनुभव नहीं होता है]।

वायुत्वाभिसम्बन्धवान् वायुः । त्वगिन्द्रियप्राणवातादिप्रभेदः । स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-वेगवान् । स च स्पर्शाद्यनुमेयः । तथाहि योऽयं वायौ वाति, अनुष्णाशीतस्पर्श उपलभ्यते स गुणत्वाद् गुणिनमन्तरेणानुपपद्यमानो गुणिनमनुमापयति । गुणी च वायुरेव । पृथिव्याद्यनुपलब्धेः । वायुपृथिवीव्यतिरेकेण अनुष्णाशीत-स्पर्शाभावात् । स च द्विविधो नित्याऽनित्यभेदात् । नित्यः परमाणुरूपो वायुः, अनित्यः कार्यरूप एव ।

वायु-निरूपण—

वायुत्व जाति के सम्बन्ध से युक्त वायु [कहलाता] है। त्वगिन्द्रिय, प्राण, तथा वात आदि [विषय] भेद से युक्त है। १ स्पर्श, २ संख्या ३ परिमाण, ४ पृथक्त्व, ५ संयोग, ६ विभाग, ७ परत्व, ८ अपरत्व और ९ वेग [इन नौ गुणों] से युक्त है। और वह स्पर्शादि से अनुमेय है। जैसे कि वायु के चलने पर जो यह अनुष्ण अशीत स्पर्श प्रतीत होता है वह गुण होने से गुणी के बिना अनुपपद्यमान होकर गुणी का अनुमान कराता है। और [वह] गुणी वायु ही है। [अनुष्णाशीतस्पर्श के अनुभव के स्थल में] पृथिवी आदि की उपलब्धि न होने से। पृथिवी और वायु के बिना अनुष्णाशीत स्पर्श का अभाव होने से। [हवा चलते समय जो स्पर्श का अनुभव होता है उसका आश्रय वायु ही है]। और वह नित्य तथा अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। परमाणु रूप वायु नित्य है और कार्यरूप वायु अनित्य है।

अर्थात् नौ द्रव्यों में से १ आकाश, २ काल, ३ दिक्, ४ आत्मा और ५ मन इन पांच द्रव्यों में तो स्पर्श रहता ही नहीं है। इसलिए १ पृथ्वी, २ जल, ३ वायु और ४ अग्नि इन चार द्रव्यों में ही स्पर्श रहता है। उन में भी अग्नि का स्पर्श उष्ण और जल का स्पर्श शीत होता है। पृथ्वी और वायु इन दोनों का अनुष्ण-अशीत स्पर्श होता है। वायु के चलने पर जो अनुष्णाशीत स्पर्श अनुभव होता है वह अनुमान होता है। इस प्रकार परिशेषानुमान से वायु की सिद्धि होती है।

स्थूल भूतों की उत्पत्ति का क्रम—

इस प्रकार १ पृथ्वी, २ अप्, ३ तेज और ४ वायु इन चार द्रव्यों का निरूपण हो गया। आगे इनकी उत्पत्ति तथा विनाश का क्रम कहते हैं। न्याय और वैशेषिक के मत में सबसे सूक्ष्म और नित्य प्राकृतिक तत्त्व परमाणु है।

कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः

तत्र पृथिव्यादीनां चतुर्णां कार्यद्रव्याणामुत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते-द्वयोः परमाण्वोः क्रियया संयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते। तस्य परमाणू समवायिकारणं, तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्, अदृष्टादि निमित्तकारणम्। ततो द्व्यणुकानां त्रयाणां क्रियया संयोगे सति त्र्यणुकमुत्पद्यते। तस्य द्व्यणुकानि समवायिकारणं, शेषं पूर्ववत्। एवं त्र्यणुकैश्चतुर्भिश्चतुरणुकम्। चतुरणुकैरपरं स्थूलतरं, स्थूलतरैरपरं स्थूलतमम्। एवं क्रमेण महापृथिवी, महत्य आपो, महत् तेजो, महांश्च वायुरुत्पद्यते। कार्यगता रूपादयः स्वाश्रयसमवायिकारणगतेभ्यो रूपादिभ्यो जायन्ते। 'कारणगुणा हि कार्य-गुणानारभन्ते' इति न्यायात्।

इन परमाणुओं से ही सारे जगत् की उत्पत्ति होती है। इसलिए पहिले इन परमाणुओं से इस स्थूल जगत् की उत्पत्ति किस क्रम से होती है यह दिखलाते हैं।

उनमें पृथिवी आदि चार कार्यरूप द्रव्यों के उत्पत्ति और विनाश का क्रम वर्णन करते हैं। दो परमाणुओ में [परमात्मा के संकल्प और प्राणियों के अदृष्ट के कारण होने वाली] क्रिया से संयोग होने पर [दोनों परमाणुओं से मिल कर एक] द्वयणुक उत्पन्न होता है। दोनों परमाणु उस [द्वयणुक] के समवायि-कारण [होते हैं], उन [दोनों परमाणुओं] का संयोग असमवायि कारण, और अदृष्टादि निमित्त कारण होता है। उसके बाद तीन द्वयणुकों का [ईश्वर के संकल्प तथा अदृष्ट आदि से जन्य] क्रिया से संयोग होने पर [तीन द्वयणुकों से मिलकर एक] त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। तीनों द्वयणुक उस [त्र्यणुक] के समवायिकारण होते हैं और शेष पूर्ववत् (अर्थात् तीनों द्वयणुकों का संयोग त्र्यणुक का असम-वायिकारण तथा अदृष्टादि निमित्त कारण होता] है। इसी प्रकार चार त्र्यणुकों से चतुरणुक, चतुरणुकों से अन्य स्थूलतर, और स्थूलतरों से अन्य स्थूलतम [पदार्थ] उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार [महा] स्थूल पृथिवी, [महत्] स्थूल जल, [महत्] स्थूल तेज, और [महान्] स्थूल वायु उत्पन्न होता है। कार्य [पृथिवी आदि] में रहने वाले रूप आदि [गुण] अपने [रूपादि के] आश्रय [भूत द्वयणुकादि] के समवायिकारण [परमाणु आदि] में रहने वाले रूप आदि [गुणों] से उत्पन्न होते हैं। 'कारण के गुण कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं' इस नियम के होने से।

कार्य द्रव्यों के विनाश का क्रम—

आगे विनाश का क्रम कहते हैं। कार्य के विनाश के दो प्रकार हैं।

इत्थमुत्पन्नस्य रूपादिमतः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयवेषु कपालादिषु नोदनादभिघाताद्वा क्रिया जायते । तया विभागस्तेनावयव्यारम्भकस्यासमवायिकारणीभूतस्य संयोगस्य नाशः क्रियते, ततः कार्यद्रव्यस्य घटादेरवयविनो नाशः। एतेनावयव्यारम्भकासमवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो दर्शितः ।

क्वचित् समवायिकारणनाशे द्रव्यनाशो यथा पूर्वोक्तस्यैव पृथिव्यादेः संहारे सञ्जिहीर्षोर्महेश्वरस्य सञ्जिहीर्षा जायते । ततो द्व्यणुकारम्भकेषु परमाणुषु क्रिया, तया विभागः, ततस्तयोः संयोगनाशे सति द्व्यणुकेषु

एक समवायिकारण के नाश से कार्य का नाश और दूसरा असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश। साधारणतः घट आदि कार्यों का नाश उसके असमवायिकारण अर्थात् अवयव-संयोग के विनाश से ही होता है। परन्तु प्रलय काल में संसार का नाश प्रायः समवायिकारण के नाश से होता है। उस समय परमात्मा की संहारेच्छा से विश्व के कारणभूत परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। उससे द्व्यणुकों के बनाने वाले संयुक्त परमाणुओं में विभाग, और विभाग से द्व्यणुकारम्भक संयोग का नाश हो जाने से द्व्यणुकों का नाश तो परमाणु-संयोग रूप असमवायिकारण के नाश से होता है। परन्तु द्व्यणुक के बाद जो त्र्यणुक आदि का नाश होता है वह समवायिकारण रूप द्व्यणुक आदि के नाश से होता है। इसलिए समवायिकारण और असमवायिकारण के नाश से कार्य का नाश होने से कार्य के नाश की दो प्रकार की प्रक्रियाएँ आगे दिखाते हैं। इनमें पहिले असमवायिकारण के नाश से कार्यनाश की प्रक्रिया दिखलाते हैं।

इस प्रकार उत्पन्न हुए रूपादिमान् कार्यद्रव्य घट आदि के अवयव रूप कपाल आदि में नोदन [चेतन-प्रदत्त प्रेरणा] अथवा अभिघात [अचेतन पदार्थ के साथ संघर्ष] से क्रिया उत्पन्न होती है। उस से [संयुक्त कपाल आदि अवयवों में] विभाग [उत्पन्न होता है] उस [विभाग] से अवयवी [घट आदि] के आरम्भक [असमवायि कारण] संयोग का नाश होता है। उससे कार्यद्रव्य घटादि अवयवी का नाश होता है। इस [उदाहरण] से अवयवी [घट आदि] के आरम्भक [कपाल आदि के संयोग रूप] असमवायि कारण के नाश [होने] से द्रव्य का नाश दिखलाया है।

कहीं समवायिकारण के नाश [होने] से भी द्रव्य का नाश [होता है] जैसे पूर्वोक्त पृथिवी आदि के संहार में ही संहारेच्छुक परमात्मा में संहार की इच्छा उत्पन्न होती है। उससे द्व्यणुकों के आरम्भक परमाणुओं में क्रिया, [और] उससे विभाग [उत्पन्न होता है] उस के बाद उन दोनों [परमाणुओं] के संयोग

नष्टेषु स्वाश्रयनाशात् त्र्यणुकादिनाशः । एवं क्रमेण पृथिव्यादिनाशः । यथा वा तन्तूनां नाशे पटनाशः । तद्गतानां रूपादीनां स्वाश्रयनाशेनैव नाशः । अन्यत्र तु सत्येवाश्रये विरोधिगुणप्रादुर्भावेण विनाशः । यथा पाकेन घटादौ रूपादिनाश इति ।

परमाणुसिद्धिः

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम् ?

उच्यते, यदिदं जालं सूर्यमरीचिस्थं सर्वतः सूक्ष्मतमं रज उपलभ्यते तत् स्वल्पपरिमाणद्रव्यारब्धं कार्यद्रव्यत्वात् घटवत् । तच्च द्रव्यं कार्यमेव महद्द्रव्यारम्भकस्य कार्यत्वनियमात् । तदेवं द्व्यणुकाख्यं द्रव्यं सिद्धम् । तदपि स्वल्पपरिमाणसमवायिकारणारब्धं कार्यद्रव्यत्वाद् घटवत् । यस्तु द्व्यणुकारम्भकः स एव परमाणुः । स चानारब्ध एव ।

का नाश होने पर द्व्यणुकों के नष्ट हो जाने पर, अपने आश्रय [अर्थात् त्र्यणुक के आश्रय द्व्यणुक] के नाश होने से त्र्यणुक आदि का नाश हो जाता है । इस प्रकार [त्र्यणुक के नाश से चतुरणुक आदि के नाश] क्रम से [स्थूल] पृथिवी आदि का नाश होता है । अथवा जैसे तन्तुओं का नाश हो जानेपर [होने वाला] पट का नाश । [दोनों उदाहरण समवायिकारण के नाश से कार्य के नाश को दिखलाने वाले उदाहरण हैं । इन दोनो में] उन [त्र्यणुकादि अथवा पट आदि] में रहने वाले रूपादि [गुणों] का अपने आश्रय [समवायि कारण] के नाश से ही नाश होता है । और अन्यत्र [घट आदि में] तो आश्रय [घटादि] के विद्यमान रहते हुए ही विरोधी गुण [पाकज रक्त रूपादि] के प्रादुर्भाव से ही [पूर्ववर्ती रूपादि का] नाश होता है । जैसे पाक से घटादि में रूपादि का नाश होता है ।

परमाणुसिद्धि—

[प्रश्न] अच्छा फिर परमाणु की सत्ता में क्या प्रमाण है ?

[उत्तर] कहते हैं । यह जो [बन्द कमरे में किवाड़ आदि के किसी छिद्र में से आती हुई] सूर्यकिरणों में चारो ओर सूक्ष्मतम धूलि [के कण] उपलब्ध होते हैं [वह त्रसरेणु या त्र्यणुक कहलाते हैं । उनका षष्ठ भाग परमाणु होता है] वह कार्य द्रव्य होने से स्वल्प परिमाण वाले द्रव्य [तीन द्व्यणुकों] से बना है घट के समान [इस अनुमान से उस त्रसरेणु या त्र्यणुक रूप धूलि-कण के अवयव रूप द्व्यणुक की सिद्धि होती है] और वह [द्व्यणुक] भी कार्य [द्रव्य] ही है । महत् [परिमाण वाले त्र्यणुक] के आरम्भक के कार्य द्रव्य होने का नियम होने से । इस प्रकार द्व्यणुक नामक [कार्यभूत] द्रव्य सिद्ध हुआ । वह भी स्वल्प परिमाण वाले द्रव्य से बना हुआ है कार्य द्रव्य होने से घट के समान । और जो [उस] द्व्यणुक का कारण है वह ही

ननु कार्यद्रव्यारम्भकस्य कार्यद्रव्यत्वाभिचारात् तस्य कथमनारब्धत्वम्? उच्यते, अनन्तकार्यपरम्परादोषप्रसङ्गात्। तथा च सत्यनन्तद्रव्यारब्धत्वाविशेषेण मेरुसर्षपयोरपि तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गः। तस्मादनारब्ध एव परमाणुः।

परमाणु है। और वह अनारब्ध [नित्य] ही [होता] है।

[प्रश्न] कार्य [अनित्य] द्रव्य के आरम्भक [कारण] का अवश्य [अनित्य] कार्य द्रव्य होने का नियम होने से [अनित्य द्व्यणुक के उत्पादक] उस [परमाणु] का अनारब्धत्व [नित्यत्व] कैसे [हो सकता] है?

[उत्तर] कहते हैं। [परमाणु को अनित्य कार्य द्रव्य मानने पर] अनन्त कार्य-परम्परा का दोष आ जाने से। [अर्थात् यदि परमाणु का भी कारण माना जाय तो फिर उसके कारण का भी कारण, फिर उसका भी कारण, इस प्रकार अनन्त कारण और अनन्त कार्य-परम्परा माननी होगी जिसकी कहीं विश्रान्ति नहीं होगी] और वैसा होनेपर [मेरु पर्वत और सरसों के दाना दोनों के] अनन्त अवयवों से निर्मित होने में समानता होने से मेरु [पर्वत] और सरसों [के दाने] का समान परिमाण होने लगेगा। [क्योंकि मेरु के भी अनन्त अवयव हैं और सर्षप के अनन्त अवयव हैं। इस लिये जब दोनों ही अनन्त अवयवों से बने हैं तो दोनों का परिमाण भी समान मानना चाहिए। परन्तु ऐसा मानना युक्ति विरुद्ध है] इसलिए परमाणु अनारब्ध [नित्य] ही है।

परमाणु को नित्य, अनारब्ध, या अवयवरहित मानने पर तो यह कहा जा सकता है कि सरसों का दाना १०० पचास या किसी परिमित संख्या के परमाणु से बना है और मेरु पर्वत उससे अरबों गुना अधिक परमाणुओं से बना होने से उनके परिमाण में साम्य प्राप्त नहीं होता है। परन्तु परमाणु के भी अवयव माने तो फिर सर्षप तथा सुमेरु दोनों के अवयवों की धारा कहीं समाप्ति न हो सकेगी। अर्थात् दोनों के ही अनन्त अवयव होंगे इसलिए दोनों के अनन्त अवयवों से निर्मित होने के कारण दोनों का आकार या परिमाण समान मानना होगा। जो कि युक्तिसङ्गत नहीं है।

द्व्यणुक तथा त्र्यणुक के अवयवों का नियम—

इस प्रकार परमाणु की सत्ता और उसकी नित्यता सिद्ध की। अब यह बतलाते हैं कि दो परमाणुओं से ही द्व्यणुक की, और तीन द्व्यणुकों से ही एक त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है ऐसा क्यों मानते हैं? एक परमाणु से अथवा तीन परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति क्यों नहीं मानते? इसी प्रकार

द्व्यणुकादीनामवयवनियमः

द्व्यणुकं तु द्वाभ्यामेव परमाणुभ्यामारभ्यते । एकस्यानारम्भकत्वात्, त्र्यादिकल्पनायां प्रमाणाभावात् । त्र्यणुकं तु त्रिभिरेव द्व्यणुकैरारभ्यते ।

दो द्व्यणुकों अथवा चार द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक की उत्पत्ति न मान कर तीन ही द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक की उत्पत्ति क्यों मानते हैं ? इसका उत्तर यह है कि एक परमाणु से कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है । और जब दो परमाणुओं से द्व्यणुक बन सकता है तब तीन तक क्यों बढ़ा जाय । इसी प्रकार त्र्यणुक की उत्पत्ति तीन द्व्यणुकों से मानी है । उसमें भी एक द्व्यणुक से कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । दो द्व्यणुकोंसे यदि त्र्यणुक की उत्पत्ति माने तो त्र्यणुक में पाया जाने वाला 'महत्-परिमाण' उत्पन्न नहीं हो सकता है । क्योंकि 'महत्-परिमाण' की उत्पत्ति के दो ही कारण हैं । एक 'कारण-महत्त्व' और दूसरा 'कारण-बहुत्व' । अर्थात् कार्य में जो 'महत्-परिमाण' उत्पन्न होता है वह या तो तब उत्पन्न हो सकता है जब कि उसके कारण में 'महत्-परिमाण' हो । अथवा उसके कारण में बहुत संख्या हो । इन दो के अतिरिक्त कार्य में 'महत्-परिमाण' की उत्पत्ति का और कोई कारण नहीं है । त्र्यणुक का परिमाण 'महत्-परिमाण' है यह 'महत् परिमाण' तब ही उत्पन्न हो सकता है जब कि या तो त्र्यणुक के कारण अर्थात् द्व्यणुक में 'महत्-परिमाण' हो अथवा उसमें बहुत्व संख्या हो । सो त्र्यणुक के कारणभूत द्व्यणुक का परिमाण 'अणु-परिमाण' होने से उसमें 'महत्-परिमाण' तो रहता नहीं है । इसलिए त्र्यणुक के 'महत्-परिमाण' का कारण, 'कारण-महत्त्व' तो बनता नहीं, इसलिए दूसरा कारण अर्थात् 'कारण-बहुत्व' को ही द्व्यणुक के 'महत्-परिमाण' का कारण मानना चाहिए । और बहुत संख्या कम से कम तीन की अपेक्षा रखती है । इसलिए दो द्व्यणुकों से तो त्र्यणुक की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । अतएव बहुत्व-संख्या वाले तीन द्व्यणुकों से ही त्र्यणुक की उत्पत्ति माननी चाहिए । और जब बहुत्व संख्या तीन में बन जाती है तब आगे चार या पांच द्व्यणुकों को त्र्यणुक का कारण मानने की आवश्यकता नहीं रहती । इसलिए तीन द्व्यणुकों से ही त्र्यणुक की उत्पत्ति मानना उचित है । इसी बात को आगे कहते हैं ।

द्व्यणुक तो दो परमाणुओं से ही बनता है । एक [परमाणु] के अनारम्भक होने से और [जब दो परमाणुओं से ही द्व्यणुक की उत्पत्ति बन जाती है तब] तीन आदि की कल्पना करने में कोई प्रमाण न होने से [दो परमाणुओं से ही

एकस्यानारम्भकत्वात् । द्वाभ्यामारम्भे कार्यगुणमहत्त्वानुपपत्तिप्रसङ्गात् । कार्ये हि महत्त्वं कारणमहत्त्वाद्वा कारणबहुत्वाद्वा । तत्र प्रथमस्यासम्भवाच्चरममेषितव्यम् । न च चतुरादिकल्पनायां प्रमाणमस्ति त्रिभिरेव महत्त्वारम्भोपपत्तेरिति ।

शब्दगुणमाकाशम् । शब्द-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-वत् । एकं विभु नित्यञ्च । शब्दलिङ्गकञ्च ।

शब्दलिङ्गकत्वमस्य कथं ?

परिशेषात् । 'प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् परिशिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः' ।

द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है]। और त्र्यणुक तो तीन द्व्यणुकों से ही उत्पन्न होता है। एक [द्व्यणुक] के आरम्भ होने से । दो [द्व्यणुकों] से [त्र्यणुक का] आरम्भ मानने पर कार्य [त्र्यणुक] के गुण, महत् [परिमाण] की अनुपपत्ति होने से [दो [द्व्यणुकों को त्र्यणुक का उत्पादक नहीं मान सकते हैं]। कार्य में महत्त्व ['महत् परिमाण' के] कारण के 'महत् परिमाण' से अथवा कारण के बहुत्व [इन दो ही कारणों] से आता है । उसमें से [त्र्यणुक के महत्त्व के उत्पादन के लिए] प्रथम [अर्थात् कारण-महत्त्व] के असम्भव होने से [त्र्यणुक के कारण द्व्यणुक में 'महत् परिमाण' है ही नहीं क्योंकि उसका परिमाण 'अणु-परिमाण' माना गया है । इसलिये कारणमहत्त्वात् त्र्यणुक से महत्त्व असम्भव होने से] अन्तिम [अर्थात् 'कारण-बहुत्व को ही त्र्यणुक में 'महत्-परिमाण' का उत्पादक] मानना चाहिए । [और वह बहुत्व, तीन संख्या में बन जाता है इसलिये उससे अधिक] चार आदि [को कारण मानने] की कल्पना में प्रमाण नहीं है । तीन द्व्यणुकों से ही [त्र्यणुक के] महत्त्व की उत्पत्ति हो जाने से [तीन से अधिक अथवा कम द्व्यणुकों को त्र्यणुक का कारण मानना उचित नहीं है अपितु तीन द्व्यणुकों के ही त्र्यणुक का कारण मानना चाहिए]।

आकाश-निरूपण—

शब्द गुण वाला आकाश है। १ शब्द, २ संख्या, ३ परिमाण, ४ पृथक्त्व, ५ संयोग, और ६ विभाग [इन ६ गुणों] वाला है। [वह] एक, नित्य, और विभु और शब्दलिङ्गक [अर्थात् शब्द रूप लिङ्ग से अनुमान द्वारा सिद्ध होने वाला] है।

[प्रश्न] इस [आकाश] का शब्दलिङ्गत्व कैसे है]

[उत्तर] परिशेष [अनुमान] से [सिद्ध होने के कारण]। 'प्राप्त' का निषेध

तथाहि शब्दस्तावद् विशेषगुणः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् रूपादिवत्। गुणश्च गुण्याश्रित एव। न चास्य पृथिव्यादिचतुष्टयमात्मा च गुणी भवितुमर्हति, श्रोत्रग्राह्यत्वाच्छब्दस्य। ये हि पृथिव्यादीनां गुणा न ते श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यन्ते, यथा रूपादयः, शब्दस्तु श्रोत्रेण गृह्यते। न दिक्कालमनसां गुणो विशेषगुणत्वात्। अत एभ्योऽष्टभ्योऽतिरिक्तः शब्दगुणी एषितव्यः, स एवाकाश इति।

स चैको, भेदे प्रमाणाभावात्। एकत्वेनैवोपपत्तेः। एकत्वाच्चाकाशत्वं नाम सामान्यमाकाशे न विद्यते सामान्यस्यानेकवृत्तित्वात्—विभु चाकाशम्

हो जाने पर अन्य [किसी को प्राप्ति] का प्रसङ्ग न होने से जो बच रहे उसको स्वीकार कर लेना 'परिशेष' [अनुमान कहलाता है इस प्रकार परिशेषानुमान का लक्षण भाष्यकार ने किया] है।

[यहाँ शब्द के विषय में परिशेषानुमान का यह लक्षण इस प्रकार घटता है कि] जैसे शब्द सामान्य [जाति] युक्त होकर हमारी बाह्य एक [श्रोत्र] इन्द्रिय से ग्राह्य होने से रूपादि के समान 'विशेष गुण' है। और गुण, गुणी के आश्रित ही होता है। [आकाश को छोड़कर शेष आठ द्रव्यों में से [पृथिवी आदि चार [पृथिवी, अप्, तेज, वायु] और आतमा [यह पांच] इस [शब्द-गुण] के गुणी नहीं हो सकते हैं। शब्द के श्रोत्र-ग्राह्य होने से [पृथिवी आदि चार और आतमा इन पांचों के विशेष गुणों में से कोई भी श्रोत्र-ग्राह्य नहीं है अतएव श्रोत्रग्राह्य शब्द इन पाँचों में से किसी का गुण नहीं हो सकता है] जो पृथिवी आदि के गुण हैं वह श्रोत्र इन्द्रिय से गृहीत नहीं होते हैं। जैसे रूपादि। और शब्द तो श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है। [इसलिए शब्द पृथिवी आदि चार तथा आतमा इन पांच का गुण नहीं है] और न दिक्, काल, तथा मन [इन तीन] का गुण है विशेष गुण होने से। [दिक्, काल, और मन इन तीनों में रहने वाले गुण सामान्य गुण हैं विशेष गुण नहीं और शब्द विशेष गुण है इसलिए वह इन तीनों का भी गुण नहीं है]। इसलिए इन आठों से अतिरिक्त शब्द [गुण] का गुणी मानना चाहिए। वह ही आकाश है।

और वह एक है भेद में [साधक] प्रमाण न होने से एकत्व से ही काम हो जाने से [आकाश को अनेक मानने की आवश्यकता नहीं है]। एक होने के कारण ही 'आकाशत्व' नामक सामान्य [जाति] आकाश में नहीं रहता है। सामान्य के अनेक में रहने वाला होने से। और आकाश विभु अर्थात् 'परममहत्-

परममहत्परिमाणवदित्यर्थः[1] । सर्वत्र तत्कार्योपलब्धेः । अतएव विभु-त्वान्नित्यमिति ।

परिमाण' वाला है । सर्वत्र उसका कार्य [शब्द] उपलब्ध होने से [आकाश विभु है] और विभु होने से नित्य है ।

एक होने से आकाश में 'आकाशत्व' जाति नहीं है । इसके कहने का अभिप्राय यह है कि 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् सामान्यम्' यह 'सामान्य' का लक्षण किया गया है । अर्थात् 'सामान्य' नित्य और अनेक में रहने वाला धर्म होता है । जैसे 'घटत्व', 'पटत्व' आदि 'सामान्य' कहलाते हैं । वह अनेक घट तथा अनेक पट व्यक्तियों में रहने से और उन अनेक व्यक्तियों में घटः, घटः इस प्रकार की एकाकार, अनुगत-प्रतीति के जनक होने से ही 'सामान्य' कहलाते हैं । परन्तु आकाश अनेक नहीं हैं इसलिए उसमें 'आका-शत्व' नाम का 'सामान्य' नहीं रहता है । यद्यपि घटत्व के समान आकाश शब्द के आगे भी 'त्व' प्रत्यय जोड़ कर 'आकाशत्व' व्यवहार होता है । परन्तु 'आकाशत्व' 'सामान्य' नहीं अपितु 'उपाधि' है ।

काल-निरूपण—

आगे काल का निरूपण करते हैं । काल की सिद्धि दिग्विपरीत परत्व और अपरत्व, से तथा दिक् की सिद्धि कालविपरीत परत्वापरत्व से अनुमान द्वारा होती है । इसका अभिप्राय यह है कि जो आयु में बड़ा है जिसके साथ काल का अधिक सम्बन्ध है वह 'कालिक-दृष्टि' से 'पर' कहा जाता है । और जिसके साथ काल का अल्प सम्बन्ध है अर्थात् जो आयु में छोटा है उसे 'कालिक-दृष्टि' से 'अपर' कहते हैं । इसी प्रकार जिसके साथ अधिक देश का सम्बन्ध है अर्थात् जो अधिक दूर बैठा है वह 'दैशिक-दृष्टि' से 'पर' है और जिसके साथ देश का अल्प सम्बन्ध है अर्थात् जो समीप स्थित है वह 'दैशिक-दृष्टि' से 'अपर' है । इस दशा मे वृद्ध पुरुष, युवक की अपेक्षा 'कालिक दृष्टि' से 'पर' है परन्तु यदि वही वृद्ध पुरुष जो काल की दृष्टि से 'पर' है, युवक की अपेक्षा समीप बैठा हो तो उस में 'अपर' व्यवहार होगा । यही दिग्-विपरीत तथा काल-विपरीत परत्व और अपरत्व है । अत एव दिग्विप-रीत परत्वापरत्व से काल का और कालविपरीत परत्वापरत्व से दिक् का अनुमान होता है । यही आगे कहते हैं ।

---

१ पूना के संस्करण में 'परममहत्परिमाणवानित्यर्थः' इस प्रकार पुँल्लिङ्ग पाठ है ।

कालोऽपि दिग्विपरीतपरत्वापरत्वानुमेयः। संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवान्। एको नित्यो विभुश्च। कथमस्य दिग्विपरीत-परत्वापरत्वानुमेयत्वम्। उच्यते। सन्निहिते वृद्धे सन्निधानादपरत्वार्हे तद्विपरीतं परत्वं प्रतीयते। व्यवहिते यूनि व्यवधानात् परत्वार्हे तद्वि-परीतमपरत्वम्। तदिदं तत्तद्विपरीतं परत्वमपरत्वञ्च कार्यं तत्कारणस्य दिगादेरसम्भवात् कालमेव कारणमनुमापयति। स चैकोऽपि वर्तमानातीतभविष्यत्क्रियोपाधिवशाद् वर्तमानादिव्यपदेशं लभते। पुरुष इव पच्यादिक्रियोपाधिवशात् पाचक-पाठकादिव्यपदेशम्। नित्यत्व-विभुत्वे चास्य पूर्ववत्।

कालविपरीतपरत्वापरत्वानुमेया दिक्। एका नीत्या विभ्वी च। संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागवती। पूर्वादिप्रत्ययैरनुमेया। तेषामन्यनिमित्तासम्भवात्। पूर्वस्मिन् पश्चिमे वा देशे स्थितस्य

काल भी दिग्-विपरीत परत्व, अपरत्व से अनुमेय है। १ संख्या, २ परिमाण, ३ पृथक्त्व, ४ संयोग, ५ विभाग, [इन पांच गुणों] से युक्त, एक नित्य और विभु है।

[प्रश्न] इसका दिग्विपरीत परत्वापरत्व से अनुमेयत्व कैसे है ?

[उत्तर] कहते हैं। पास में स्थित अतएव सन्निधान के कारण ['दैशिक दृष्टि' से] 'अपरत्व' [व्यवहार] के योग्य वृद्ध [पुरुष] में उस [अपरत्व] के विपरीत ['कालिकदृष्टि' से] 'परत्व' प्रतीत होता है। [इसी प्रकार] दूरस्थ अतएव व्यवधान के कारण ['दैशिक दृष्टि' से] 'परत्व' [व्यवहार] के योग्य युवक में उस [दैशिक परत्व] के विपरीत 'अपरत्व' प्रतीत होता है। यह उस उस [दैशिक अपरत्व और परत्व] के विपरीत 'परत्व', 'अपरत्व' कार्य, उसका कारण दिगादि सम्भव न होने से काल को ही कारण रूप में अनुमित कराता है। वह एक होने पर भी वर्तमान, अतीत, भविष्यत् क्रिया रूप उपाधि के सम्बन्ध से वर्तमान आदि संज्ञा को प्राप्त होता है जैसे पचन [पठन] आदि क्रिया रूप उपाधि के कारण पुरुष पाचक, पाठक आदि व्यवहार को प्राप्त होता है। इसके विभुत्व और नित्यत्व पूर्ववत् [आकाश के समान] होते हैं।

'दिक्' का निरूपण—

कालविपरीत परत्व, अपरत्व से अनुमेय दिक्, एक, नित्य और विभु है। १ संख्या, २ परिमाण, ३ पृथक्त्व, ४ संयोग ५ विभाग, [इन पांचों गुणों] से युक्त है। पूर्व [पश्चिम] आदि ज्ञान से [भी] अनुमेय है उनका अन्य निमित्त न होने से। पूर्व में या पश्चिम देश में स्थित वस्तु के समानरूप होने

वस्तुनस्तादवस्थ्यात्। सा चैकापि सवितुस्तत्तद्देशसंयोगोपाधिवशात् प्राच्यादिसंज्ञां लभते।

आत्मद्रव्यम्

आत्मत्वाभिसम्बन्धवान् आत्मा। सुखदुःखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः। स चोक्त एव। तस्य सामान्यगुणाः सुखादयः पञ्च, बुद्ध्यादयो नव विशेषगुणाः। नित्यत्व-विभुत्वे पूर्ववत्।

मनोद्रव्यम्

मनस्त्वाभिसम्बन्धवन्मनः। अणु, आत्मसंयोगि, अन्तरिन्द्रियम् सुखाद्युपलब्धिकारणं नित्यञ्च। संख्याद्यष्टगुणवत्। तत्संयोगेन बाह्येन्द्रिय-मर्थग्राहकम्। अतएव सर्वोपलब्धिसाधनम्। तच्च न प्रत्यक्षम्, अपि त्वनु-मानगम्यम्। तथाहि सुखाद्युपलब्धयश्चक्षुराद्यतिरिक्तकरणसाध्याः,

---

[पर भी यह पूर्व में रखी है या पश्चिम में इस प्रकार का व्यवहार-भेद होने का दिक् के अतिरिक्त और कोई कारण न होने] से। और वह एक होने पर भी सूर्य के उस उस देश के साथ संयोग रूप उपाधि के वश पूर्व [पश्चिम] आदि [नाना] संज्ञा को प्राप्त होती है।

'आत्मा' का निरूपण—

आत्मत्व [जाति] के सम्बन्ध वाला आत्मा है। [प्रत्येक व्यक्ति के] सुख-दुःखादि के वैचित्र्य होने से [वह] प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। और उसका वर्णन कर ही चुके हैं। उसके संख्या आदि पांच [१ संख्या, २ परिमाण, ३ पृथक्त्व, ४ संयोग, ५ विभाग] सामान्य गुण, और बुद्धि आदि नौ [१ बुद्धि, २ सुख, ३ दुःख, ४ इच्छा, ५ द्वेष, ६ प्रयत्न, ७ धर्म, ८ अधर्म, और ९ संस्कार] विशेष गुण [सब मिला कर १४ गुण] हैं। नित्यत्व और विभुत्व पूर्ववत् [अर्थात् आकाश के समान] है।

'मन' का निरूपण—

मनस्त्व [जाति] के सम्बन्ध वाला मन अणु [परिमाण वाला] आत्म-संयोगी और अन्तः इन्द्रिय है। सुखादि की उपलब्धि में करण, नित्य, संख्या आदि आठ [१ संख्या, २ परिमाण, ३ पृथक्त्व, ४ संयोग, ५ विभाग, ६ परत्व, ७ अपरत्व, ८ संस्कार] गुणों से युक्त है। उसके संयोग से [ही] बाह्येन्द्रिय [अपने २] अर्थ की ग्राहक होती है। इसलिए सब [इन्द्रियों के अपने २ अर्थ के ग्रहण में सहायक होने से] सब [विषयों] की उपलब्धि का साधन है। वह प्रत्यक्ष नहीं अपितु अनुमानगम्य है। जैसे कि [अनुमान वाक्य का प्रयोग इस प्रकार है] सुखादि का ज्ञान चक्षु आदि से अतिरिक्त करण से साध्य है चक्षु आदि के [व्यापार के अथवा इन्द्रियों के] न होने पर भी [सुखादि के] उत्पन्न होने से,

असत्स्वपि चक्षुरादिषु जायमानत्वात् । यद्वस्तु यद्विनैवोत्पद्यते तत् तदतिरिक्तकरणसाध्यं, यथा कुठारं विनोत्पद्यमाना पचनक्रिया तदतिरिक्तवह्न्यादिकरणसाध्या । यच्च करणं तन्मनः तच्च चक्षुराद्यतिरिक्तम् । तच्चाणुपरिमाणम् ।

द्रव्याण्युक्तानि ।

गुणाः

अथ गुणा उच्यन्ते । सामान्यवान् असमवायिकारणं स्पन्दात्मा गुणः । स च द्रव्याश्रित एव । रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संस्कार-भेदाच्चतुर्विंशतिधा ।

१–तत्र रूपं चक्षुर्मात्रग्राह्यो विशेषगुणः । पृथिव्यादित्रयवृत्ति । तच्च

जो वस्तु जिस के बिना ही उत्पन्न होती है वह उससे भिन्न करण से उत्पन्न होती है जैसे कुठार के बिना उत्पन्न होने वाली पचन क्रिया उससे भिन्न वह्नि आदि करण से साध्य होती है । जो [उसका] करण है वह मन है और वह चक्षु आदि [बाह्येन्द्रियों] से भिन्न है । और वह अणु परिमाण वाला है ।

द्रव्यों का वर्णन हो गया । [इन नौ द्रव्यों में से किस में कितने गुण रहते हैं । उसका संग्रह निम्न प्रकार किया है ।]

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणा,-
जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश ॥
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे,
महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च ॥

गुण-निरूपण—

अब गुणों का वर्णन करते हैं । सामान्यवान्, असमवायिकारण, कर्मभिन्न गुण है । [यह गुण का लक्षण है] । और वह [गुण] द्रव्याश्रित ही [रहता] है । १ रूप, २ रस, ३ गन्ध, ४ स्पर्श, ५ संख्या, ६ परिमाण, ७ पृथक्त्व, ८ संयोग, ९ विभाग, १० परत्व, ११ अपरत्व, १२ गुरुत्व, १३ द्रवत्व, १४ स्नेह, १५ शब्द, १६ बुद्धि, १७ सुख, १८ दुःख, १९ इच्छा, २० द्वेष, २१ प्रयत्न, २२ धर्म, २३ अधर्म और २४ संस्कार भेद से चौबीस प्रकार के हैं ।

१–रूप-निरूपण—

उनमें से चक्षुर्मात्रग्राह्य विशेष गुण 'रूप' है । [संख्या, परिमाण आदि में अतिव्याप्ति-वारण के लिए 'मात्र' तथा 'विशेष' पद का प्रयोग किया है । वह

---

१ न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली ।

शुक्लाद्यनेकप्रकारकम्। पाकजञ्च पृथिव्याम्। तच्चाऽनित्यं पृथिवीमात्रे। आप्यतैजसपरमाण्वोर्नित्यम्। आप्यतैजसकार्येष्वनित्यम्। शुक्लभास्वरमपाकजं तेजसि। तदेवाभास्वरमप्सु।

२–रसो रसनेन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः पृथिवीजलवृत्तिः। तत्र पृथिव्यां मधुरादिषट्प्रकारो मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्तभेदात्, पाकजश्च अप्सु मधुरोऽपाकजो नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुभूतास्वप्सु कार्यभूतास्वनित्यः।

३–गन्धो घ्राणग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिवीमात्रवृत्तिः। अनित्य एव। स द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। जलादौ गन्धप्रतिभानं तु संयुक्तसमवायेन द्रष्टव्यम्।

सामान्य गुण हैं और उनका ग्रहण केवल चक्षु से नहीं अपितु चक्षु और त्वक् दोनों से होता है। अतः मात्र पद तथा विशेष पद जोड़ देने से उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती।] पृथिवी आदि [१ पृथ्वी, २ जल, ३ तेज] तीन में रहनेवाला और वह शुक्ल आदि [१ शुक्ल, २ लोहित, ३ पीत, ४ कृष्ण, ५ हरित, ६ कपिश और ७ चित्र भेद से सात] अनेक प्रकार का है। पृथिवी में पाकज है। और वह पृथिवी मात्र में अनित्य और आप्य तथा तैजस परमाणुओं में नित्य एवं आप्य तथा तैजस कार्यों में अनित्य होता है। तेज में भास्वर शुक्ल और अपाकज तथा वही [रूप] जल में अभास्वर शुक्ल [और अपाकज] होता है।

२–रस-निरूपण—

रसना इन्द्रिय से ग्राह्य विशेष गुण 'रस' है। पृथिवी और जल में रहता है। उसमें से पृथिवी में मधुर आदि छः प्रकार का, १ मधुर, २ अम्ल, ३ लवण, ४ कटु, ५ कषाय, ६ तिक्त, भेद से [६ प्रकार का] और पाकज है। जल में मधुर अपाकज होता है। [वह] नित्य और अनित्य [दो प्रकार का] है। परमाणु रूप जल में नित्य, और कार्य भूत [जल] में अनित्य होता है।

३–गन्ध निरूपण—

घ्राणेन्द्रिय-ग्राह्य विशेष गुण 'गन्ध' है [जो] केवल पृथिवी में रहता है। और अनित्य ही है। वह सुगन्ध और दुर्गन्ध दो प्रकार का होता है। जल आदि में [होने वाली] गन्ध की प्रतीति संयुक्त समवाय [जल में संयुक्त पार्थिव अंश में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली गन्ध का जल में भान संयुक्त समवाय] से समझना चाहिए। [उस गन्ध को जल का गुण न मानना चाहिए]।

४–स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यो विशेषगुणः। पृथिव्यादिचतुष्टयवृत्तिः। स च त्रिविधः शीत-उष्ण-अनुष्णाशीतभेदात्। शीतः पयसि, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः। पृथिवीमात्रे ह्यनित्यः। आप्य-तैजस-वायवीयपरमाणुषु नित्यः, आप्यादिकार्येष्वनित्यः। एते च रूपादयश्चत्वारो महत्त्वैकार्थसमवेतत्वे सत्युद्भूता एव प्रत्यक्षाः।

५–संख्या एकत्वादिव्यवहारहेतुः सामान्यगुणः। एकत्वादिपरार्द्धपर्यन्ता। तत्रैकत्वं द्विविधं नित्यानित्यभेदात्। नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्। स्वाश्रयसमवायिकारणगतैकत्वजन्यञ्च। द्वित्वञ्चानित्य-

---

४–स्पर्श-निरूपण—

त्वगिन्द्रिय से, ग्राह्य विशेष गुण 'स्पर्श' है। पृथिवी आदि चार [१ पृथिवी, २ जल, ३ वायु ४ अग्नि] में रहता है। और वह १ शीत, २ उष्ण, ३ अनुष्णाशीत, भेद से तीन प्रकार का है। शीत [स्पर्श] जल में, उष्ण [स्पर्श] अग्नि में, और अनुष्णाशीत [स्पर्श] पृथिवी तथा वायु में [रहता] है। पृथिवी मात्र में अनित्य होता है। जल, वायु और तेज के परमाणुओं में नित्य तथा जल आदि कार्यों में अनित्य है। यह रूपादि चारो [गुण], महत् [परिमाण] के साथ एक अर्थ में समवेत और उद्भूत होने पर ही प्रत्यक्ष होते हैं। [अन्यथा नहीं जैसे परमाणु तथा द्वयणुक में महत् परिमाण न होने से उनमें रहने वाले रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। और उष्ण जल में अग्नि के भास्वर शुक्ल रूप के 'उद्भूत' न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए रूपादि चारों गुणों के प्रत्यक्ष होने के लिए उनका 'उद्भूत' होना और महत्परिमाण वाले द्रव्य में समवेत होना यह दोनों बातें आवश्यक हैं]।

५–संख्या-निरूपण—

५–एकत्वादि व्यवहार का हेतुभूत सामान्य गुण 'संख्या' [कहलाता] है। वह एकत्व से लेकर परार्द्ध [शंख, दश शंख, महा शंख से भी आगे की संख्या] पर्यन्त [होती] है। उनमें से नित्य और अनित्य के भेद से 'एकत्व' दो प्रकार का होता है। नित्य [आकाशादि] में रहने वाला [एकत्व] नित्य, और अनित्य [घटादि] में रहने वाला [एकत्व] अनित्य होता है। [अनित्य एकत्व] अपने आश्रय [घटादि] के समवायिकारण [कपालादि] में रहने वाले एकत्व से उत्पन्न होता है। और 'द्वित्व' तो [सर्वत्र] अनित्य ही होता है। और वह दो पिण्डों [घटादि वस्तुओं] की, 'यह एक है' और 'यह एक है', इस [प्रकार के ज्ञान, जिसको] 'अपेक्षा-बुद्धि' [कहते हैं] से उत्पन्न होता है। उस

मेव । तच्च द्वयोः पिण्डयोः 'इदमेकम्' इत्यपेक्षाबुद्ध्या जन्यते । तत्र द्वौ पिण्डौ समवायिकारणे । पिण्डयोरेकत्वे असमवायिकारणे, अपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम् । अपेक्षाबुद्धिविनाशादेव द्वित्वविनाशः । एवं त्रित्वाद्युत्पत्तिर्विज्ञेया ।

[द्वित्व] के दोनों पिण्ड 'समवायि-कारण' [होते हैं] दोनों पिण्डों में रहने वाले एकत्व असमवायि-कारण' और 'अपेक्षा बुद्धि' के विनाश से ही 'द्वित्व' का विनाश होता है। इसी प्रकार त्रित्वादि की उत्पत्ति [और विनाश] भी समझनी चाहिए ।

यहाँ द्वित्व की उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया संक्षेप से दिखाई है। यह प्रक्रिया वैशेषिक दर्शन का एक मुख्य भाग है और प्रशस्तपाद भाष्य आदि में बहुत विस्तर के साथ उसका विवेचन हुआ है। इसी से द्वित्व के ज्ञान को वैशेषिक दर्शन के ज्ञान की कसौटी माना गया है—

[1]द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥

प्रशस्तपाद में प्रदर्शित द्वित्वोत्पत्ति की प्रक्रिया में सात क्षण और उसके विनाश की प्रक्रिया में नौ क्षण लगते हैं। द्वित्व की उत्पत्ति 'अपेक्षा-बुद्धि' से और उसका विनाश 'अपेक्षा बुद्धि' के विनाश से होता है।

द्वित्वोत्पत्ति की प्रक्रिया—

इसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया का संग्रह एक श्लोक में इस प्रकार किया गया है—

[2]आदाविन्द्रियसन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी-
रेकत्वोभयगोचरा मतिरतो, द्वित्वं ततो जायते ।
द्वित्वत्वप्रमितिस्ततो नु, परतो द्वित्वप्रमाऽनन्तरं
द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया ॥

अर्थात् प्रथम क्षण में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष हाता है। द्वितीय क्षण में दोनों घटों में रहने वाले 'एकत्व-सामान्य' का ज्ञान होता है। तृतीय क्षण में उन दोनों को ग्रहण करने वाली 'अयम् एकः अयम् एकः' इस प्रकार की 'अपेक्षा-बुद्धि' उत्पन्न होती है। चतुर्थ क्षण में इस अपेक्षा-बुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होती है। पञ्चम में उस द्वित्व में रहने वाली 'द्वित्वत्व' जाति का ग्रहण होता है। छठे क्षण में द्वित्व का ज्ञान होता है और सातवें क्षण में

१, २ सर्वदर्शनसंग्रह ।

द्वित्व से विशिष्ट 'द्वे द्रव्ये' इस प्रकार का द्रव्य ज्ञान होता है। इस प्रकार द्वित्व की उत्पत्ति-प्रक्रिया में अर्थात् 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति में सात क्षण लगते हैं।

द्वित्वविनाश की प्रक्रिया—

इसी प्रकार द्वित्व के नाश की प्रक्रिया में नौ क्षण लगते हैं। द्वित्व के नाश का एक कारण तो 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश है और दूसरा कारण 'आश्रय द्रव्य' का नाश भी है। उसमें 'अपेक्षा-बुद्धि' के नाश से 'द्वित्व' का नाश किस प्रकार होता है इसका संग्रह तीन श्लोकों में इस प्रकार किया गया है—

आदावपेक्षाबुद्ध्या हि नश्येदेकत्वजातिधीः।
द्वित्वोदयसमं पश्चात् सा च तज्जातिबुद्धितः ॥ १ ॥
द्वित्वाख्यगुणधीकाले ततो द्वित्वं निवर्तते।
अपेक्षाबुद्धिनाशेन द्रव्यधीजन्मकालतः ॥ २ ॥
गुणबुद्धिर्द्रव्यबुद्ध्या संस्कारोत्पत्तिकालतः।
द्रव्यबुद्धिश्च संस्कारादिति नाशक्रमो मतः ॥ ३ ॥

ज्ञान क्षणिक है इसलिए एक समय में दो ज्ञान 'अविनश्यत्-अवस्था' में नहीं रह सकते हैं। और न दो ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए उत्पत्ति की प्रक्रिया में इन्द्रिय-सन्निकर्ष से द्वितीय क्षण में 'एकत्व-सामान्य' ज्ञान की उत्पत्ति, तृतीय क्षण में 'अपेक्षा-बुद्धि' की उत्पत्ति, और चतुर्थ क्षण में 'अपेक्षा-बुद्धि' से द्वित्व की उत्पत्ति दिखलाई थी। जिस चतुर्थ क्षण में 'द्वित्व' की उत्पत्ति होगी उसी समय 'अपेक्षा-बुद्धि' से 'एकत्व सामान्य-ज्ञान' का नाश होगा। उसके बाद पञ्चम क्षण में 'द्वित्व सामान्य-ज्ञान' उत्पन्न होता है। उस 'द्वित्व-सामान्य-ज्ञान' से 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश होता है जो अगले अर्थात् षष्ठ क्षण में होता है। उस षष्ठक्षण में 'द्वित्व-गुणबुद्धि' उत्पन्न होती है। इस प्रकार 'द्वित्वगुणबुद्धि' के उत्पन्न होने के समय अर्थात् षष्ठ क्षण में 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश होता है। और अगले सप्तम क्षण में जब कि 'द्वे द्रव्ये' यह ज्ञान उत्पन्न होता है उसके पूर्व 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश हो चुकने से द्वित्व का नाश और 'द्वे द्रव्ये' इस बुद्धि की उत्पत्ति, दोनों एक साथ सप्तम क्षण में होती हैं। और उसके बाद अष्टम क्षण में संस्कार से 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान का भी नाश हो जाता है। किस किस क्षण में किस किस की उत्पत्ति और विनाश होता है इसको इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

प्रथमक्षण में—इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होता है।

द्वितीयक्षण में—'एकत्व-सामान्य-ज्ञान' उत्पन्न होता है।

तृतीयक्षण में—एकत्वोभयगोचरा मतिः, अर्थात् 'अयमेकः, अयमेकः' इस प्रकार की 'अपेक्षा-बुद्धि' उत्पन्न होती है।

चतुर्थ क्षण में—१ द्वित्वोत्पत्तिः। २ एकत्वसामान्यज्ञान का नाश। ३ द्वित्वसामान्यज्ञान की उत्पद्यमानता यह तीनों बातें एक साथ होती हैं।

पञ्चम क्षण में—१ द्वित्वसामान्य ज्ञान की उत्पत्ति। २ 'अपेक्षा-बुद्धि' की विनश्यमानता ३ द्वित्वगुण बुद्धि की उत्पद्यमानता ये तीनों बातें एक साथ होती हैं।

षष्ठ क्षण में—१ द्वित्वगुणबुद्धि की उत्पत्ति। २ अपेक्षा-बुद्धि का नाश, ३ 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पद्यमानता ये तीनों बातें एक साथ होती हैं।

सप्तम क्षण में—१ 'द्वे द्रव्ये' ज्ञान की उत्पत्ति। २ द्वित्व का विनाश। ३ द्वित्वगुण बुद्धि की विनश्यमानता ये तीनों बातें एक साथ होती हैं।

अष्टम क्षण में—१ संस्कार की उत्पत्ति। २ द्वित्वगुणबुद्धि का विनाश, ३ 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की विनश्यमानता ये तीनों बातें एक साथ होती हैं।

नवम क्षण में—'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान का संस्कार से विनाश हो जाता है।

इस प्रकार अपेक्षा बुद्धि के नाश से जहाँ द्वित्व का विनाश होता है उसकी यह नौ क्षण की प्रक्रिया दिखाई है। इसके अतिरिक्त कहीं आश्रय-नाश से भी द्वित्व का नाश होता है उस की क्षणानुसारिणी प्रक्रिया निम्न प्रकार है।

आश्रय के नाश से द्वित्वका नाश—

प्रथम क्षण में—१ एकत्वाधार घटादि के अवयवों में कर्म की उत्पत्ति होती है। २ उसी समय एकत्व सामान्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

द्वितीय क्षण में—१ कर्म से अवयवों के विभाग की उत्पत्ति। २ और उसी समय एकत्व सामान्य ज्ञान से 'अपेक्षा-बुद्धि' की उत्पत्ति होती है।

तृतीय क्षण में—१ विभाग से द्रव्यारम्भक संयोग का नाश। २ और उसी समय 'अपेक्षा-बुद्धि' से द्वित्व की उत्पत्ति होती है।

चतुर्थ क्षण में—१ द्रव्यारम्भक संयोग के नाश से द्रव्य का नाश। २ और उसी समय द्वित्व सामान्य ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

पञ्चम क्षण में—१ आश्रयद्रव्य के ज्ञान से द्वित्व का नाश। २ और द्वित्वसामान्यज्ञान से 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश होता है।

इस प्रक्रिया से पञ्चम क्षण में एक ओर आश्रय द्रव्य के नाश से

द्वित्व का नाश हो जाता है और दूसरी ओर उसी क्षण में द्वित्व सामान्य ज्ञान से 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश होता है। इस स्थिति में 'अपेक्षा-बुद्धि' तथा 'द्वित्व' दोनों का नाश एक ही क्षण में होने से उन दोनों में कार्य-कारण-भाव नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् वह द्वित्व का नाश 'अपेक्षा-बुद्धि' के नाश से नहीं अपितु आश्रय द्रव्य के नाश से होता है। यह आश्रय-नाश से द्वित्व-नाश की प्रक्रिया हुई।

'सहानवस्थान' विरोध पक्ष में दोष और उसका परिहार—

वैशेषिक दर्शन में इस उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया के प्रसङ्ग में 'वध्यघातक भाव' और 'सहानवस्थान' रूप दो प्रकार के विरोधों का उल्लेख किया गया है। और दोनों पक्षों में 'द्वे द्रव्ये' इस ज्ञान की उत्पत्ति नहीं बनेगी यह दोष देकर उसका समाधान करने का प्रयत्न किया गया है। 'सहानवस्थान' विरोध में विनाशक सामग्री की उत्पत्ति के क्षण में ही विनाश्य पदार्थ का विनाश हो जाता है इसलिए द्वित्वगुणबुद्धि की उत्पत्ति के क्षण अर्थात् छठे क्षण में द्वित्वगुणबुद्धि के उत्पन्न होते ही 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश उसी क्षण में हो जाने से उसी समय द्वित्व का नाश हो जायगा। अतः जब छठे क्षण में द्वित्व का नाश हो गया तब सातवें क्षण में द्वित्वगुण-विशिष्ट द्रव्य अर्थात् 'द्वे द्रव्ये' इस प्रकार का ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा। यह प्रश्न उत्पन्न होता है। उसका समाधान 'आशूत्पत्ति' मान कर किया है। समाधान का आशय यह है कि जैसे 'शब्दवदाकाशम्' यह विशिष्ट ज्ञान जब तक उत्पन्न होता है उसके पूर्व ही क्षणिक शब्द का नाश हो चुकता है। परन्तु शब्द का नाश हो जाने पर भी उसका ज्ञान बुद्धि में रहता है और उस ज्ञान के कारण अत्यन्त शीघ्रता से शब्द-विशिष्ट आकाश का ज्ञान 'शब्दवदाकाशम्' इस रूप में जैसे बन जाता है इसी प्रकार छठे क्षण में द्वित्व का नाश हो जाने पर भी 'आशूत्पत्ति' के कारण 'द्वे द्रव्ये' यह ज्ञान बन सकता है। इस प्रकार 'सहानवस्थान' पक्ष में आए हुए दोष का समाधान किया गया है।

विरोध का दूसरा भेद 'वध्य-घातक-भाव' है। इस 'वध्य-घातक-भाव' विरोध में पहिले क्षण में घातक उत्पन्न होता है और अगले क्षण में 'वध्य' का वध अर्थात् विनाश होता है। अर्थात् 'घातक' की उत्पत्ति के एक क्षण बाद 'वध्य' का नाश होता है। पूर्वपक्ष की ओर से यह शङ्का होती है कि इस 'वध्य-घातक विरोध' भी 'द्वे द्रव्ये' यह ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकेगा क्योंकि तृतीयक्षण में 'अपेक्षा-बुद्धि' उत्पन्न होती है उससे चतुर्थ क्षण में संस्कार से पञ्चम क्षण में 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश और उसके बाद छठे क्षण में द्वित्व का

६–परिमाणं मानव्यवहारासाधारणं कारणम् । तच्चतुर्विधम् , अणु, महद्, दीर्घं, ह्रस्वञ्चेति । तत्र कार्यगतं परिमाणं संख्या-परिमाण-प्रचय-योनि । तद्यथा [द्व्यणुकपरिमाणमीश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यपरमाणुद्वित्वज-नितत्वात् संख्यायोनि, संख्याकारणकमित्यर्थः । त्र्यणुकपरिमाणञ्च स्वाश्रयसमवायिकारणगतबहुत्वसंख्यायोनि । चतुरणुकादिपरिमाणन्तु स्वाश्रयसमवायिकारणपरिमाणजन्यम् । तूलपिण्डपरिमाणन्तु स्वाश्रय-

---

नाश हो जायगा तब सप्तम क्षण में द्वित्व के न होने से 'द्वे द्रव्ये' यह ज्ञान कैसे होगा ? यह शङ्का का आशय है । इसका उत्तर यह है कि 'अपेक्षा-बुद्धि' से संस्कार नहीं बनता है । क्योंकि 'अपेक्षा बुद्धि' समूहालम्बनात्मक ज्ञान नहीं है । संस्कार केवल समूहालम्बनात्मक ज्ञान से उत्पन्न होता है । अतः 'अपेक्षा-बुद्धि' से संस्कार के उत्पन्न न होने से 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश संस्कार से नहीं अपितु पञ्चम क्षण में उत्पन्न होने वाले 'द्वित्वसामान्यज्ञान' से ही होता है । इसलिए 'अपेक्षा-बुद्धि' का नाश षष्ठ क्षण में और उससे द्वित्व का नाश सप्तम क्षण में होता है । उसी के साथ 'द्वे द्रव्ये' यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । अतएव उसमें कोई बाधा नहीं है ।

६—परिमाण-निरूपण—

मानव्यवहार का असाधारण कारण 'परिमाण' है । वह १ अणु, २ महद् , ३ दीर्घ और ४ ह्रस्व, भेद से चार प्रकार का है । कार्यगत चारो प्रकार का [परिमाण प्रकारान्तर से] १ संख्यायोनि, २ परिमाणयोनि और ३ प्रचय-योनि [तीन प्रकार का] होता है । जैसे द्व्यणुक का [जन्य] अणु परिमाण [संख्यायोनि अर्थात् संख्याकारणक है क्योंकि वह] ईश्वर की 'अपेक्षा-बुद्धि' से जन्य परमाणुगत द्वित्व [संख्या] से जन्य होने के कारण 'संख्या योनि' अर्थात् संख्याकारणक है । और त्र्यणुक का [महत्] परिमाण अपने [अर्थात् त्र्यणुकगत परिमाण के] आश्रय [अर्थात् त्र्यणुक] के समवायिकारण [अर्थात् द्व्यणुक] गत बहुत्व [संख्याजन्य होने से] 'संख्या-योनि' है । चतुरणुक आदि का परिमाण तो अपने परिमाण के आश्रय [चतुरणुक आदि] के समवायि कारण [त्र्यणुक आदि] के परिमाण से उत्पन्न होता है [अतएव वह चतुरणुकादि का परिमाण 'परिमाण योनि' परिमाण है]। रूई के पिण्ड का परिमाण तो अपने आश्रय [तूल-पिण्ड] के समवायिकारण रूप अवयवों के प्रशिथिल संयोग से जन्य है । [इसलिए वह रूई के पिण्ड का परिमाण 'प्रचय योनि' कहलाता है । प्रचय का

समवायिकारणावयवानां प्रशिथिलसंयोगजन्यम्। परमाणुपरिमाणञ्चाकाशादिगतं नित्यमेव।

अर्थ शिथिल-अवयव-संयोग है] परमाणु का परिमाण [जो कि 'पारिमाण्डल्य' नाम से भी कहा जाता है] और आकाशादि का 'परममहत्' परिमाण नित्य ही होता है।

अणु परिमाण केवल दो जगह रहता है एक परमाणु में और दूसरा द्व्यणुक में। इनमें से परमाणुगत अणु परिमाण नित्य ही होता है और उसका दूसरा नाम 'पारिमाण्डल्य' भी है। 'पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्' इत्यादि में 'पारिमाण्डल्य' शब्द से परमाणु के नित्य अणु परिमाण का ही ग्रहण होता है। द्व्यणुक में भी अणु परिमाण रहता है। परमाणु का अथवा द्व्यणुक का अणु परिमाण किसी परिमाण का आरम्भक या कारण नहीं होता है। क्योंकि परिमाण के विषय में यह नियम है कि परिमाण 'स्वसमानजातीय उत्कृष्ट परिमाण' का आरम्भक होता है। जैसे तन्तु का महत् परिमाण है। उससे जो पट का परिमाण उत्पन्न होता है। वह तन्तु के परिमाण की अपेक्षा उत्कृष्ट अर्थात् 'महत्तर' परिमाण है। तन्तु के महत् परिमाण से उसके समानजातीय और उत्कृष्ट अर्थात् 'महत्तर' परिमाण की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार यदि परमाणु के अणु परिमाण को द्व्यणुक के परिमाण का कारण माना जाय तो वह अणु परिमाण द्व्यणुक में अपने समानजातीय उत्कृष्ट अर्थात् 'अणुतर' परिमाण को उत्पन्न करने लगेगा। परन्तु अणु परिमाण तो कहते ही उसको हैं जिसके आगे और 'अणुतर' कोई न हो। इसलिए अणु परिमाण को द्व्यणुक के परिमाण का कारण मानना युक्ति-सङ्गत नहीं है। इसीलिए द्व्यणुक के अणु परिमाण को 'संख्यायोनि' परिमाण माना है। अर्थात् दो परमाणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या से द्व्यणुक का अणु परिमाण उत्पन्न होता है। द्वित्व संख्या भी अनित्य और 'अपेक्षा-बुद्धि' से जन्य है। परन्तु परमाणुओं के विषय में अस्मदादि की 'अपेक्षा-बुद्धि' काम नहीं दे सकती है क्योंकि परमाणु अस्मदादि के अनुभव के विषय नहीं हैं। इसलिए परमाणुओं में जो द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है वह ईश्वर की 'अपेक्षा-बुद्धि' से उत्पन्न होती है। और उस द्वित्व संख्या से द्व्यणुक में 'संख्यायोनि' अणु परिमाण उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार त्र्यणुक का 'महत् परिमाण' भी 'संख्यायोनि' परिमाण माना गया है। क्योंकि वह 'परिमाणयोनि' अथवा 'प्रचययोनि' नहीं हो सकता है।

७—पृथक्त्वम् पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणम्। तच्च द्विविधम्। एकपृथक्त्वं द्विपृथक्त्वादिकञ्च। तत्राद्यं नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्। द्विपृथक्त्वादिकञ्चानित्यमेव।

त्र्यणुक के परिमाण को यदि 'संख्यायोनि' परिमाण मानें तो उसे 'परिमाणयोनि' परिमाण मानना होगा। अर्थात् उसकी उत्पत्ति द्व्यणुक के अणु परिमाण से माननी होगी। परन्तु अभी दिखा चुके हैं कि परिमाण के 'स्वसमानजातीय उत्कृष्ट परिमाण के आरम्भक' होने का नियम होने से द्व्यणुक का अणु परिमाण यदि त्र्यणुक में किसी परिमाण को उत्पन्न कर सकता है तो केवल 'स्वसमानजातीय उत्कृष्ट' अर्थात् 'अणुतर' परिमाण को ही उत्पन्न कर सकता है परन्तु 'अणुतर' परिमाण की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। और त्र्यणुक में महत् परिमाण रहता है। इसलिए त्र्यणुक का 'महत्' परिमाण 'परिमाणयोनि' नहीं अपितु द्व्यणुकनिष्ठ बहुत्व-संख्याजन्य होने से 'संख्यायोनि' परिमाण है। शेष जन्य महत् परिमाण 'परिमाणयोनि' परिमाण होते हैं। जन्य महत् परिमाण के अतिरिक्त नित्य महत् परिमाण भी होता है जिसे 'परम महत्' परिमाण कहते हैं और वह आकाशादि विभु पदार्थों में रहता है।

यहां 'अणु' और महत्' दो प्रकार के परिमाणों का वर्णन किया है और उन दोनों के नित्य तथा अनित्य दो दो भेद किए हैं। इनके अतिरिक्त 'दीर्घ' और 'ह्रस्व' यह दो परिमाण और भी दिखाए हैं। यह 'दीर्घ' और 'ह्रस्व' परिमाण जन्य महत् तथा 'अणु' परिमाण के साथ ही रहते हैं। अर्थात् जहाँ जन्य 'अणु' परिमाण रहता वहाँ 'ह्रस्व' और जहाँ जन्य 'महत्' परिमाण रहता है वहाँ 'दीर्घ' व्यवहार होने से यह दोनों परिमाण अलग कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं। इसी से उनका विशेष वर्णन यहाँ नहीं किया गया है केवल नाम गिना दिए हैं।

७ पृथक्त्व-निरूपण—

पृथक् व्यवहार का असाधारण कारण 'पृथक्त्व' [गुण कहलाता] है। वह दो प्रकार का है 'एक-पृथक्त्व' और 'द्विपृथक्त्व' आदि। उनमें से पहिला [एक-पृथक्त्व] नित्य [परमाणु आदि] में रहने वाला नित्य और अनित्य [घटादि में] रहनेवाला अनित्य होता है। द्विपृथक्त्वादि अनित्य ही होता है।

संख्या के प्रकरण में एकत्व, द्वित्व का वर्णन हुआ था। वहाँ एकत्व, द्वित्व जाति थीं परन्तु यहाँ 'एकपृथक्त्व' और 'द्विपृथक्त्व' आदि जातियां नहीं है। उनका भेद केवल संख्या के सम्बन्ध से होता है। इसी से प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—

८-संयोगः संयुक्तव्यवहारहेतुर्गुणः। स च द्व्याश्रयोऽव्याप्यवृत्तिश्च। स च त्रिविधः। अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्चेति। तत्रान्यतरकर्मजो यथा क्रियावता श्येनेन सह निष्क्रियस्य स्थाणोः संयोगः। अस्य हि श्येनक्रिया असमवायिकारणम्। उभयकर्मजो यथा सक्रिययोर्मल्लयोः संयोगः। संयोगजो यथा कारणाकारणसंयोगात् कार्याकार्यसंयोगः। यथा हस्ततरुसंयोगेन कायतरुसंयोगः।

एतावांस्तु विशेषः। एकत्वादिवदेकपृथक्त्वादिष्वपरसामान्याभावः संख्यया तु विशिष्यते। तद्विशिष्टव्यवहारदर्शनादिति।

८ संयोग-निरूपण—

[यह इससे संयुक्त है इस प्रकार के] संयुक्त व्यवहार का हेतु-भूत गुण 'संयोग' है। वह द्विष्ठ [दो पदार्थों में रहने वाला] और अव्याप्यवृत्ति [रूपादि के समान सारे पदार्थ में व्याप्त न होकर उसके केवल एक देश में रहनेवाला] होता है। और वह [प्रकारान्तर से] तीन प्रकार का होता है १ अन्यतरकर्मज २ उभयकर्मज, और ३ संयोगज-संयोग। उनमें अन्यतर-कर्मज [अर्थात् संयुक्त होने वाले दोनों पदार्थों में से किसी एक कर्म से उत्पन्न हुए संयोग का उदाहरण] जैसे क्रियावान् [अर्थात् उड़कर आए हुए श्येन] बाज के साथ निष्क्रिय स्थाणु [वृक्ष के ठूंठ] का संयोग। इस [स्थाणु तथा श्येन के संयोग का समवायिकारण तो वह दोनों ही हैं परन्तु इस] का असमवायिकारण श्येन की क्रिया है। उभयकर्मज [संयोग का उदाहरण] जैसे सक्रिय दो पहलवानों का संयोग [दोनों पहलवान इधर उधर से आकर भिड़ जाते हैं इसलिए उनका संयोग दोनों के कर्म से होने के कारण 'उभयकर्मज' संयोग है। संयोगज संयोग का उदाहरण] जैसे [शरीर के] 'कारण [अवयव रूप हाथ] और [उस शरीर के] अकारण [रूप वृक्ष] के संयोग से [हाथ के] कार्य [भूत शरीर] और अकार्य [भूत वृक्ष] का संयोग। जैसे हाथ और वृक्ष का संयोग होने से शरीर का वृक्ष के साथ संयोग [होता है वह संयोगज संयोग का उदाहरण है]।

इस प्रकार संयोग के तीन भेद किए। यह तीनों प्रकार का संयोग जन्य है। अर्थात् नित्य संयोग नहीं होता है। परिमाण आदि तो नित्य में रहने वाले नित्य भी होते हैं परन्तु संयोग नित्य पदार्थों का भी अनित्य ही होता है। जैसे नित्य परमाणु का नित्य आकाश आदि के साथ संयोग है। परन्तु वह नित्य

---

१ वैशेषिक प्रशस्तपाद भाष्य।

९-विभागोऽपि विभक्तप्रत्ययहेतुः । संयोगपूर्वको द्व्याश्रयः । स च त्रिविधोऽन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजो विभागजश्चेति । तत्र प्रथमो यथा श्येनक्रियया शैलश्येनयोर्विभागः । द्वितीयो यथा मल्लयोर्विभागः । तृतीयो यथा हस्ततरुविभागात् कायतरुविभागः ।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥

नहीं अपितु 'अन्यतरकर्मज' है । परमाणु में गति है । वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा कर उस देश के आकाश से मिलता है इसलिए इनका संयोग 'अन्यतरकर्मज' संयोग होता है । नित्य संयोग नहीं । अब प्रश्न रह जाता है आकाश और काल आदि नित्य तथा विभु पदार्थों के संयोग का । सो उसके विषय में वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त यह है कि नित्य और विभु पदार्थों का परस्पर संयोग होता ही नहीं है । क्योंकि संयोग सम्बन्ध 'युत सिद्ध-पृथक्' पृथक् पदार्थों का ही होता है । 'युत-सिद्धि' का अर्थ यह है कि उन दोनों पदार्थों में से दोनों अथवा कोई एक पृथक् गतिमान् हो । नित्य और विभु पदार्थों में से किसी में भी पृथग्गतिमत्त्व नहीं रहता है, इसलिए उनका संयोग होता ही नहीं है । इस विषय में वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—

नास्त्यजः[2] संयोगः ।......परमाणुभिराकाशादीनां प्रदेशवृत्तिरन्यतरकर्मजः संयोगः विभूनां तु परस्परतः संयोगो नास्ति युतसिद्ध्यभावात् । सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम्, पृथगाश्रयाश्रयित्वञ्चेति ।

संयोग के विनाश के दो कारण होते हैं या तो जिन का संयोग है उनमें ही विभाग गुण उत्पन्न हो जाय तो पूर्व संयोग का नाश हो जाता है । अथवा आश्रय के नाश से भी संयोग का नाश हो जाता है ।

९ विभाग-निरूपण—

विभक्त प्रतीति का हेतु [भूत गुण] 'विभाग' है । वह संयोगपूर्वक और दो में आश्रित रहने वाला है । और वह [भी] तीन प्रकार का है । १ अन्यतर-कर्मज, २ उभयकर्मज, और ३ विभागजविभाग । उनमें प्रथम [अर्थात् अन्यतर-कर्मज विभाग का उदाहरण] जैसे श्येन की [उड़ जाने की] क्रिया से श्येन और पर्वत का विभाग । दूसरा [उभयकर्मज विभाग का उदाहरण] जैसे दो पहलवानों का विभाग, तीसरा [विभागज विभाग] जैसे हाथ और वृक्ष के विभाग से शरीर और वृक्ष का विभाग ।

---

१ सर्वदर्शनसंग्रह वै० द० । २ प्रशस्तपाद भाष्य संयोग प्र० ।

१०-११—परत्वापरत्वे परापरव्यवहारासाधारणकारणे। ते तु द्विविधे दिक्कृते कालकृते च । तत्र दिक्कृतयोरुत्पत्तिः कथ्यते । एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोरिदमस्मात् सन्निकृष्टमिति बुद्ध्यानुगृहीतेन

'संयोगज-संयोग' और 'विभागज-विभाग' की व्याख्या करते समय 'कारणाकारणसंयोगात् कार्याकार्यसंयोगः' । और 'कारणाकारणविभागात् कार्याकार्यविभागः' । इस प्रकार की व्याख्या की गई है । इस पर शङ्का यह हो सकती है कि यदि हस्त-तरु-संयोग से भिन्न काय-तरु संयोग को माना जाय अथवा हस्ततरु-विभाग से भिन्न कायतरु-विभाग को माना जाय तो हाथ और शरीर जो अवयव और अवयवी होने से 'अयुत-सिद्ध' हैं उनमें 'युत-सिद्धि' प्राप्त होने लगेगी । उन दोनों के 'अयुत-सिद्ध' होने से हाथ का तरु के साथ जो विभाग है उसी को शरीर के साथ विभाग मानना चाहिए। इसी प्रकार हाथ का वृक्ष के साथ जो संयोग है उसको ही शरीर और वृक्ष का संयोग मानना चाहिए। अन्यथा हस्त और शरीर का 'अयुतसिद्धत्व' नहीं बनेगा । इसलिए 'संयोगज-संयोग' अथवा 'विभागज-विभाग' मानना उचित नहीं है ।

इसका उत्तर यह दिया गया कि 'युत-सिद्धि' का लक्षण पहले किया जा चुका है । 'सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्वं युतेषु आश्रयेष्वाश्रयित्वं वा' । अर्थात् दोनों में किसी एक की पृथग्गतिमत्ता अथवा भिन्न-भिन्न आश्रयों में रहने को ही 'युत-सिद्धि' कहते हैं । इनमें से पहिला लक्षण नित्य पदार्थों में और दूसरा लक्षण अनित्य पदार्थों में पाया जाता है । इस प्रकार की 'युत-सिद्धि' हस्त और देहादि में नहीं घट सकती है । इसलिए यह दोष नहीं है ।

ऊपर पृथक्त्व और विभाग दो गुण माने गए हैं। इनमें से विभाग क्षणिक और अस्थिर है । पृथक्त्व स्थिर । जिस पदार्थ का दूसरे से विभाग होता है उस विभक्त पदार्थ का पूर्वसंयोग-नाश और उत्तर देशसंयोग हो जाने के बाद विभाग नष्ट हो जाता है । बिभाग की सीमा उत्तरदेशसंयोग के साथ समाप्त हो जाती है और उसके बाद पृथक्त्व की सीमा प्रारम्भ होती है । अर्थात् जहाँ पहुँच कर विभाग समाप्त हो जाता है वहाँ से पृथक्त्व प्रारम्भ होता है ।

१०·११ परत्व और अपरत्व का निरूपण—

'पर' और 'अपर' व्यवहार के असाधारण कारण [क्रमशः] 'परत्व' और 'अपरत्व' [नामक गुण] हैं । वे [दोनों] दो प्रकार के होते हैं दिक्कृत और कालकृत [परत्व तथा अपरत्व] । दिक्कृत [परत्व और अपरत्व] की उत्पत्ति कहते हैं । एक दिशा में रखे हुए दो पिण्डों में यह इसकी अपेक्षा समीप है इस·

दिक्पिण्डसंयोगेनापरत्वं सन्निकृष्टे जन्यते। विप्रकृष्टबुद्ध्या तु परत्वं विप्रकृष्टे जन्यते। सन्निकर्षस्तु पिण्डस्य द्रष्टुः शरीरापेक्षया संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वम्। तद्भूयस्त्वं विप्रकर्ष इति।

कालकृतयोस्तु परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः कथ्यते। अनियतदिगवस्थितयोर्युवस्थविरपिण्डयोः 'अयमस्मादल्पतरकालसम्बद्धः' इत्यपेक्षाबुद्ध्यानुगृहीतेन कालपिण्डसंयोगेनासमवायिकारणेन यूनि, अपरत्वम्। 'अयमस्माद् बहुतरकालेन सम्बद्धः' इति धिया स्थविरे परत्वम्।

१२ गुरुत्वमाद्यपतनासमवायिकारणम्। पृथिवीजलवृत्ति। यथोक्तं-

ज्ञान से सहकृत दिक् और पिण्ड के संयोग से सन्निकृष्ट [पिण्ड] में 'अपरत्व' उत्पन्न होता है। सन्निकर्ष [का अर्थ] तो देखने वाले के शरीर की अपेक्षा से पिण्ड से संयुक्त [दिक्] के संयोग का न्यूनत्व है। और उस [संयुक्त संयोग का भूयस्त्व [आधिक्य का नाम] विप्रकर्ष है।

कालकृत 'परत्व' और 'अपरत्व' की उत्पत्ति [का प्रकार] कहते हैं। अनियत दिशा में स्थित [दिक्कृत में 'एकस्यां दिश्यवस्थितयोः पिण्डयोः' कहा था उसके विपरीत यहाँ कालकृत में अनियत दिशा में स्थित कहा है] युवक तथा वृद्ध [पुरुष] में यह [युवक] इस [वृद्ध] की अपेक्षा अल्पतर कालसम्बद्ध है इस 'अपेक्षाबुद्धि' से अनुगृहीत काल और पिण्ड के संयोग रूप असमवायिकारण से युवक में 'अपरत्व' उत्पन्न होता है, और यह [वृद्ध इस [युवक] की अपेक्षा अधिकतर कालसम्बद्ध है इस अपेक्षा बुद्धि' [से अनुगृहीत काल पिण्ड संयोग] से वृद्ध पुरुष में 'परत्व' उत्पन्न होता है।

परत्वापरत्व के विनाश के ६ कारण हैं। १ कहीं अपेक्षा बुद्धि के नाश से। २ कहीं संयोग के नाश से, ३ कहीं द्रव्य के नाश से, ४ कहीं द्रव्य-बुद्धि के युगपद् विनाश से, ५ कहीं द्रव्य और संयोगके नाश से, ६ कहीं संयोग और अपेक्षाबुद्धि के नाश से, ७ और कहीं समवायिकारण, असमवायिकारण, तथा निमित्तकारण तीनों के नाशसे परत्वापरत्व का नाश हो सकता है। प्रशस्तपादभाष्य में इन सबका सोदाहरणों से विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।

१२ गुरुत्व निरूपण—

आद्य पतन का असमवायिकारण 'गुरुत्व' है [आद्य पद देने का अभिप्राय यह है कि आगे द्वितीयादि क्षण में जो पतन होता है उसका कारण वेग संस्कार होता है जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। प्रथम बार जो पतन होता है केवल उसका असमवायिकारण 'गुरुत्व' है] पृथिवी और जल में रहता है। जैसा कि

संयोग-वेग-प्रयत्नाभावे सति गुरुत्वात् पतनमिति।

१३—द्रवत्वमाद्यस्यन्दनासमवायिकारणम्। भूतेजोजलवृत्ति। भूतेजसोर्घृतादिसुवर्णयोरग्निसंयोगेन द्रवत्वं नैमित्तिकम्। जले नैसर्गिकं द्रवत्वम्।

१४—स्नेहश्चिक्कणता। जलमात्रवृत्तिः, कारणगुणपूर्वको, गुरुत्वादिवद् यावद्द्रव्यभावी।

१५—शब्दः श्रोत्रग्राह्यो गुणः। आकाशस्य विशेषगुणः।

ननु कथमस्य श्रोत्रेण ग्रहणं यतो भेर्यादिदेशे शब्दो जायते श्रोत्रन्तु पुरुषदेशेऽस्ति।

[वैशेषिक सूत्रकार ने] कहा है संयोग, वेग और प्रयत्न (ये तीनों पतन के प्रतिबन्धक हैं] इनके अभाव में 'गुरुत्व' के कारण पतन होता है।

१६ [गुरुत्व के समान ही] आद्य स्यन्दन [बहना-प्रवाहित होना] का असमवायि कारण 'द्रवत्व' [नामक गुण] है। पृथिवी, तेज और जल में रहने वाला है। (इनमें से) पार्थिव घृतादि, और तैजस सुवर्ण में अग्निसंयोग से [उत्पन्न होने वाला] 'नैमित्तिक द्रवत्व' रहता है और जल मे नैसर्गिक द्रवत्व है। [जल के नैसर्गिक द्रवत्व का भी, भोक्ता आत्मविशेष, के अदृष्टादि सहकारी कारणों के अभाव से प्रतिरोध हो सकता है।]

१४ 'स्नेह' [गुण] चिकनापन [का नाम] है। केवल जल में रहता है। कारणगुणपूर्वक [अर्थात् पहिले कारणरूप द्व्यणुकादि में और फिर उसके कार्यभूत त्र्यणुकादि में उत्पन्न होता है] और गुरुत्वादि के समान यावद्द्रव्यभावी [अर्थात् जब तक वह जल रहता है तब तक उसमें स्नेह गुण रहता] है।

१५ श्रोत्रग्राह्य गुण 'शब्द' [कहलाता] है। वह आकाश का विशेष गुण है।

[प्रश्न] इसका श्रोत्र से कैसे ग्रहण होता है क्योंकि शब्द तो भेरी आदि देश में उत्पन्न होता है और श्रोत्र पुरुष देश में है। [अर्थात् दोनों के भिन्न देश में होने से श्रोत्र से शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता है]

दूर देश में उत्पन्न होने वाला शब्द हमको किस प्रकार सुनाई देता है इसका उपपादन के लिये आधुनिक विज्ञान के समान प्राचीन दार्शनिकों ने भी शब्दधारा मानी है। न्याय शब्द की गति या उत्पत्ति के दो प्रकार माने हैं। एक को 'वीचीतरङ्गन्याय' और दूसरे को 'कदम्बमुकुलन्याय' कहते हैं। इन दोनों का अन्तर यह है कि 'वीचीतरङ्गन्याय' में चारो दिशाओं में फैलने वाली शब्द की एक लहर-सी होती है। और 'कदम्बमुकुलन्याय' में चारो

दिशाओं में उत्पन्न होने वाले शब्द अलग-अलग से होते हैं। जैसा कि नीचे दिए चित्र में स्पष्ट हो रहा है—
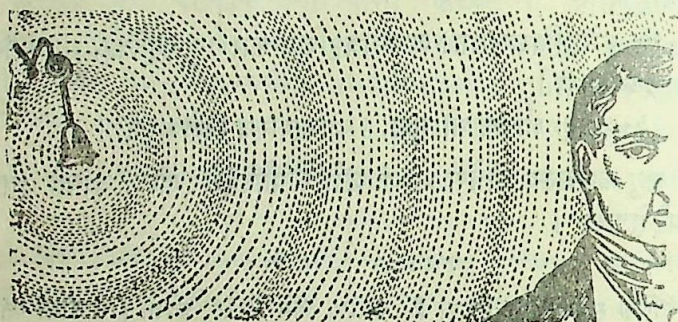
कदम्बमुकुल न्याय से शब्दधारा की गति

ऊपर एक चित्र दिया हुआ है। यह चित्र भौतिक विज्ञान के ग्रन्थ से लिया गया है। आधुनिक वैज्ञानिक जिस रूप में शब्द की गति मानते हैं उसका प्रदर्शन इस चित्र में किया गया है। 'वीचीतरङ्गन्याय' तथा 'कदम्ब-मुकुल न्याय' दोनों का स्पष्टीकरण इस चित्र से भली प्रकार हो जाता है। इस चित्र में घण्टे के पास में बिन्दुओं का चक्र दिखाई देता है कुछ दूर चलने के बाद वह एक तरङ्ग के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार शब्द की गति के दो रूप यहाँ दिखाई दे रहे हैं। इनमें से पहले स्वरूप को प्राचीन आचार्यों ने 'कदम्बमुकुलन्याय' और दूसरे को 'वीचीतरङ्गन्याय' नाम से प्रकट किया है। 'कदम्ब-मुकुल' का अर्थ कदम्ब का फूल या कली है। कदम्ब के फूल की बनावट ठीक इसी प्रकार की होती है जैसे कि घंटे के पास की शब्द धारा में दिखाई पड़ रही है। कदम्ब के फूल के सिर पर केन्द्र में एक कील सी खड़ी होती है। फिर उसके चारो ओर उसी प्रकार की कीलें सी खड़ी होती हैं। देखते में ठीक ऐसी ही होती है जैसी घण्टे के पास की शब्द-धारा दिखाई दे रही है। इसीलिए इस प्रकार की शब्दधारा को सूचित करने के लिए 'कदम्ब-मुकुलन्याय' इस शब्द का विशेषरूप से प्रयोग किया गया है। चित्र में चारो ओर अलग अलग बिन्दु दिखाई दे रहे हैं। इसलिए चारो ओर उत्पन्न होने वाले शब्दों को अलग अलग भी कहा जा सकता है।

थोड़ी दूर चलने के बाद चित्र में अलग-अलग बिन्दुओं के स्थान पर एक बीची या लहर का चक्र सा दिखाई देने लगता है। अर्थात्

सत्यम् । भेरीदेशे जातः शब्दो वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुल-न्यायेन वा सन्निहितं शब्दान्तरमारभते । स च शब्दः शब्दान्तरमिति क्रमेण श्रोत्रदेशे जातोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते न त्वाद्यो नापि मध्यमः । एवं वंशे पाट्यमाने दलद्वयविभागदेशे जातः शब्दः शब्दान्तरारम्भ-क्रमेण श्रोत्रदेशेऽन्त्यं शब्दं जनयति । सोऽन्त्यः शब्दः श्रोत्रेण गृह्यते नाद्यो न मध्यमः । 'भेरीशब्दो मया श्रुत' इति मतिस्तु भ्रान्तैव । भेरीशब्दोत्पत्तौ भेर्याकाशसंयोगोऽसमवायिकारणं, भेरीदण्डसंयोगो निमित्तकारणम् ।

एवं वंशोत्पाटनाच्चटचटाशब्दोत्पत्तौ वंशदलाकाशविभागोऽसमवायि-कारणं, दलद्वयविभागो निमित्तकारणम् । इत्थमाद्यः शब्दः संयोगजो

चारो दिशाओं में उत्पन्न होने वाले शब्दों की एक लहर सी प्रतीत होने लगती है । जैसे यदि पानी में कोई पत्थर डाल दिया जाय तो उससे चारो ओर एक लहर का चक्र सा बन जाता है ठीक उसी प्रकार की रचना इस चित्र के दिए हुए चक्र की है । इसीलिए इस प्रकार की शब्द की गति के लिए प्राचीन आचार्यों ने 'वीचीतरङ्गन्याय' शब्द का प्रयोग किया है । प्राचीन आचार्यों का शब्दधारा का निरूपण आधुनिक विज्ञान से एक दम मिल गया आश्चर्य है । इसी का वर्णन ग्रन्थकार आगे करते हैं—

[उत्तर] आपका कथन ठीक है । परन्तु भेरी में उत्पन्न हुआ शब्द 'वीचीतरङ्गन्याय' से अथवा 'कदम्बमुकुल न्याय' से समीपवर्ती दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है, और वह शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है। इस प्रकार क्रम से श्रोत्र देश में उत्पन्न हुआ अन्तिम शब्द श्रोत्र इन्द्रिय से गृहीत होता है । आदि या मध्यम शब्द नहीं । इसी प्रकार बांस के फाड़ते समय दोनों दलों के विभाग देश में उत्पन्न शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करने के क्रम से श्रोत्र देश में [सुने जाने वाले] अन्तिम शब्द को उत्पन्न करता है । वह अन्त्य शब्द श्रोत्र इन्द्रिय से गृहीत होता है । न आदि का और न बीच का ।] 'मैंने भेरी का शब्द सुना' यह प्रतीति तो भ्रान्ति ही है [क्योंकि भेरी से उत्पन्न शब्द गृहीत नहीं होता है अपितु उस शब्दधारा में श्रोत्र देश में उत्पन्न होने वाला शब्द गृहीत होता है] भेरी शब्द की उत्पत्ति में भेरी और आकाश का संयोग असमवायि कारण है और भेरी-दण्ड का संयोग निमित्त कारण है ।

इसी प्रकार बांस के फाड़ने से चट चट शब्द की उत्पत्ति में बाँस के दल और आकाश का विभाग असमवायिकारण और दोनों दलों का विभाग निमित्त कारण है । इस प्रकार आदि शब्द संयोग अथवा विभाग से उत्पन्न होने वाला

विभागजो वा। अन्त्यमध्यमशब्दास्तु शब्दासमवायिकारणका अनुकूल-वातनिमित्तकारणकाः। यथोक्तं—[1]"संयोगाद् विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः' इति। आद्यादीनां सर्वशब्दानामाकाशमेकमेव समवायिकारणम्। कर्मबुद्धिवत् त्रिक्षणावस्थायित्वम्। तत्राद्यमध्यमशब्दाः कार्यशब्दनाश्याः। अन्त्यस्तूपान्त्येन उपान्तस्त्वन्त्येन सुन्दोपसुन्दन्यायेन विनश्येते। इदं त्वयुक्तम्। उपान्त्येन, त्रिक्षणावस्थायिनोऽन्त्यस्य, द्वितीयक्षणमात्रानुगामिना तृतीयक्षणे चासताऽन्त्यनाशजननासम्भवात्। तस्मादुपान्त्यनाशादेवान्त्यनाश इति।

होता है। अन्त्य और बीच के शब्द तो शब्द असमवायि कारण वाले और अनुकूल वातादि निमित्तकारण वाले होते हैं। जैसा कि [वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार ने] कहा है, संयोग, विभाग और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। आद्य आदि सभी शब्दों का केवल आकाश ही समवायिकारण होता है। कर्म और बुद्धि के समान [शब्द भी क्षणिक है। और न्याय-वैशेषिक के मत में क्षणिक का अर्थ] त्रिक्षणावस्थायित्व है। [क्षणिक पदार्थ प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है दूसरा क्षण उसकी स्थिति का क्षण है और तीसरा क्षण उसके विनाश का क्षण है। इस प्रकार तीन क्षण तक रहने पर भी वह 'क्षणिक' कहलाता है। बौद्ध लोग सभी पदार्थों को 'क्षणिक' मानते हैं परन्तु उनके यहां जो उत्पत्तिक्षण है वही स्थिति और विनाश का भी क्षण है इसलिए उनके यहां त्रिक्षणावस्थायित्व 'क्षणिक' शब्द का अर्थ नहीं होता है]। उन [तीनों शब्दों] में से आदि और मध्यम शब्द [अपने से उत्पन्न होने वाले अगले] कार्यशब्द से नाश्य हैं। [जब अगला शब्द उत्पन्न होता है तो वह अपने कारणभूत शब्द को नष्ट कर देता है] परन्तु अन्त्य शब्द का नाश उपान्त्य और उपान्त्य का नाश अन्त्य से 'सुन्दोपसुन्द न्याय' से होता है [यह एक मत है उसका खण्डन करते हैं] यह ठीक नहीं है। [क्योंकि उपान्त्य का जो स्थिति क्षण है वही अन्त्य का उत्पत्तिक्षण है। वध्यघातकभाव' अथवा 'सहानवस्थान' में से कोई भी विरोध माना जाय अन्त्य शब्द के नाश के क्षण में उपान्त्य विद्यमान नहीं है अतएव वह अन्त्य के नाश का कारण नहीं हो सकता है] तीन क्षण रहने वाले अन्त्य का केवल द्वितीय क्षण में साथ रहने वाले [अर्थात्] तृतीय [अन्त्य के विनाश] क्षण में अविद्यमान उपान्त्य से नाश सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिए [उपान्त्य से नहीं अपितु] उपान्त्य के नाश से अन्त्य का नाश होता है।

---

१. वैशेषिक दर्शन २, २, ३१।

विनाशित्वञ्च शब्दस्यानुमानात् । तथाहि, अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाद् घटवदिति । शब्दस्यानित्यत्वं साध्यम् । अनित्यत्वञ्च विनाशावच्छिन्नस्वरूपत्वं न तु विनाशावच्छिन्नसत्तायोगित्वं, प्रागभावे सत्ताहीनेऽनित्यत्वाभावप्रसङ्गात् । सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं हेतुः । इन्द्रियग्राह्यत्वादित्युच्यमाने आत्मनि व्यभिचारः स्यादत उक्तं बाह्येति । एवमपि तेनैव योगिबाह्येन्द्रियेण ग्राह्ये परमाण्वादौ व्यभिचारः स्यादतो योगिनिरासार्थमुक्तमस्मदादीति ।

किं पुनर्योगिसद्भावे प्रमाणम् ?

[मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं । उनके खण्डन के लिए शब्द का विनाशित्व सिद्ध करते हैं] शब्द का विनाशित्व अनुमान से [सिद्ध होता] है । जैसे कि शब्द अनित्य है [यह प्रतिज्ञा है] सामान्यवान् होते हुए अस्मदादि की बाह्येन्द्रियों से ग्राह्य होने से, घट के समान । [जैसे घट, घटत्व सामान्य रहने के कारण 'सामान्यवान्' है और अस्मदादि की बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य है तथा अनित्य है । इसी प्रकार शब्द भी सामान्यवान् तथा अस्मदादि की बाह्य इन्द्रिय श्रोत्र से गृहीत होने के कारण अनित्य होना चाहिए] शब्द का अनित्यत्व साध्य है । और अनित्यत्व [का लक्षण] विनाशावच्छिन्न स्वरूपत्व है । न कि विनाशावच्छिन्न सत्तायोगित्व । [क्योंकि अनित्य प्रागभाव में सत्ता जाति नहीं रहती परन्तु वह अनित्य होता है । इसलिए यदि 'विनाशावच्छिन्न सत्तायोगित्व' को ही विनाशित्व का लक्षण कहेंगे तो] सत्तारहित 'प्रागभाव' में अनित्यत्व का अभाव प्राप्त होने से । [और 'विनाशावच्छिन्न स्वरूपत्व' को विनाशित्व-अनित्यत्व-मानने से प्रागभाव में भी अनित्यत्व बन जाता है ।] सामान्यवान् होकर अस्मदादि की बाह्येन्द्रिय से ग्राह्यत्व [होने से] यह हेतु [शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि में दिया गया] है । । इसका पदकृत्य दिखाते हैं] केवल 'इन्द्रियग्राह्यत्वात्' कहने से आत्मा [के मन रूप अन्तरिन्द्रिय से ग्राह्य होने से उसमें अनित्यत्व होना चाहिए परन्तु आत्मा नित्य है अतः उस] में व्यभिचार होने लगेगा, इसलिए बाह्य [पद] कहा है ।

इस प्रकार [बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् को विनाशित्व का साधक हेतु मानने पर] भी उसी योगी की बाह्य इन्द्रिय [चक्षुः] से ग्राह्य परमाणु आदि में [बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व होने पर भी विनाशित्व न होने से] व्यभिचार होगा । इसलिए योगी [की बाह्येन्द्रिय] के निराकरण के लिए अस्मदादि [की बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य] यह कहा है ।

[प्रश्न] योगी की सत्ता में क्या प्रमाण है ?

उच्यते। परमाणवः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वाद् घटवदिति। तथापि सामान्यादिना व्यभिचारोऽत उक्तं सामान्यवत्त्वे सतीति। सामान्यादित्रयस्य निःसामान्यत्वात्।

१६–अर्थप्रकाशो बुद्धिः। नित्याऽनित्या च। ऐशी बुद्धिर्नित्या, अन्यदीया त्वनित्या।

[उत्तर] कहते हैं। परमाणु किसी से प्रत्यक्ष होने चाहिए। प्रमेय होने से घट के समान। [यह अनुमान ही योगी की सत्ता में प्रमाण है]। इस प्रकार [अस्मदादि बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व को विनाशित्व का साधक हेतु मानने पर] भी सामान्य आदि [के अस्मदादि बाह्येन्द्रिय ग्राह्य होने पर भी नित्य होने] में व्यभिचार होगा। इसलिए 'सामान्यवत्त्वे सति' यह [विशेषण] कहा है। सामान्य, आदि तीन [सामान्य, विशेष, तथा समवाय] के सामान्य [जाति] से रहित होने से। [सामान्य में 'सामान्यवत्त्व' अंश न होने से अस्मदादि बाह्येन्द्रियग्राह्यत्व होते हुए अनित्यत्व या विनाशित्व प्राप्त नहीं होगा अतः व्यभिचार नहीं होगा]।

१६ अर्थ का प्रकाश [ज्ञान] 'बुद्धि' है। [वह दो प्रकार की होती है] नित्य और अनित्य। ईश्वर की बुद्धि [ज्ञान] नित्य और अन्य [मनुष्यादि] की अनित्य है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है वैशेषिक दर्शन की प्रक्रिया में न्याय दर्शन के प्रमाणादि पदार्थों का अन्तर्भाव इस 'बुद्धि' पदार्थ के अन्तर्गत किया जाता है। वैशेषिक दर्शन के 'प्रशस्तपाद भाष्य' में बुद्धि के प्रथम दो प्रकार के भेद किए गए हैं एक विद्या और दूसरा अविद्या। उसमें भी अविद्या के चार भेद किए हैं। १ संशय २ विपर्यय, ३ अनध्यवसाय और ४ स्वप्न। इनमें 'संशय' और 'अनध्यवसाय' दोनों को अलग माना है। जिनमें 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस प्रकार के उभयकोटिक ज्ञान को संशय और 'व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा किमित्यालोचनमात्रम् अनध्यवसायः'। यह 'अनध्यवसाय' का लक्षण किया है। बुद्धि के भेद करते हुए 'प्रशस्तपाद भाष्य' में लिखा है—

तस्याः अनेकविधत्वेऽपि समासतो द्वे विधे। विद्या चाविद्या चेति। तत्राविद्या चतुर्विधा, संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय-स्वप्नलक्षणा।

स्वप्न के कारण तथा भेदों का वर्णन करते हुए लिखा है—

तत्तु त्रिविधम्—१ संस्कारपाटवात्, २ धातुदोषात्, ३ अदृष्टाच।

अर्थात् स्वप्न, कारण के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। एक संस्कारों की

१७–प्रीतिः सुखम् । तच्च सर्वात्मनामनुकूलवेदनीयम् ।

१८–पीडा दुःखम् । तच्च सर्वात्मनां प्रतिकूलवेदनीयम् ।

१९–राग इच्छा ।

२०–क्रोधो द्वेषः ।

२१–उत्साहः प्रयत्नः ।

बुद्ध्यादयः षड् मानसप्रत्यक्षाः ।

२२–२३–धर्माऽधर्मौ सुखदुःखयोरसाधारणकारणे । तौ चाप्रत्यक्षाव-

प्रबलता के कारण, दूसरे धातु-दोष के कारण और तीसरे अदृष्टवश । साधारणतः मनुष्य जिस बात का ध्यान अधिक करता है अथवा जिसको देखने से मन पर, प्रबल संस्कार पड़ता है उसी वस्तु को स्वप्न में देखता है । इस प्रकार के स्वप्न 'संस्कार-पाटव' के कारण होते हैं । 'धातु' शब्द से आयुर्वेद शास्त्र में 'वात', 'पित्त', 'कफ' लिया जाता है । वातप्रकृति अथवा वातदूषित व्यक्ति को प्रायः आकाश में उड़ने के स्वप्न दिखाई देते हैं । पित्त-प्रकृति या पित्त-दूषित व्यक्ति अग्नि के स्वप्न, और कफ-दूषित व्यक्ति जल के स्वप्न देखता है । यह सब 'धातुदोषात्' वाले स्वप्नों के उदाहरण हैं । और अदृष्टवशात् कभी-कभी मनुष्य ऐसे पदार्थों को भी स्वप्न में देखता है जिनको उसने अपने जीवन में कभी नहीं देखा है । इसी बात को महाकवि श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधीयचरितम्' नामक महाकाव्य में इस प्रकार कहा है—

अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्, करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ।[1]

१७ प्रीति [आनन्द] को 'सुख' कहते हैं । वह सब आत्माओं को अनुकूल अनुभव होने वाला होता है ।

१८ पीड़ा को 'दुःख' कहते हैं । वह सब आत्माओं को प्रतिकूल अनुभव होता है ।

१९ राग का नाम 'इच्छा' है ।

२० क्रोध का नाम 'द्वेष' है ।

२१ उत्साह को 'प्रयत्न' कहते हैं ।

बुद्धि आदि ६ [१ बुद्धि, २ सुख, ३ दुःख, ४ इच्छा, ५ द्वेष, ६ प्रयत्न] मानस प्रत्यक्ष [के विषय] हैं ।

२२–२३ 'धर्म' और 'अधर्म' [आत्मा के] सुख और दुःखके असाधारण कारण हैं । वह दोनों प्रत्यक्ष न होनेपर भी आगम तथा अनुमान से जाने जा सकते हैं ।

---

१ नैषध १ ।

प्यागमगम्यावनुमानगम्यौ च । तथाहि देवदत्तस्य शरीरादिकं देवदत्त-विशेषगुणजन्यं कार्यत्वे सति देवदत्तस्य भोगहेतुत्वात् । देवदत्तप्रयत्नजन्य-वस्तुवत् । यश्च शरीरादिजनक आत्मविशेषगुणः स एव धर्मोऽधर्मश्च । प्रयत्नादीनां शरीराद्यजनकत्वादिति ।

२४—संस्कारव्यवहाराऽसाधारणं कारणं संस्कारः ।

संस्कारस्त्रिविधो वेगो भावना स्थितिस्थापकश्च । तत्र वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः । स च क्रियाहेतुः । भावनाख्यस्तु संस्कार आत्ममात्रवृत्तिरनुभवजन्यः स्मृतिहेतुः । स चोद्बुद्ध एव स्मृतिं जनयति । उद्बोधश्च सहकारिलाभः । सहकारिणश्च संस्कारस्य सदृशदर्शनादयः । तथा चोक्तम्—

'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः ।'

इति । स्थितिस्थापकस्तु स्पर्शवद्द्रव्यविशेषवृत्तिः । अन्यथाभूतस्य स्वाश्रयस्य धनुरादेः पुनस्तादवस्थ्यापादकः। एते च बुद्ध्यादयोऽधर्मान्ता भावना च आत्मविशेषगुणाः ।

जैसे कि [अनुमान-प्रयोग निम्न प्रकार का हो सकता है] देवदत्त के शरीर आदिक देवदत्त के विशेष गुण [धर्माधर्म] से जन्य हैं [यह प्रतिज्ञा है] कार्य होकर देवदत्त के भोग के हेतु होने से, देवदत्त के प्रयत्नजन्य [घट-पटादि] वस्तु के समान । और जो शरीर आदि का जनक आत्मा का विशेषगुण है वही 'धर्म' और 'अधर्म' है । [उनसे भिन्न] प्रयत्नादि [गुणों] के शरीर के जनक न होने से ।

२४ संस्कार, इस प्रकार के व्यवहार का असाधारण कारण 'संस्कार' [नामक गुण] है ।

संस्कार तीन प्रकार का होता है । १ वेग, २ भावना, और ३ स्थिति-स्थापक । उनमें से 'वेग' पृथिवी आदि चार और मन में रहने वाला है और वह क्रिया का हेतु होता है । 'भावना' नामक संस्कार केवल आत्मा में रहने वाला अनुभव से जन्य और स्मृति का हेतु होता है । वह उद्‌बुद्ध होकर ही स्मृति को उत्पन्न करता है । [संस्कार का] उद्‌बोध [उसको] सहकारी का प्राप्त होना है । और संस्कार के सहकारी सदृशदर्शन आदि हैं । जैसा कि कहा है—

सादृश्य, अदृष्ट और चिन्ता आदि स्मृति के बीज [भूत संस्कार] के उद्बोधक हैं ।

स्थितिस्थापक [संस्कार] तो स्पर्शयुक्त द्रव्य विशेषों में रहने वाला, और [खींचने से झुक जाने के कारण] अन्यथा भूत अपने आश्रय [भूत] धनुष आदि को फिर पूर्व अवस्था में लाने वाला होता है ।

यह बुद्धि से लेकर अधर्म पर्यन्त [बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म,

गुणा उक्ताः ।

कर्माणि

कर्माणि उच्यन्ते । चलनात्मकं कर्म, गुण इव द्रव्यमात्रवृत्ति । अविभुद्रव्यपरिमाणेन मूर्तत्वापरनाम्ना सहैकार्थसमवेतं विभागद्वारा पूर्वसंयोगनाशे सत्युत्तरदेशसंयोगहेतुश्च । तच्च उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुञ्चन-प्रसारण-गमन-भेदात् पञ्चविधम् । भ्रमणादयस्तु गमनग्रहणेनैव गृह्यन्ते ।

सामान्यम्

अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम् । द्रव्यादित्रयवृत्ति, नित्यमेकमनेकानुगतञ्च । तच्च द्विविधं, परमपरञ्च । परं सत्ता बहुविषयत्वात् । सा चानुवृत्तिप्रत्ययमात्रहेतुत्वात् सामान्यमात्रम् । अपरं द्रव्यत्वादि ।

अधर्म, यह सात] तथा भावना [नामक संस्कार] आत्मा के 'विशेष गुण' हैं ।

गुणों का वर्णन समाप्त हो गया ।

कर्म

[अब] कर्मों का वर्णन करते हैं । गति रूप 'कर्म' [होता] है । गुण के समान केवल द्रव्य में रहता है । और 'अविभु' द्रव्य के परिमाण जिसे 'मूर्तत्व' नाम से भी कहते हैं, के साथ एक [ही] अर्थ में समवाय सम्बन्ध से रहता है। और विभाग द्वारा पूर्व संयोग के नाश द्वारा उत्तर देश में संयोग का हेतु होता है । वह १ उत्क्षेपण [ऊर्ध्व गति], २ अपक्षेपण [अधोगमन], ३ आकुञ्चन [हाथ आदि का सिकोड़ना], ४ प्रसारण [फैलाना], और [साधारण] गमन भेद से पांच प्रकार का [होता] है । भ्रमण आदि [रेचन, स्यन्दन आदि] का ग्रहण गमन के ग्रहण में ही हो जाता है ।

सामान्य

'सामान्य' अनुवृत्ति प्रत्यय [अर्थात् अनुगत प्रतीति, एकाकार प्रतीति दस घट व्यक्तियों में होने वाली अयं घटः, अयं घटः इत्याकारक समान प्रतीति] का कारण सामान्य [जाति] है । वह द्रव्यादि तीन [१ द्रव्य, २ गुण, ३ कर्म] में रहने वाला नित्य, एक, और अनेक वृत्ति होता है । नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम् सामान्यम्-यह भी सामान्य का दूसरा लक्षण है । वह [सामान्य] दो प्रकार का होता है 'पर' और 'अपर' । [उनमें से] अधिक विषय वाला [व्यापक] होने से 'सत्ता' [द्रव्य, गुण तथा कर्म तीनों में रहने वाली सत्ता जाति] 'पर' [सामान्य] है । और वह अनुगत प्रतीति का ही हेतु होने से 'सामान्य' ही है [विशेष कभी नहीं होता है । उससे अधिक देश में रहने वाला और कोई

अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषः।

सामान्य नहीं है। द्रव्यत्वादि [अन्य सामान्य उसकी अपेक्षा अल्प देश-वृत्ति होने से] 'अपर' [सामान्य] हैं। और वह व्यावृत्ति [भेदबुद्धि] का भी हेतु होने से सामान्य होते हुए [भी] विशेष [होते] हैं।

इसको स्पष्ट रूप से यों समझना चाहिए कि दस घट व्यक्तियों में 'घटः, घटः' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति या एकाकार प्रतीति होती है। उससे घट में रहने वाला 'घटत्व' सामान्य सिद्ध होता है। परन्तु वह घट एक पार्थिव पदार्थ है इसलिए उसमें 'पृथिवीत्व' सामान्य भी रहता है। 'घटत्व' सामान्य केवल घटों में रहता है परन्तु 'पृथिवीत्व' सामान्य घट के अतिरिक्त पट, मठ, आदि अन्य पार्थिव पदार्थों में भी रहता है। इसलिए 'पृथिवीत्व' सामान्य 'घटत्व' की अपेक्षा अधिक देशवृत्ति होने से 'पर' सामान्य माना जायगा। पृथिवी की गणना नौ द्रव्यों में की गई है अतः पृथिवी भी एक द्रव्य है। और अन्य द्रव्यों की भांति पृथिवी में भी 'द्रव्यत्व' सामान्य रहता है। पृथिवी में 'पृथिवीत्व' सामान्य है और 'द्रव्यत्व' सामान्य भी रहता है। इनमें से 'पृथिवीत्व' सामान्य तो केवल पृथिवी में रहता है परन्तु 'द्रव्यत्व' सामान्य पृथिवी के अतिरिक्त जल, वायु, अग्नि, आदि अन्य आठ द्रव्यों में भी रहता है इसलिए वह 'पृथिवीत्व' सामान्य की अपेक्षा अधिक देशवृत्ति होने से, 'पर सामान्य' है। और 'पृथिवीत्व' सामान्य 'द्रव्यत्व'सामान्य की अपेक्षा 'अपर सामान्य' है।

पृथिवी आदि द्रव्यों में द्रव्यत्व सामान्य के अतिरिक्त 'सत्ता' सामान्य भी रहता है। क्योंकि पृथिवी आदि सभी द्रव्य 'सत्' हैं। अतः उनमें 'सत्ता' सामान्य भी माना जाता है। इस प्रकार द्रव्यों में 'द्रव्यत्व' सामान्य, तथा 'सत्ता' सामान्य दो सामान्य रहते हैं। इनमें से 'द्रव्यत्व' सामान्य तो केवल नौ द्रव्यों में रहता है परन्तु 'सत्ता' सामान्य नौ द्रव्यों के अतिरिक्त गुण और कर्म में भी रहता है इसलिए 'सत्ता' सामान्य 'द्रव्यत्व' सामान्य की अपेक्षा 'पर सामान्य' है और 'द्रव्यत्व' सामान्य, 'सत्ता' सामान्य की अपेक्षा 'अपर सामान्य' है।

इस प्रकार घटमें १ 'घटत्वसामान्य' २ 'पृथिवीत्व सामान्य' ३ 'द्रव्यत्वसामान्य' और ४ 'सत्ता सामान्य' यह चार सामान्य रहते हैं। इनमें से 'घटत्व सामान्य' सबसे 'अपर सामान्य' और सत्ता सामान्य सबसे 'पर सामान्य है। बीच के 'पृथिवीत्व' और 'द्रव्यत्व' सामान्य में आपेक्षिक 'परत्व' या 'अपरत्व' रहता है।

पृथिवीत्व' सामान्य 'घटत्व' सामान्य की अपेक्षा 'पर' सामान्य है परन्तु 'द्रव्यत्व' की अपेक्षा 'अपर' सामान्य है। इसी प्रकार 'द्रव्यत्व' सामान्य 'पृथिवीत्व' सामान्य की अपेक्षा 'पर' सामान्य है और 'सत्ता' सामान्य की अपेक्षा अल्पदेश वृत्ति होने से 'अपर' सामान्य है। परन्तु 'सत्ता' सामान्य किसी की अपेक्षा 'अपर' नहीं है। इसलिए सत्ताको 'पर सामान्य' कहा है। सामान्य का कार्य अनुवृत्ति-प्रत्यय अर्थात् एकाकार-प्रतीति को उत्पन्न करना है। सत्ता सदैव एकाकार प्रतीति का कारण ही होती है। इसलिए वह सदा 'सामान्य' ही कहलाती है।

'घटत्व' आदि 'अपर सामान्य' अनुवृत्ति-प्रत्यय के भी कारण होते हैं और भेद बुद्धि को भी उत्पन्न करते हैं। जैसे 'घटत्व सामान्य' जहाँ दस घट व्यक्तियों में 'अयं घटः, अयं घटः' इस प्रकार की एकाकार बुद्धि को पैदा करता है इसलिए सामान्य कहलाता है। वहां घट को पट से भिन्न करने वाला भी 'घटत्व' और 'पटत्व' ही है। घट पट से भिन्न इसलिए है कि घट में 'घटत्व' रहता है पट में नहीं। इस प्रकार घटत्व एकाकार-प्रतीति का भी कारण होता है और भेद-बुद्धि का भी कारण होता है। इसलिए जब वह 'अनुवृत्ति-प्रत्यय' अर्थात् एकाकार बुद्धि को उत्पन्न करता है तब वह सामान्य कहलाता है। और जब वह भेद-बुद्धि को उत्पन्न करता है तब 'विशेष' कहलाता है। 'सत्ता सामान्य' को छोड़कर शेष सब सामान्य दोनों काम करते हैं इसलिए वह 'सामान्यं सद् विशेषाख्यामपि लभते' 'सामान्य' होते हुए 'विशेष' भी कहलाते हैं। परन्तु 'सत्ता सामान्य को केवल 'अनुवृत्ति-प्रत्यय' का ही हेतु होता है इसलिए 'सा त्वनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव'। वह तो केवल अनुवृत्ति-प्रत्यय का हेतु होने से 'सामान्य' ही है, 'विशेष' नहीं।

'सत्ता सामान्य' को अत्यन्त 'पर' सामान्य कहा है क्योंकि वह अन्य सब की अपेक्षा अधिकदेश-वृत्ति है। वह द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में रहती है। यहां शङ्का हो सकती है कि जैसे द्रव्य, गुण और कर्म सत् हैं वैसे ही 'सामान्य', 'विशेष', 'समवाय' यह तीनों और पदार्थ भी सत् अर्थात् भाव भूत हैं, इसलिए 'सत्ता-सामान्य' इन तीनों में भी मानना चाहिए। अर्थात् छहों भाव पदार्थों में 'सत्ता-सामान्य' मानना चाहिए उसे केवल द्रव्यत्रयवृत्ति ही क्यों कहा है। इसका उत्तर यह है कि द्रव्य, गुण, कर्म यह तीन तो 'सत्ता सामान्य' के सम्बन्ध होनेके कारण सत् है परन्तु शेष तीन पदार्थ 'स्वरूप सत्' हैं 'सत्ता सामान्य' के योग से सत् नहीं हैं। उनमें 'सत्ता' जाति नहीं रहती है। कारण कि यदि सत्ता जातिमें जाति मानें तो जाति में जाति मानने का सिद्धान्त

बन जायगा और उस दशा में 'अनवस्था' दोष होगा। जाति में जाति मानने से जैसे 'घटत्व' जाति में 'घटत्वत्व' सामान्य माना जाने लगेगा। इसी प्रकार इस घटत्वत्वों में रहने वाला एक और सामान्य घटत्व-त्व-त्व बन जायगा। और यह परम्परा अनन्त काल तक चलती रहेगी। उसकी कहीं समाप्ति नहीं होगी। इसलिए 'अनवस्था' दोष होने से जाति में जाति रहने का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता है। अतएव सामान्य पदार्थ, जो जाति स्वरूप है दूसरी जाति या 'सत्ता सामान्य' नहीं माना जा सकता है। इसलिए 'अनवस्था-भयात्' 'सामान्य' में 'सत्ता' जाति नहीं रहती है यह सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार 'विशेष' में भी 'सामान्य' नहीं माना जा सकता है। 'विशेष' में यदि 'सामान्य' माना जाय तो उस विशेष का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। विशेष को अन्तिम भेदक धर्म के रूप में माना गया है और उसका स्वरूप ही 'स्वतो व्यावृत्त' है। 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः'। नित्य द्रव्य परमाणु आदि में रहने वाले अन्तिम भेदक धर्म को 'विशेष' कहते हैं। और प्रत्येक परमाणु आदि में रहने वाला 'विशेष' बिल्कुल अलग अलग 'स्वतो व्यावृत्त' होता है। अब यदि इन अलग अलग विशेषों में 'विशेषत्व' नाम का सामान्य धर्म या जाति मान ली जाय तो फिर 'विशेष' का जो 'स्वतो व्यावृत्त' स्वरूप है वही नष्ट हो जायगा। अतएव 'स्वरूपहानि-भयात्' 'विशेष' में 'सामान्य' नहीं माना जाता है। इसलिए 'विशेष' पदार्थ में भी 'सत्ता' जाति नहीं रहती है।

इसी प्रकार 'समवाय' में भी 'सामान्य' नहीं रहता है। समवाय में 'सामान्य' के अभाव मानने का कारण 'असम्बन्ध' है। अर्थात् यदि समवाय में 'समवा-यत्व' जाति मानें तो जाति 'समवाय' संबन्ध से ही व्यक्ति में रहती है इसलिए समवाय में भी 'समवाय' सम्बन्ध से ही जाति रहेगी। अतएव 'समवाय' पदार्थ में उससे भिन्न 'समवायत्व' जाति की स्थिति का निर्वाह करने वाला एक और 'समबाय' मानना होगा। जो कि सम्भव नहीं है। इसलिए समवाय में समवायत्व जाति का नियामक कोई सम्बन्ध न बनने से 'समवाय' में जाति नहीं रहती है। अतएव 'समवाय' में 'सत्ता' जाति नहीं रहती है। इस प्रकार १ 'सामान्य' में जाति मानने में 'अनवस्था', २ 'विशेष' में जाति मानने में 'रूप-हानि', और ३ 'समवाय' में जाति मानने में 'असम्बन्ध' दोषों के बाधक होने से इन तीनों पदार्थों में 'सत्ता' अथवा अन्य कोई भी जाति नहीं रहती। अतः यह तीनों 'सत्ता' जाति के सम्बन्ध से 'सत्' नहीं कहलाते अपितु 'स्वरूप

सत्' है। जातिबाधक इन हेतुओं का संग्रह एक कारिका में इस प्रकार किया गया है—

[1]व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥

बौद्ध लोग 'सामान्य' या 'जाति' पदार्थ को नहीं मानते हैं। नैयायिकों का 'सामान्य' नित्य और अनेक समवेत धर्म है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतं सामान्यम्' यह भी उसका लक्षण किया गया है। इसके अनुसार सामान्य नित्य ही होता है। परन्तु बौद्ध लोग तो क्षणभङ्गवादी हैं। उनके यहां 'सर्वं क्षणिकम्', सब कुछ क्षणिक है यह एक मुख्य सिद्धान्त है। इसलिए वह 'जाति' जैसे नित्य पदार्थ को मान ही नहीं सकते हैं। 'जाति' का खण्डन कर देने पर 'जाति' का कार्य 'अनुवृत्ति-प्रत्यय' अथवा एकाकार प्रतीति है वह कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर बौद्ध लोग 'अपोह' के द्वारा देते हैं। अर्थात् 'अनुवृत्ति-प्रत्यय' का कारण वह जाति के स्थान पर 'अपोह' को मानते हैं। 'अपोह' का अर्थ है 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्न-भिन्नत्व'। दस घट व्यक्तियों में जो घटः, घटः इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है उसका कारण उनमें रहने वाला 'घटत्व सामान्य' नहीं अपितु उनका 'अघटव्यावृत्त' या घटभिन्न सारे जगत् में भिन्न होना ही है। अतत् अर्थात् अघट, अर्थात् घट से भिन्न सारा जगत् हुआ, उस जगत् से भिन्न घट हुआ। यह 'तद्भिन्न-भिन्नत्व' या 'अतद्व्यावृत्ति' ही घटों में अनुगत प्रतीति का कारण है। इसी को बौद्ध दार्शनिक 'अपोह' कहते हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि नैयायिक एकाकार प्रतीति का कारण 'घटत्व सामान्य' को मानते हैं और बौद्ध सामान्य को न मान कर उसके स्थान पर 'अपोह' को एकाकार प्रतीति का आधार मानते हैं। इन दोनों में नाम के अन्तर के अतिरिक्त और तात्त्विक अन्तर क्या है? इसका उत्तर यह है कि नैयायिकों का 'सामान्य' अन्य पदार्थों से भिन्न एक भावभूत नित्य पदार्थ है। और बौद्धों का 'अपोह' 'अन्योन्याभाव' रूप है। न्याय, वैशेषिक जिसको 'अन्योन्याभाव' कहते हैं उसी को बौद्ध दार्शनिक 'अपोह' या 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' आदि शब्दों से कहते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि नैयायिक 'अन्योऽन्याभाव' को मानते ही हैं उसी 'अन्योन्याभाव' रूप 'अपोह' से जब एकाकार प्रतीति का उपपादन हो सकता है तब 'सामान्य' नाम के एक अन्य अलौकिक पदार्थको क्यों माना जाय। अतः उसका मानना व्यर्थ है।

१ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

अत्र कश्चिदाह 'व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं नास्ति' इति। तत्र वयं ब्रूमः किमालम्बना तर्हि भिन्नेषु विलक्षणेषु पिण्डेष्वेकाकारा बुद्धिर्विना सर्वानुगतमेकम्। यच्च तदालम्बनं तदेव सामान्यमिति।

ननु तस्याऽतद्व्यावृत्तिकृतैवैकाकारा बुद्धिरस्तु। तथाहि, सर्वेष्वेव हि गोपिण्डेषु, अगोभ्योऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तिरस्ति। तेनागोव्यावृत्ति-विषय एवायमेकाकारः प्रत्ययोऽनेकेषु, न तु विधिरूपगोत्वसामान्यविषयः। नैवम्। विधिमुखेनैवैकाकारस्फुरणात्।

इसके विपरीत नैयायिकों का कहना है कि घटः आदि प्रतीति में 'अपोह' को कारण मानना अनुभव विरुद्ध क्लिष्ट कल्पना है। जब हम दस घड़ों को देखते हैं तब उन सब में एक अनुगतधर्म की हमको प्रतीति होती है। उन सब घटों में रहने वाले समान धर्म या 'सामान्य' के आधार पर ही उनमें एकाकार प्रतीति होती है। 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' का बोध, 'घटः' आदि एकाकार प्रतीति के काल में नहीं होता है। अतः अनुभव विरुद्ध होने से 'अपोह' को कारण मानना उचित नहीं है इसलिए सामान्य को मानना ही चाहिए। इसी बात को ग्रंथकार आगे कहते हैं—

यहाँ [सामान्य के विषय में] कोई [बौद्ध] कहता है कि [घटादि] व्यक्ति से अतिरिक्त [उसमें रहने वाला 'घटत्व' आदि] 'सामान्य' नहीं हैं।

इस [पूर्वपक्ष के विषय] में हम [यह] कहते हैं कि [यदि सामान्य नहीं है तो] भिन्न भिन्न विलक्षण [घट आदि] पिण्डों में [होने वाली] एकाकार प्रतीति का उन सब में रहने वाले एक [घटत्वादि सामान्य] के सिवाय और क्या आधार है। जो उस [एकाकार प्रतीति] का आधार [आलम्बन या विषय] है, वही 'सामान्य' है।

[इस पर पूर्वपक्षी बौद्ध कहता है] अच्छा [वह] एकाकार प्रतीति 'अतद्-व्यावृत्ति' कृत ही मान ली जाय। जैसे कि सब ही गोपिण्डों में ['अगो' अर्थात्] गोभिन्न अश्वादि से व्यावृत्ति [भिन्नता] होती है। इसलिए अ-गोव्यावृत्ति [गोभिन्न-भिन्नत्व] विषयक ही अनेक [गोपिण्डादि] में होने वाला यह एकाकार ज्ञान है भावभूत [गोत्वादि] सामान्यविषयक नहीं।

[इसका उत्तर नैयायिक देता है] यह ठीक नहीं है। एकाकार प्रतीति के विधिमुख [भाव रूप] से ही होने से [अर्थात् एकाकार प्रतीति में अतद्व्यावृत्ति स्पष्ट अनुभव में नहीं आती है अपितु अनुगत भावभूत 'सामान्य' ही उस प्रतीति का विषय होता है]।

विशेषः

विशेषो नित्यो नित्यद्रव्यवृत्तिः । व्यावृत्तिबुद्धिमात्रहेतुः । नित्यद्रव्याणि त्वाकाशादीनि पञ्च । पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपाः ।

विशेष

नित्यद्रव्य [परमाणु आदि] में रहने वाला और नित्य [अन्तिम भेदक धर्म] विशेष है । [वह] केवल व्यावृत्ति [भेद] बुद्धि का हेतु होता है । नित्यद्रव्य [से] आकाश आदि पांच हैं । [जिनमें से] पृथिवी आदि चार [१ पृथिवी, २ जल, ३ वायु, ४ अग्नि केवल] परमाणु रूप [ही नित्य है । कार्य रूप पृथिवी आदि नित्य है । इनमें रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म 'विशेष' कहलाता] है ।

'विशेष' पदार्थ वैशेषिक दर्शन का सबसे मुख्य पदार्थ है । इसी के आधार पर कदाचित् इस दर्शन का 'वैशेषिक' नाम पड़ा है । घटादि पदार्थों का सजातीय पदार्थान्तर से जो भेद होता है उसका उपपादन साधारणतः अवयव भेद के आधार पर किया जाता है । एक घट दूसरे से क्यों भिन्न है । इसका उत्तर यह है कि दोनों घट भिन्न अवयवों अर्थात् कपालों से बने हैं । वह कपाल परस्पर क्यों भिन्न हैं इसका भी उत्तर वही है कि उनके अवयव अर्थात् कपालिकाएँ भिन्न हैं । फिर कपालिकाओं के भेद के विषय में भी अवयव भेद को ही कारण कहा जा सकता है । इस प्रकार चलते चलते परमाणुओं पर पहुँचते हैं । वहां भी यह प्रश्न होता है कि एक पार्थिव परमाणु दूसरे पार्थिव परमाणु से क्यों भिन्न है । इसका उत्तर अवयव-भेद से नहीं दिया जा सकता है । क्योंकि परमाणु के अवयव नहीं होते हैं । इसलिए परमाणुओं के भेद का उपपादन करने के लिए उनमें 'विशेष' पदार्थ की कल्पना की गई है । इस 'विशेष' के रहने के कारण एक पार्थिव परमाणु, दूसरे पार्थिव परमाणु से भिन्न है ।

अब प्रश्न यह हो सकता है कि यह 'विशेष' क्यों भिन्न हैं ? इसका उत्तर यह है कि 'विशेष' का स्वरूप ही 'स्वतो-व्यावृत्त' है । उसका भेदक अन्य कोई धर्म नहीं है । यह 'विशेष' ही नित्य द्रव्यों में रहने वाला अन्तिम भेदक धर्म है । यह 'विशेष' जिन नित्य द्रव्यों में रह सकता है वह नित्यद्रव्य पृथिवी आदि चार के परमाणु और आकाश कुल पांच है । शेष चार द्रव्यों में से काल और दिक् अभिन्न व एक हैं, अतः उनमें 'विशेष' के मानने की आवश्यकता नहीं है । आत्मा और मन के भेदक धर्म उनके अपने गुण अदृष्ट, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि ही हो जाते हैं इसलिए उनमें भी 'विशेष' के

समवायः

अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। स चोक्त एव।

नन्ववयवावयविनावप्ययुतसिद्धौ तेन तयोः सम्बन्धः समवाय इत्युक्तम्। न चैतद् युक्तम्। अवयवातिरिक्तस्यावयविनोऽभावात्। परमाणव एव बहवस्तथाभूताः सन्निकृष्टाः घटोऽयं घटोऽयमिति गृह्यन्ते।

अत्रोच्यते। अस्त्येकः स्थूलो घट इति प्रत्यक्षा बुद्धिः। न च सा परमाणुष्वनेकेष्वस्थूलेष्वतीन्द्रियेषु भवितुमर्हति। भ्रान्तेयं बुद्धिरिति चेत्। न। बाधकाभावात्।

मानने की आवश्यकता नहीं है। अतः पृथिवी आदि पांच में ही 'विशेष' के मानने की आवश्यकता होती है।

समवाय

आगे समवाय का निरूपण करते हैं।

'अयुत सिद्धों' का सम्बन्ध 'समवाय' होता है। उसका वर्णन किया जा चुका है।

[प्रश्न] अवयव और अवयवी भी 'अयुत-सिद्ध' हैं इसलिए उनका सम्बन्ध 'समवाय' है यह [आपने पहिले समवाय के वर्णन के प्रसङ्ग में] कहा था। परन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि अवयव के अतिरिक्त अवयवी [घटादि] की कोई सत्ता नहीं है। [यह बौद्धों का मत है। वह अवयवों के अतिरिक्त अवयवी को नहीं मानते हैं। क्योंकि घटादि में अवयवी जैसी कोई वस्तु दिखाई नहीं देती है। उनका कहना है कि] बहुत से परमाणु ही उस [घटादि] के रूप में एकत्रित होकर, यह घड़ा है, यह घड़ा है इस रूप में गृहीत होते हैं। [इसलिए उन परमाणु रूप अवयवों के अतिरिक्त घट रूप कोई 'अवयवी' नहीं है]।

इस विषय में [सिद्धान्तपक्ष से उत्तर] कहते हैं। एक, स्थूल, घट है इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। किन्तु [अवयवी के बिना माने], अनेक, अस्थूल [सूक्ष्म] और अतीन्द्रिय परमाणुओं में वह [अनेक परमाणुओं में एक, अ-स्थूल अर्थात् सूक्ष्म परमाणुओं में स्थूलः, और अतीन्द्रिय अप्रत्यक्ष परमाणुओं में प्रत्यक्ष घटः यह प्रतीति] नहीं बन सकती है। यह [एकः स्थूलः प्रत्यक्षः घटः इत्यादि] बुद्धि, भ्रम है यह भी नहीं कह सकते हैं बाधक का अभाव होने से।

नैयायिकों के सिद्धान्तपक्ष का अभिप्राय यह है कि 'एकः, स्थूलः, प्रत्यक्षः, घटः' इस प्रकार की प्रतीति केवल परमाणुओं में नहीं हो सकती है। अनेक

तदेवं षट्पदार्था द्रव्यादयो वर्णिताः । ते च विधिमुखप्रत्ययवेद्यत्वाद् भावरूपा एव ।

अभावरूपः सप्तमः पदार्थः

इदानीं निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावरूपः सप्तमः पदार्थः प्रतिपाद्यते स च अभावः संक्षेपतो द्विविधः । संसर्गाभावोऽन्योऽन्याभावश्चेति । संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः । प्रागभावः, प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावश्चेति ।

उत्पत्तेः प्राक् कारणे कार्यस्याभावः प्रागभावः । यथा तन्तुषु पटा-

---

परमाणुओं में एक प्रतीति, अथवा सूक्ष्म परमाणुओं में स्थूलः घटः प्रतीति, यदि मानी जाय तो उसको भ्रम कहने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है । परन्तु भ्रम-प्रतीति उसको कहते हैं । जिसका बाध हो । अंधेरे में पड़ी रस्सी को देख कर सर्प का भ्रम हो जाता है परन्तु प्रकाश में देखने पर वह सर्प-प्रतीति बाधित हो जाती है । यह सर्प नहीं रज्जु है इस प्रकार अनुभव होने लगता है। इसलिए जो प्रतीति की मिथ्या प्रतीति नहीं कहा जा सकता है । अपितु वह यथार्थ प्रतीति ही है । इस यथार्थ प्रतीति के उपपादन के लिए परमाणु समुदाय से अतिरिक्त घटादि अवयवी का मानना आवश्यक है । जैसे दस सदस्यों से मिल कर एक सभा या समाजका निर्माण हुआ है । यह सदस्य जब एक विशेष स्थान पर विशेष सूचना और नियम के अनुसार बैठते या एकत्र होते हैं तब वह सभा या समाज कहलाता है । वैसे चलते-फिरते कहीं यों ही एकत्र हो जाय तो वह सभा समाज या समाज का अधिवेशन नहीं कहलाता है । इसलिए अवयव समुदाय से 'अवयवी' को अलग ही मानना चाहिये । उसके माने बिना अनेक परमाणुओं में एकः सूक्ष्म परमाणुओंमें स्थूलः और अप्रत्यक्ष परमाणुओं में प्रत्यक्षः घटः इस प्रतीति का उपपादन नहीं हो सकता है ।

इस प्रकार द्रव्य आदि छ [भाव] पदार्थों का वर्णन हो गया । वह विधि रूप ज्ञान का विषय होने से भाव रूप 'अभाव' रूप सप्तम पदार्थ ही हैं ।

'अभाव' रूप सप्तम पदार्थ

अब निषेध मुख प्रमाण से गम्य 'अभाव' रूप सातवें पदार्थ का प्रतिपादन करते हैं । वह 'अभाव' संक्षेप में दो प्रकार का होता है । १ संसर्गाभाव और २ अन्योन्याभाव । [उनमें से] संसर्गाभाव भी तीन प्रकार का है । १ प्रागभाव, २ प्रध्वंसाभाव, और ३ अत्यन्ताभाव ।

उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का जो अभाव [होता है वह] 'प्रागभाव' [कहलाता] है । जैसे [पट की उत्पत्ति के पूर्व] तन्तुओं में [वर्तमान] पट

भावः। स चानादिरुत्पत्तेरभावात्। विनाशी च, कार्यस्यैव तद्विनाशरूपत्वात्।

उत्पन्नस्य कारणेऽभावः प्रध्वंसाभावः। प्रध्वंसो विनाश इति यावत्। यथा भग्ने घटे कपालमालायां घटाभावः। स च मुद्गरप्रहारादिजन्यः। स चोत्पत्तिमानप्यविनाशी नष्टस्य कार्यस्य पुनरनुत्पत्तेः।

त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपाभावः। अन्योन्याभावस्तु तादात्म्यप्रतियोगिताकोऽभावः। 'घटः पटो न भवति' इति।

का अभाव। [उसकी] उत्पत्ति न होने से वह अनादि है। और [अनादि होने पर भी] विनाशी है। कार्य के विनाश रूप होने से।

घट की उत्पत्ति हो जाने से घट का 'प्रागभाव' नष्ट हो जाता है। इसलिए 'प्रागभाव' विनाशी है। घट का 'प्रागभाव' कब से प्रारम्भ हुआ यह नहीं कहा जा सकता। जब घड़ा बना, उसके पूर्व अनादि काल से उस घट का अभाव है। इसलिए यह 'प्रागभाव' अनादि है। जो पदार्थ अनादि हो वह अनन्त, और जो सादि हो वह सान्त होता है यह सामान्य नियम है परन्तु वह केवल भाव पदार्थों के विषयमें ही लागू होता है अभाव के विषय में नहीं। अभाव में तो 'प्रागभाव' अनादि होने पर भी सान्त होता है। और 'प्रध्वंसाभाव' सादि होने पर भी अनन्त होता है।

उत्पन्न हुए [घटादि मुद्गर-प्रहारादि के कारण जब टूट जाते हैं तब उस घट आदि] का कारण [कपाल आदि के रूप] में जो अभाव वह 'प्रध्वंसाभाव' [कहलाता] है। प्रध्वंस का अर्थ विनाश है। जैसे घड़े के फूट जाने पर कपाल माला में [वर्तमान] घटाभाव। और वह [प्रध्वंसाभाव] मुद्गर-प्रहार आदि से उत्पन्न हुआ है। वह उत्पत्तिमान् होने पर भी अविनाशी है [क्योंकि] नष्ट हुए कार्य की पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती है। [उस मिट्टी से अथवा उन कपालों से यदि दुबारा घड़ा बनाया भी जाय तो वह दूसरा ही घट होगा। पूर्व विनष्ट घट दुबारा कभी उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिए प्रध्वंसाभाव सादि होने पर भी अनन्त होता है]।

त्रैकालिक [और संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिक] अभाव अत्यन्ताभाव [कहलाता] है। जैसे वायु में रूप का अभाव है [त्रैकालिक अभाव है, और संसर्गावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव होने 'अत्यन्ताभाव' है] 'अन्योन्याभाव' तो 'तादात्म्य-प्रतियोगिताक' अभाव होता है। जैसे 'घट पट नहीं होता है' यह ['अन्योऽन्याभाव' का उदाहरण है]।

'अत्यन्ताभाव' और 'अन्योन्याभाव' का भेद—

'अन्योऽन्याभाव' जैसे घट, पट नहीं है और 'अत्यन्ताभाव' जैसे वायु में रूप नहीं है, यह दोनों ही अभाव त्रैकालिक अभाव होते हैं परन्तु उनमें भेद यह है कि अत्यन्ताभाव तो 'संसर्गावच्छिन्न-प्रतियोगिताक' अभाव होता है और 'अन्योन्याभाव' 'तादात्म्यप्रतियोगिताक' अभाव होता है। जैसे घट पट नहीं है। अर्थात् घट और पट का तादात्म्य या अभेद नहीं है। 'घटः पटो न' यहां घट और पट के संयोग सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा रहा है। घट और पट का संयोग होने पर भी 'घटः पटो न' यह व्यवहार हो सकता है। इसलिए घट और पट के ंयोग रूप संसर्ग का निषेध करना इसका प्रयोजन नहीं है अपितु उन दोनों के अभेद, ऐक्य, या तादात्म्य का निषेध किया जा रहा है। 'घटः पटो न' का अर्थ 'घटपटयोस्तादात्म्यं न' यह है। अर्थात् तादात्म्य से जो अभाव उसको 'अन्योऽन्याभाव' कहते हैं।

जिसका अभाव होता है उसको अभाव का 'प्रतियोगी' कहते हैं। 'यस्य अभावः स तस्य प्रतियोगी'। जैसे घटाभाव का प्रतियोगी घट, और पटाभाव का प्रतियोगी 'पट' होता है। 'प्रतिपोगी' में उस अभाव की प्रतियोगिता रहती है। और इस 'प्रतियोगित्ता' का नियामक कोई सम्बन्ध होता है। जहां अभाव रहता है उसको अभाव का अधिकरण या 'अनुयोगी' कहते हैं। और 'प्रतियोगी' का अधिकरण या 'अनुयोगी' के साथ जो सम्बन्ध होता है वही उस अभाव का प्रतियोगितानियामक अथवा 'प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध' कहलाता है। जैसे 'भूतले घटाभावः' इस प्रतीति में भूतल अधिकरण या 'अनुयोगी' है घट 'प्रतियोगी' है। भूतल और घट का संयोग सम्बन्ध होता है इसलिए भूतल में जो घटाभाव रहता है उसका नियामक अथवा अवच्छेदक सम्बन्ध भी संयोग ही होगा। इसलिए 'भूतले घटाभावः' या 'भूतले घटो नास्ति' को न्याय की भाषा में 'भूतलानुयोगिक-घटप्रतियोगिक-संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक-अभाव' भी कह सकते हैं। यह संयोग एकप्रकारक सम्बन्ध या संसर्ग है इस-लिए यह अभाव 'संसर्गाभाव' कहलाता है।

'घटः पटो न' यह 'अन्योऽन्याभाव' का जो उदाहरण दिया है उसमें घट और पट के तादात्म्य का निषेध किया गया हैं। अतएव यह अभाव 'तादात्म्यप्रतियोगिताक' अभाव है। यह अभाव भी त्रैकालिक अभाव ही है। और 'अत्यन्ताभाव' का लक्षण ही 'त्रैकालिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः' किया गया है। अर्थात् त्रैकालिक अभाव को 'अत्यन्ताभाव' कहते हैं। इसलिए 'अत्यन्ता-

तदेवमर्था व्याख्याताः।

विज्ञानवादनिरासः

ननु ज्ञानाद् ब्रह्मणो वा अर्था व्यतिरिक्ता न सन्ति। मैवम्। अर्थानामपि प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेनाशक्यापलापत्वात्।

भाव' और 'अन्योन्याभाव' का भेद 'प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध' के आधार पर ही होता है। 'अन्योऽन्याभाव' में 'प्रतियोगितावच्छेदक-धर्म' 'तादात्म्य' होता है और 'अत्यन्ताभाव' में 'प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध' 'तादात्म्य' से भिन्न 'संयोग' या 'समवाय' आदि संसर्ग होता है। 'प्रागभाव', 'प्रध्वंसाभाव' और 'अत्यन्ताभाव' इन तीनों में 'प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध' तादात्म्य से भिन्न संयोगादि संसर्ग ही होता है। इसलिए यह तीनों अभाव 'संसर्गावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अभाव' होने से 'संसर्गाभाव' कहलाते हैं। इसके विपरीत 'अन्योऽन्याभाव' में 'प्रतियोगितावच्छेदक-धर्म' 'तादात्म्य के होने से 'तादात्म्य-प्रतियोगिताक अभाव' को 'अन्योऽन्याभाव' कहते हैं।

इस प्रकार [वैशेषिकाभिमत द्रव्य आदि षट् पदार्थ रूप] अर्थों की व्याख्या हो गई।

विज्ञानवाद का निराकरण—

[प्रश्न] ज्ञान अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त [द्रव्य आदि] अर्थों की सत्ता [ही] नहीं है [तब आप उनका वर्णन कैसे करते हैं]।

[उत्तर] यह कहना ठीक नहीं है। [द्रव्य आदि] अर्थों के भी प्रत्यक्ष सिद्ध होने से उनका निषेध नहीं किया जा सकता है।

अर्थों के निरूपण के बाद इस प्रश्न के उठाने का अभिप्राय यह है कि वेदान्त तथा बौद्ध मत जो अर्थों का अलग अस्तित्व नहीं मानते हैं उनके मत का संक्षेप में निराकरण किया जाय। बौद्धों के चार मुख्य दार्शनिक सम्प्रदाय हैं। १ माध्यमिक, २ योगाचार, ३ सौत्रान्तिक और ४ वैभाषिक। इनमें से 'सौत्रान्तिक' और 'वैभाषिक' यह दोनों घट-पट आदि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं। उनमें परस्पर भेद यह है कि उन में से एक [सौत्रान्तिक] बाह्य अर्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध मानता है और दूसरा [वैभाषिक] 'साकारज्ञानवाद' को स्वीकार कर ज्ञान में घट-पटादि अर्थों का आकार मान कर उससे अर्थ का अनुमान मानता है। अर्थ को प्रत्यक्ष नहीं मानता। शेष दो सम्प्रदाय अर्थात् 'माध्यमिक' और 'योगाचार' बाह्य अर्थों का अस्तित्व ही

स्वीकार नहीं करते हैं। इन में से 'माध्यमिक' सम्प्रदाय 'शून्यवादी' और 'योगाचार' सम्प्रदाय 'विज्ञानवादी' नाम से प्रसिद्ध है। 'विज्ञानवादी योगाचार सम्प्रदाय' के मत में केवल ज्ञान का अस्तित्व है घट-पट आदि अर्थों की वास्तविक सत्ता नहीं है। उनकी प्रतीति स्वप्न में दिखाई देने वाली वस्तुओं के समान केवल कल्पित और भ्रम रूप है। उनका कहना यह है कि अर्थ और ज्ञान दोनों का अस्तित्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि लौकिक व्यवहार का उपपादन केवल एक ज्ञान के आधार पर भी किया जा सकता है। जैसे स्वप्न में घट, पट आदि पदार्थों का अस्तित्व नहीं होता है केवल ज्ञान ही होता है और उसी ज्ञान के आधार पर स्वप्न-काल में सारे लौकिक व्यवहारों का उपपादन हो जाता है इसी प्रकार जागृत-काल का सारा व्यवहार भी अर्थों के बिना केवल ज्ञानमात्र से चल रहा है। इसलिए ज्ञान से व्यतिरिक्त अर्थों का अस्तित्व नहीं है। केवल ज्ञान ही एक यथार्थ वस्तु है। अन्य सब दृश्यमान जगत् स्वप्नवत् परिकल्पित और मिथ्या है। यही 'विज्ञानवादी' 'योगाचार' सम्प्रदाय के मत का सार है।

ब्रह्मवादी वेदान्त मत—

वेदान्त दर्शन का 'शाङ्कर' सम्प्रदाय भी बौद्धों के इस 'विज्ञानवाद' से मिलता-जुलता सम्प्रदाय है। उनके मत में ब्रह्म ही सत्य वस्तु है और जगत् स्वप्न-परिकल्पित वस्तु के समान मिथ्या है। वह जगत् को ब्रह्म का 'विवर्त' मात्र कहते हैं। 'विवर्त' का अर्थ है 'अतात्विक अन्यथा प्रतीति'। जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति।

'विवर्तवाद' तथा 'परिणामवाद'—

सृष्टि के विषय में दो प्रकार के मत हैं। सांख्य का मत 'परिणामवाद' कहलाता है और शाङ्कर वेदान्त का मत 'विवर्तवाद' कहलाता है। दूध से दही बनता है। यहाँ दही को दूध का 'परिणाम' कहा जाता है। पहिले दूध रूप में प्रतीति होती थी उसके स्थान पर जब दही की प्रतीति हो रही है। यहां न केवल प्रतीति में भेद हो गया है। अपितु दुग्ध रूप पदार्थ के स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया है। इसलिए इस प्रतीति को 'तात्विक अन्यथाप्रतीति' कहते हैं इसी को 'विकार' या 'परिणाम' भी कहते हैं।

इसके विपरीत रज्जु में सर्प की प्रतीति 'अतात्विक अन्यथा प्रतीति' है। उस में रज्जु बदल कर सर्प नहीं बन गई। रज्जु ज्यों की त्यों रज्जु ही है पर उसमें प्रतीति सर्प की होने लगी है इसकी 'अतात्विक अन्यथा प्रतीति'

या 'विवर्त' कहते हैं। इस 'विवर्त' और 'परिणाम' का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥

अर्थात् जहां तत्त्व-परिवर्तन सहित अन्यथा प्रतीति होती है उसको 'विकार' कहते हैं। जैसे दही दूध का 'विकार' है। इसी को 'परिणाम' भी कहते हैं। सांख्य दर्शन 'परिणामवाद' का प्रतिपादन करता है। और तत्त्व-परिवर्तन के बिना होने वाली अन्यथा प्रतीति को 'विवर्त' कहते हैं। जैसे सर्प रज्जु का 'परिणाम' नहीं अपितु 'विवर्त है। शाङ्कर वेदान्त 'विवर्तवाद' का संस्थापक है। उसके मत में जगत् ब्रह्म का 'विवर्त है। अर्थात् जगत् की प्रतीति ब्रह्म में इसी प्रकार है जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति इस प्रकार शाङ्कर मत में भी जगत्, 'विज्ञान-वादी' बौद्धों के समान, स्वप्न-परिकल्पित वस्तुओं के तुल्य भ्रममात्र है। उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। वास्तविक सत्य वस्तु ब्रह्म ही है।

इस प्रकार बौद्धों के 'विज्ञानवाद' और शङ्कराचार्य के 'ब्रह्मवाद' में बहुत कुछ समानता है। उनमें जो मुख्य अन्तर है वह यह है कि बौद्ध सबको क्षणिक मानते हैं इसलिए उनका 'विज्ञान' भी 'क्षणिक विज्ञान' है। इसके विपरीत 'शाङ्कर वेदान्त' का 'ब्रह्म' नित्य पदार्थ है। इसलिए दोनों में भेद तो है परंतु फिर भी उनका बहुत सा स्वरूप मिलता-जुलता है इसलिए सांख्य-प्रवचन भाष्य में, निम्न पुराण-वचन के आधार पर उस शाङ्कर 'मायावाद' को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा गया है—

मायावादमसच्छास्त्रं 'प्रच्छन्नं बौद्धमेव' च।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥

बौद्धों के 'विज्ञानवाद' में और शङ्कर के 'ब्रह्मवाद' में क्रमशः 'विज्ञान' और 'ब्रह्म' के अतिरिक्त अर्थों का अस्तित्व नहीं माना जाता है। उसका खण्डन करने के लिए ही ग्रन्थकार ने यहां इस प्रसङ्ग की अवतारणा की है। सिद्धांत पक्ष से इन दोनों मतों के खण्डन में जो युक्ति दी गई है वह केवल इतनी ही है कि द्रव्य आदि पदार्थ प्रत्यक्ष सिद्ध हैं अतएव उनका अपलाप नहीं किया जा सकता है। अतः उनका अस्तित्व मानना अनिवार्य है।

'तर्कभाषा' प्रधानतः न्याय की शैली के आधार पर लिखी गई है इसीलिए न्याय के प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थों का निरूपण चल रहा है। प्रमेय बारह माने गये हैं। उनमें से १ आत्मा, २ शरीर, ३ इन्द्रिय, इन तीनों के

५ बुद्धिः

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इत्यादिभिः पर्यायशब्दैर्योऽभिधीयते सा बुद्धिः । अर्थप्रकाशो वा बुद्धिः । सा च संक्षेपतो द्विविधा । अनुभवः स्मरणं च । अनुभवोऽपि द्विविधो, यथार्थोऽयथार्थश्चेति ।

तत्र यथार्थोऽर्थोऽविसंवादी । स च प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्जन्यते । यथा चक्षुरादिभिरदुष्टैर्घटादिज्ञानम् । धूमलिङ्गकमग्निज्ञानम् । गोसादृश्य-

---

निरूपण के बाद चौथा पर्याय 'अर्थ' का आया । इस 'अर्थ' प्रमेय के अन्तर्गत नवीन न्याय की शैली में वैशेषिकोक्त द्रव्य आदि छः पदार्थों का अन्तर्भाव कर लिया गया है । वैसे न्याय-सूत्रकार ने अर्थ शब्द से वैशेषिकोक्त द्रव्य आदि षट् पदार्थों का ग्रहण न करके रूपादि गुणों का ग्रहण किया है । जैसा कि—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ।

इस सूत्र से स्पष्ट है । परन्तु नवीन आचार्यों ने इसी 'अर्थ' प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिक के द्रव्यादि षट् पदार्थों का ग्रहण कर उनका निरूपण किया है । 'तर्कभाषा' ने भी इसी पद्धति का अवलम्बन कर यहां तक वैशेषिकोक्त सब पदार्थों का वर्णन इस 'अर्थ' निरूपण-प्रसङ्ग में कर दिया है । अब आगे क्रमप्राप्त पञ्चम प्रमेय 'बुद्धि' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं । यद्यपि वैशेषिक के गुणों के अन्तर्गत बुद्धि का संक्षिप्त वर्णन किया जा चुका है । परन्तु न्याय में उसको अलग प्रमेय माना है । अतएव आगे उसके क्रमप्राप्त होने से उसका वर्णन करते हैं ।

५. बुद्धि

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय आदि पर्याय शब्दों से जिसको कहा जाता है वह बुद्धि है । अथवा अर्थ के ज्ञान को बुद्धि कहते हैं । वह संक्षेप से दो प्रकार की है [एक] अनुभव और [दूसरी] स्मरण । [उनमें से] अनुभव भी दो प्रकार का होता है [एक] यथार्थ और [दूसरा] अयथार्थ ।

उसमें यथार्थ [अनुभव] अर्थ का अविसंवादी [अर्थानुसारी] होता है और वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उत्पन्न होता है । जैसे १ दोषरहित चक्षु आदि से घट आदि का ज्ञान [यह प्रत्यक्ष यथार्थानुभव है] । धूम आदि [शुद्ध] लिङ्ग से अग्नि आदि का ज्ञान [यह यथार्थ अनुमानरूप अनुभव हुआ] । ३ गो के सादृश्य को देखने से गवय शब्द से वाच्य होने का ज्ञान [यह उपमान

---

१ न्यायदर्शन, १, १, १४ ।

दर्शनाद् गवयशब्दवाच्यताज्ञानम् । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्याज्ज्योतिष्टोमस्य स्वर्गसाधनताज्ञानञ्च ।

अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः । स त्रिविधः । संशयस्तर्को विपर्ययश्चेति, संशयतर्कौ वक्ष्येते ।

विपर्ययस्तु अस्मिंस्तद्ग्रहः । भ्रम इति यावत् । यथा पुरोवर्तिन्यरजते शुक्तिकादौ रजतारोपः, 'इदं रजतम्' इति ।

प्रमाणजन्य यथार्थं अनुभव हुआ] । ४ स्वर्ग की इच्छा रखने वाला ज्योतिष्टोम याग करे, इस [वेद] वाक्य से ज्योतिष्टोम [याग] में स्वर्गसाधनता का ज्ञान [यह शब्द प्रमाणजन्य यथार्थ अनुभव हुआ] ।

अयथार्थं [अनुभव] तो अर्थं का व्यभिचारी और अप्रमाण से उत्पन्न होता है । वह तीन प्रकार है । १ संशय, २ तर्क और ३ विपर्यय । [इनमें से] संशय और तर्क [न्याय के षोडश पदार्थों में गिने हुए हैं अतएव आगे यथास्थान] कहे जावेंगे । [विपर्यय को यहाँ कहते हैं] अतत् में तत् [अरजत शुक्तिकादि में रजत] की प्रतीति विपर्यय या भ्रम है । जैसे सामने स्थित अरजत शुक्तिकादि में रजत का आरोप,कि यह रजत है ।[भ्रम कहलाता हैं]।

ख्यातिपञ्चक—

भ्रमज्ञान अथवा विपर्यय ज्ञान का विश्लेषण कई दार्शनिक सम्प्रदायों में भिन्न २ रीति से किया गया है जिसके परिणामस्वरूप मुख्यतः 'पञ्च ख्यातियां' प्रसिद्ध हैं ।

आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा ।
तथानिर्वचनीयख्यातिरिति ख्यातिपञ्चकम् ॥

'ख्याति' शब्द का अर्थ ज्ञान है । भ्रमस्थल में किसका ज्ञान होता है इसको लेकर इन पांच 'ख्यातियों' की स्थापना हुई है । इनमें से 'आत्मख्याति' और 'असत्ख्याति' यह दो बौद्ध पक्ष हैं । 'आत्मख्याति' में आत्म शब्द से 'विज्ञानवादी' बौद्धों के 'विज्ञानतत्त्व' का ग्रहण करना चाहिए । 'विज्ञानवाद' के अनुसार घट-पट आदि बाह्य विषयों का तो कोई अस्तित्व है ही नहीं । केवल 'विज्ञान' ही इन सब रूपों में भासता है वह बात पहिले कह चुके हैं । इसलिए भ्रमस्थल में स्वयं 'विज्ञान' ही भ्रान्त घट के रूप में भी भासता है । यही 'आत्मख्याति' पक्ष का सार है । दूसरी 'असत् ख्याति' 'शून्यवादी' माध्यमिक बौद्धों का अभिमत पक्ष है । उनके मत में 'विज्ञान' का भी अस्तित्व

नहीं है और शून्य ही सब रूपों में भासता है इसलिए भ्रमस्थल में भी शून्य का ही भान होता है। यह 'असत्ख्याति' का अभिप्राय है।

तीसरा 'अख्याति' पक्ष मीमांसकों में प्रभाकर-सम्प्रदाय का है। 'अख्याति' का अर्थ 'ज्ञान का अभाव' अर्थात् 'भेदाग्रह' है। प्रभाकर का मत यह है कि 'अतस्मिंस्तत्प्रतीतिः' 'अतद्रूपप्रतिष्ठ-ज्ञानम्' अथवा 'तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः' आदि भ्रम के जो लक्षण किए गए हैं उस प्रकार का भ्रमरूप ज्ञान होता ही नहीं है। जिसको दूसरे लोग 'भ्रम' कहते हैं उसका विश्लेषण कर, प्रभाकर यह कहते हैं कि यहाँ भ्रम का कोई अवसर नहीं है। जैसे शुक्ति में रजत की प्रतीति को भ्रम कहा जाता है। यहां तर्कभाषाकार ने भी 'अतस्मिंस्तत्' रूप भ्रम-ज्ञान का उदाहरण यही दिया है। प्रभाकर का कहना है कि यह वस्तुतः एक ज्ञान नहीं है अपितु उसमें 'इदम्' और 'रजतम्' यह दो ज्ञान अलग अलग हैं। 'इदम्' अंश का ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न 'प्रत्यक्ष' ज्ञान होता है और वह यथार्थ ज्ञान है 'रजतम्' इस अंश की 'स्मृति' होती है। वह भी यथार्थ है। इस प्रकार 'इदम्' अंश जो प्रत्यक्ष अनुभवात्मक है वह इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने से यथार्थ है। और 'रजतम्' यह अंश संस्कारजन्य और स्मरणात्मक है, वह भी यथार्थ है। इसलिए दोनों अंशों में से कहीं भी भ्रम नहीं है।

तब प्रश्न यह होता है कि शुक्ति को भ्रम से रजत समझकर मनुष्य उसको उठाने में क्यों प्रवृत्त हो जाता है इसका उत्तर यह है कि इन दोनों ज्ञानों के भेद का ग्रहण उसको नहीं रहता है। उस समय उस व्यक्ति को ज्ञान नहीं रहता है कि मुझे जो 'इदं रजतम्' ज्ञान हो रहा है उसमें से 'इदम्' अंश तो 'अनुभवात्मक' प्रत्यक्ष है और 'रजतम्' अंश 'स्मरणात्मक' है। अनुभव और स्मरणरूप द्विविध ज्ञान के भेद का ग्रहण न होने से मनुष्य उस सीप को उठाने में प्रवृत्त हो जाता है। इसलिए इस व्यवहार का कारण 'भेदाग्रह' है। इसी 'भेदाग्रह' को 'अख्याति', भेद की अख्याति, अर्थात् भेद का ज्ञान न होना कहते हैं।

इसी को 'आख्यातिवाद' कहते हैं। और वह प्रभाकर का सिद्धान्त है।

चौथा 'अनिर्वचनीय ख्याति वाला पक्ष वेदान्तियों का है। उपनिषद् में स्वप्न-वर्णन के प्रसङ्ग में आया है 'तत्र न रथाः, न रथयोगाः, अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते'। अर्थात् वहाँ न रथ होते हैं और न रथयुक्त मार्ग आदि, परन्तु स्वप्नद्रष्टा रथों और रथयुक्त मार्गों की सृष्टि कर लेता है। इस उपनिषद् वाक्य में 'सृजते' शब्द का प्रयोग होता है इससे सिद्ध होता है कि

स्मरणमपि यथार्थमयथार्थञ्चेति द्विविधम्। तदुभयं जागरे। स्वप्ने तु सर्वं ज्ञानं स्मरणमयथार्थञ्च। दोषवशेन तदिति स्थाने इदमित्युदयात्।

सर्वञ्च ज्ञानं निराकारमेव न तु ज्ञानेऽर्थेन स्वस्याकारो जन्यते। साकारज्ञानवादनिराकरणात्। अत एवाकारेणार्थानुमानमपि निरस्तम्।

उपनिषत्कार के मत में स्वप्न-काल में 'प्रातिभासिक' रथ आदि उत्पन्न होते हैं। उनकी स्थिति तथा प्रतीति केवल स्वप्न-काल में ही रहती है। जागने पर वह स्वयं समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार भ्रम के स्थल में भी 'प्रातिभासिक रजत' की उत्पत्ति होती है। उस नवोत्पन्न 'प्रातिभासिक' रजत की स्थिति उतने ही काल तक रहती है जितनी देर तक भ्रम की स्थिति है। इसीलिए उसको 'प्रातिभासिक रजत' कहते हैं। यह 'प्रातिभासिक' रजत सत्य है यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि आगे चल कर उसका बाध होता है। और उसको नितान्त असत् भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। इसलिए यह 'प्रातिभासिक-रजत' 'सत्त्वेन' और 'असत्त्वेन' निर्वक्तुम् अशक्य होने से 'अनिर्वचनीय' रजत कहा जाता है। भ्रम-स्थल में 'अनिर्वचनीय' रजत आदि का ही भान होता है। इसलिए शाङ्कर वेदान्त के इस सिद्धान्त को 'अनिर्वचनीय ख्याति' नाम दिया गया है।

पञ्चम 'अन्यथा-ख्यातिवाद' नैयायिकों का पक्ष है। नैयायिकों का कहना है कि शुक्ति-रजतस्थल में 'प्रातिभासिक रजत' की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है। दोष के प्रभाव से जैसे पाण्डुरोग के रोगी को 'पीतः शंखः' प्रतीति होने लगती है इसी प्रकार दोषवश से हट्टस्थ अर्थात् बाजार में रखे हुए रजत की प्रतीति शुक्ति में होने लगती है। इसी का नाम 'अन्यथा-ख्याति' है।

स्मरण भी दो प्रकार का होता है—१ यथार्थ और २ अयथार्थ। जाग्रत् अवस्था में दोनों प्रकार का स्मरण होता है। और स्वप्न में तो सारा ज्ञान स्मरणात्मक और अयथार्थ ही होता है। दोषवश से [तत्] वह के स्थान पर यह [इदम्] प्रतीति होने से।

ज्ञान के आकार से अर्थों का अनुमान करके अर्थों को अनुमेय मानने वाले बौद्धों के 'वैभाषिक' सम्प्रदाय का उल्लेख पीछे किया जा चुका है उनके सिद्धान्त का निराकरण करने के लिए आगे का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

और सारा ज्ञान निराकरण ही होता है। अर्थ, ज्ञान में अपना [कोई] आकार उत्पन्न नहीं करता है। साकार ज्ञानवाद का खण्डन हो जाने से [अर्थात् यदि ज्ञान का आकार माना जाय तो वह कोई नियत आकार नहीं बन सकता

प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् घटादेः। सर्वं ज्ञानमर्थनिरूप्यं, अर्थप्रतिबद्धस्यैव तस्य मनसा निरूपणात्। घटज्ञानवानहं, इत्येतावन्मात्रं गम्यते न तु 'ज्ञानवानहम्' इत्येतावन्मात्रं ज्ञायते।

६ मनः

अन्तरिन्द्रियं मनः। तच्चोक्तमेव।

७ प्रवृत्तिः

प्रवृत्तिः धर्माधर्ममयी यागादिक्रिया, तस्या जगद्व्यवहारसाधकत्वात्।

८ दोषाः

दोषा राग-द्वेष-मोहाः।

राग इच्छा।

द्वेषो मन्युः, क्रोध इति यावत्।

मोहो मिथ्याज्ञानं विपर्यय इति यावत्।

९ प्रेत्यभावः

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। स चात्मनः पूर्वदेहनिवृत्तिः, अपूर्वदेहसङ्घातलाभः।

है।] इसलिए आकार से अर्थ का अनुमान भी खण्डित हो जाता है। घटादि के प्रत्यक्ष सिद्ध होने से [उनको अनुमेय मानने की कोई आवश्यकता भी नहीं है]। सारा ज्ञान अर्थ से निरूपित होता है। 'मैं घटज्ञानवान् हूँ' [विषय सहित] यही प्रतीत होता है [केवल विषय रहित] 'ज्ञानवानहम्' केवल इतना ही प्रतीत नहीं होता है। [अतः सारा ज्ञान अर्थ से ही निरूपित होता है]।

अन्तरिन्द्रिय [का नाम] 'मन' है। और वह कहा जा चुका है।

धर्म-अधर्म रूप यागादि क्रिया [और उससे उत्पन्न धर्माधर्म] प्रवृत्ति [कहलाते] हैं। उस [धर्माधर्म रूप प्रवृत्ति] के जगत् के व्यवहार का साधक होने से।

राग-द्वेष-मोह [यह तीनों] 'दोष' हैं।

'राग' इच्छा [को कहते] हैं।

'द्वेष' मन्यु अर्थात् क्रोध [को कहते हैं]।

'मोह' मिथ्या ज्ञान अर्थात् विपर्यय [को कहते हैं]।

पुनर्जन्म प्रेत्यभाव [प्रेत्य-मर कर, भाव-अर्थात् फिर उत्पन्न होना] है। और वह [पुनर्जन्म] आत्मा के पूर्व शरीर की समाप्ति और नवीन शरीर आदि समूह की प्राप्ति [ही] है [अर्थात् पुनरुत्पत्ति नहीं समझनी चाहिए। क्योंकि

१० फलम्

फलं पुनर्भोगः सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः ।

११ दुःखम्

पीडा दुःखम् । तच्चोक्तमेव ।

१२ अपवर्गः

मोक्षोऽपवर्गः । स चैकविंशतिप्रभेदभिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः। एकविंशतिभेदास्तु शरीरं, षडिन्द्रियाणि, षड् विषयाः, षड् बुद्धयः, सुखं दुःखञ्चेति गौणमुख्यभेदात् । सुखं तु दुःखमेव दुःखानुषङ्गित्वात् । अनुषङ्गोऽविनाभावः । स चायमुपचारो मधुनि विषसंयुक्ते मधुनोऽपि विषपक्षनिक्षेपवत् ।

स पुनरपवर्गः कथं भवति ?

उच्यते । शास्त्राद् विदितसमस्तपदार्थतत्त्वस्य, विषयदोषदर्शनविरक्तस्य मुमुक्षोर्ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः क्लेश-

---

आत्मा तो नित्य है वह कभी उत्पन्न नहीं होता है । देह-इन्द्रिय आदि के साथ आत्मा के पुनः सम्बन्ध का नाम ही प्रेत्यभाव या पुनर्जन्म है]।

सुःख या दुःख में से किसी के अनुभव रूप भोग को 'फल' कहते हैं ।

पीड़ा को 'दुःख' कहते हैं उसका वर्णन हो ही चुका ।

मोक्ष को 'अपवर्ग' कहते हैं । और वह [मोक्ष] इक्कीस प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है [दुःखों के] इक्कीस भेद तो [इस प्रकार हैं] शरीर, छः इन्द्रियाँ, छः विषय, छः ज्ञान, और सुख तथा दुःख । यह गौण और मुख्य भेद से [इक्कीस प्रकार के दुःख हैं, जिससे छूटने का नाम 'अपवर्ग' या मोक्ष है]। दुःख से मिश्रित होने के कारण [लौकिक] सुख भी दुःख ही है। अनुषङ्ग [का अर्थ] 'अविनाभाव' है । मधु के विष संयुक्त होने पर [मधु को भी] विष समझे जाने के समान [लौकिक सुख को दुःख से अविनाभूत, मिश्रित, होने से दुःख समझने का] उपचार [गौण व्यवहार] है ।

[प्रश्न] वह 'अपवर्ग' कैसे प्राप्त होता है ?

[उत्तर] कहते हैं। [सबसे पहिले] शास्त्रों [के अध्ययन] से समस्त पदार्थों का तत्त्व ज्ञान प्राप्त करके विषयों के दोषों को देखने से [लौकिक विषयों के प्रति] विरक्त, [हुए अतएव] मोक्ष की इच्छा करने वाले [और उसकी प्राप्ति के लिए योग शास्त्र में वर्णित प्रकार से] ध्यान करने वाले मुमुक्षु साधक के ध्यान के परिपक्व होने से आत्मसाक्षात्कार करने वाले अतएव [आत्म-ज्ञान हो जाने से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांच]

हीनस्य, निष्कामकर्मानुष्ठानादनागतधर्माऽधर्मावनर्जयतः पूर्वोपात्तञ्च धर्माऽधर्मप्रचयं योगर्द्धिप्रभावाद् विदित्वा, समाहृत्य भुञ्जानस्य पूर्वकर्म-निवृत्तौ वर्तमानशरीरापगमे पूर्वशरीराभावाच्छरीराद्येकविंशतिदुःखस-म्बन्धो न भवति कारणाभावात्। सोऽयमेकविंशतिप्रभेदभिन्नदुःखहा-नर्मोक्षः। सोऽपवर्ग इत्युच्यते।

क्लेशों से रहित [अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।] अतएव [राग-द्वेष आदि के अभाव में] निष्काम भाव से कर्मों के अनुष्ठान करने के कारण [निष्काम कर्म से धर्म-अधर्म रूप संस्कारों की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए] नए धर्म और अधर्म का उपार्जन न करने वाले, और पूर्वोपात्त धर्माधर्म को योग-शक्ति के प्रभाव से जान कर एक साथ भोग डालने वाले [तत्त्व-ज्ञान हो जाने पर राग, द्वेष, नहीं रहता अतएव निष्काम भाव से किए जाने वाले कर्मों से नवीन धर्माऽधर्म उत्पन्न नहीं होते हैं।] पूर्व कर्मों की समाप्ति पर वर्तमान शरीर के नाश होने पर नए शरीर की उत्पत्ति [के कारणभूत धर्माधर्म के अभाव में] न होने से इक्कीस प्रकार के दुःखों का सम्बन्ध [आत्मा के साथ] कारण [धर्माधर्म] के अभाव से नहीं होता है। यही इक्कीस प्रकार के दुःखों का विनाश मोक्ष है। वही 'अपवर्ग' कहलाता है।

कर्मों के भेद—

कर्म के तीन प्रकार हैं, एक 'प्रारब्ध' दूसरे 'सञ्चित' और तीसरे 'क्रियमाण'। जिन कर्मों का फल भोग करने के लिए यह शरीर प्राप्त हुआ है उसका भोग प्रारम्भ हो चुका है अतएव वह 'प्रारब्ध' कहलाते हैं। इनका नाश भोग पूर्ण होने पर ही होता है। 'क्रियमाण' कर्म वह है जो इस समय में किया जा रहा है। इन कर्मों के संस्कार 'सञ्चित' होते रहते हैं। उनका भोग आगे होगा अतएव वह 'सञ्चित' कर्म कहलाते हैं। जब तक तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार नहीं होता है तब तक किए गए कर्मों से संस्कार बनते हैं। परन्तु आत्मसाक्षात्कार के बाद किए जाने वाले कर्मों से संस्कार नहीं बनते। इसलिये आत्मसाक्षात्कार के बाद मोक्ष की प्राप्ति के लिए 'प्रारब्ध' कर्म और 'सञ्चित' कर्मों की समाप्ति का कार्य शेष रह जाता है। इन दोनों की समाप्ति होने पर ही मोक्ष होता है। इनमें से 'प्रारब्ध' कर्मों का भोग तो नियत समय तक अर्थात् जब तक इस वर्तमान शरीर की आयु निर्धारित है तब तक चलता ही है। उसका उपपादन 'चक्रभूमि' के उदाहरण से किया गया है। जैसे कुम्हार एक बार अपने 'चाक' को घुमा देता है तो उसमें जो

१ योग दर्शन २, ३।

वेग संस्कार उत्पन्न हो जाता है उसके कारण चाक बहुत देर तक घूमता रहता है इसी प्रकार प्रारब्ध कर्मों के वश यह शरीर अपने भोग के समाप्त होने तक बना रहता है। 'तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः'[1]। आत्म ज्ञान के बाद जितने समय तक वर्तमान शरीर का नाश नहीं होता है तब तक साधक 'जीवन्मुक्ति' की अवस्था में रहता है। इस अवस्था में वह जो कुछ भी कर्म करता है उसके उन कर्मों से नए संस्कार नहीं बनते हैं। इसीलिए कहा है कि मातृवध-पितृवध जैसे कर्मों से भी उसका कुछ नहीं बिगड़ता है।

'सञ्चित' कर्मों के नाश के प्रकार—

अब सञ्चित कर्मों से छुटकारा पाने का प्रश्न शेष रह जाता है। इसके विषय में दो प्रकार के मत हैं। गीता का कथन तो यह है कि 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'। अर्थात् तत्त्वज्ञान की अग्नि उन सारे 'सञ्चित' कर्मों को भस्म कर देती है। इस पक्ष में तत्त्वज्ञान के बाद योगी के लिए कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है। उसके मोक्ष में उतनी ही देर का विलम्ब है जब तक उसके वर्तमान शरीर का पात नहीं होता। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये'।

'सञ्चित' कर्मों के विनाश का दूसरा प्रकार वह है जिसका यहां तर्कभाषाकार ने वर्णन किया है। उसका आशय यह है कि तत्त्व ज्ञान होने पर योगी को इस बात का ज्ञान भी योगसामर्थ्य से हो जाता है कि इस समय मेरे इतने 'सञ्चित' कर्म शेष पड़े हैं और साधारण प्रक्रिया के अनुसार इनका भोग मुझे अमुक अमुक योनि में करना होगा। तब योगी, अपने योग-सामर्थ्य से एक साथ उन सब शरीरों का निर्माण कर डालता है जिनमें उसके 'सञ्चित' कर्मों का भोग होना है। इस प्रकार वह सारे 'सञ्चित' कर्मों को एक साथ ही भोग डालता है। इसलिए भोग के लिए कोई 'सञ्चित' कर्म शेष नहीं रहता है। नया कर्म उत्पन्न नहीं होता, और 'प्रारब्ध' का भोग से नाश हो जाता है इस प्रकार नवीन शरीर की उत्पत्ति का कारण न होने से शरीरादि की उत्पत्ति नहीं होती। यही मोक्ष है।

मोक्ष के स्वरूपविषयक दो मत—

जिस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के प्रकार में दो प्रकार के मत हैं इसी प्रकार मोक्ष के स्वरूप के विषय में भी दो प्रकार के मत हैं। नैयायिक आचार्य दुःख की

१ सांख्यकारिका ६७।

३ संशयः

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानार्थावमर्शः संशयः। स च त्रिविधः। विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः, विप्रतिपत्तिजः, असाधारणधर्मश्चेति। तत्रैको विशेषादर्शने सति समानधर्मदर्शनजः यथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो-वा' इति। एकस्मिन्नेव हि पुरोवर्तिनि द्रव्ये स्थाणुत्वनिश्चायकं वक्र-

---

अत्यन्त निवृत्ति को ही मोक्ष कहते हैं। परन्तु वेदान्ती मोक्ष में दुःख-निवृत्ति के अतिरिक्त नित्य सुख की प्राप्ति भी मानते हैं। उनका कहना है कि आत्मा नित्य, विभु और आनन्द रूप है। संसार कालमें देहादि के सम्बन्ध के कारण नित्य-सुख की प्रतीति नहीं हो पाती है, परन्तु मोक्षावस्था में उसके स्वरूपभूत आनन्द की अभिव्यक्ति भी होती है। इसलिए मोक्ष में वह आनन्दी भवति नित्य-सुखके अनुभव का 'आनन्दमय' हो जाता है। नैयायिक मोक्ष में नित्य सुख की अभिव्यक्ति नहीं मानते हैं। इस विषय पर न्यायसूत्रके वात्स्यायन भाष्य में बहुत विस्तार के साथ विचार किया गया है।

प्रमेयोंका निरूपण प्रारम्भ करते समय 'आत्म-शरीर-इन्द्रिय-अर्थ-बुद्धि-मनः-प्रवृत्ति-दोष-प्रेत्यभाव-फल-दुःख-अपवर्गास्तु प्रमेयम्' इस सूत्र द्वारा बारह 'प्रमेय' गिनाये थे। अपवर्ग का निरूपण समाप्त होने के साथ उन प्रमेयों का निरूपण समाप्त हो जाता है। और इस प्रकार यहाँ तक न्याय के सोलह पदार्थों में से 'प्रमाण' तथा 'प्रमेय' इन दो पदार्थों का निरूपण समाप्त हो जाता है। अत एव न्याय के प्रतिपाद्य तृतीय संशय पदार्थ का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

३ संशय

एक धर्म में विरुद्ध नाना धर्मों का परिज्ञान संशय [कहलाता] है। और वह तीन प्रकार का होता है। १ विशेष के अदर्शन होते हुए समान धर्म के दर्शन से उत्पन्न [संशय दूसरा विशेषादर्शन होते हुए] २ विप्रतिपत्ति से उत्पन्न, [संशय और तीसरा विशेषादर्शन होते हुए] ३ साधारणधर्म के दर्शन से उत्पन्न [संशय]।

उनमें से पहिला विशेषादर्शन होने पर समानधर्म के दर्शन से उत्पन्न संशय [का उदाहरण] जैसे [यह] स्थाणु है या पुरुष। सामने स्थित एक [लम्बे लम्बे] द्रव्य में स्थाणुत्व के निश्चायक टेढ़ी-मेढ़ी कोटर आदि [अथवा] पुरुषत्व के निश्चय कराने वाले सिर-हाथ [अवयवों] को न देखने वाले और [सम्मुखस्थ पदार्थ में] स्थाणु और पुरुष के समान धर्म ऊंचाई आदि को देखने वाले पुरुष को [उस पदार्थ के विषय में] संशय होता है कि 'यह

कोटरादिकं पुरुषत्वनिश्चायकञ्च शिरःपाण्यादिकं विशेषमपश्यतः स्थाणु-पुरुषयोः समानधर्ममूर्ध्वत्वादिकञ्च पश्यतः पुरुषस्य भवति संशयः 'किमयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति ।

द्वितीयस्तु संशयो विशेषादर्शने सति विप्रतिपत्तिजः । स यथा 'शब्दो नित्य उत अनित्य' इति । तथा ह्येको ब्रूते शब्दो नित्य इति. अपरो ब्रूते शब्दोऽनित्य इति । तयोर्विप्रतिपत्त्या मध्यस्थस्य पुंसो विशेषमपश्यतो भवति संशयः 'किमयं शब्दो नित्य उतानित्य' इति ।

तृतीयोऽसाधारणधर्मदर्शनजस्तु संशयो यथा नित्यादनित्याच्च व्यावृत्तेन भूमात्रासाधारणेन गन्धवत्त्वेन विशेषमपश्यतो भुवि नित्यत्वानित्यत्वसंशयः । तथाहि 'सकलनित्यव्यावृत्तेन गन्धवत्त्वेन योगाद्भूः किमनित्या, उत सकलानित्यव्यावृत्तेन तेनैव योगान्नित्या' इति संशयः ।

स्थाणु [वृक्ष का ठूंठ] है अथवा पुरुष' [इनमें विशेष धर्म वक्रकोटरादि अथवा कर-चरणादि का न दिखाई देना और समान धर्म आरोह परिणाह लम्बाई-चौड़ाई का दिखाई देना ही संशय का कारण है । विशेषादर्शन तीनों प्रकार के संशयों में कारण है]।

दूसरा संशय विशेष का अदर्शन होते हुए 'विप्रतिपत्ति' [विपरीता विविधा वा प्रतिपत्तिः विप्रतिप्रत्तिः । एक ही पदार्थ के विषय में व्यक्तियों का विपरीत अथवा विविध प्रकार का ज्ञान 'विप्रतिपत्ति' कहलाता है] से उत्पन्न [संशय का उदाहरण] वह जैसे, 'शब्द नित्य है अथवा अनित्य' । क्योंकि एक [वादी वैयाकरण] कहता है कि शब्द नित्य है और दूसरा [प्रतिवादी नैयायिक] कहता है कि शब्द अनित्य है । उन दोनों की 'विप्रतिपत्ति' से विशेष [नित्यत्व या अनित्यत्व के निश्चायक हेतु] को न देख सकने वाले, बीच के पुरुष को संशय हो जाता है कि 'क्या यह शब्द नित्य है अथवा अनित्य' ।

तीसरा [विशेषादर्शन होने पर] असाधारणधर्म के दर्शन से उत्पन्न संशय [का उदाहरण] तो जैसे, नित्य और अनित्य दोनों से पृथक रहने वाले केवल पृथिवी के असाधारण धर्म गन्धवत्त्व से, [नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के निश्चायक], विशेष धर्म को न जानने वाले [पुरुष] को पृथिवी [के विषय] में नित्यत्व अथवा अनित्यत्व का संशय हो जाता है । जैसे कि [आकाश आदि] 'समस्त नित्य पदार्थों में न रहने वाले गन्धवत्त्व के योग से क्या पृथिवी अनित्य है । अथवा [जल अग्नि आदि] 'किसी अनित्य पदार्थ में रहने वाले उसी गन्धवत्त्व के योग से पृथिवी नित्य है' यह संशय हो जाता है [यह संशय गन्धवत्त्व रूप असाधारण धर्म के दर्शन से होता है]।

४ प्रयोजनम्

येन प्रयुक्तः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्। तच्च सुखदुःखावाप्तिहानी। तदर्था हि प्रवृत्तिः सर्वस्य।

५ दृष्टान्तः

वादिप्रतिवादिनोः संप्रतिपत्तिविषयोऽर्थो दृष्टान्तः। स द्विविधः।

न्याय सूत्र तथा उसके वात्स्यायन भाष्य में तीन के स्थान पर संशय के पांच कारण गिनाए हैं। उनमें 'उपलब्धि की अव्यवस्था' 'अनुपलब्धि की अव्यवस्था' यह दो संशय के कारण और दिखाए हैं। समान 'धर्म' और 'विप्रतिपत्ति' संशय के यह दोनों कारण 'न्यायसूत्र' तथा 'तर्कभाषा' दोनों ग्रन्थों में समान हैं। 'असाधारण धर्म' के स्थान पर न्यायसूत्र में 'अनेकधर्मोपपत्तेः' कहा है, और वात्स्यायन भाष्य में उसका अर्थ 'समानजातीयमसमानजातीयञ्चानेकम्' किया है। न्याय सूत्र में संशय का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः[1]।

४ प्रयोजन

न्याय के षोडश पदार्थों में संशय के बाद 'प्रयोजन' का स्थान आता है। अतएव ग्रन्थकार संशय के बाद 'प्रयोजन' का निरूपण करते हैं।

जिससे प्रयुक्त होकर मनुष्य [किसी कार्य में] प्रवृत्त होता है वह 'प्रयोजन' है। और वह [मुख्यतः] सुख की प्राप्ति और दुःख का नाश है। [क्योंकि] उसी के लिए सब की प्रवृत्ति होती है।

न्यायसूत्रकार ने प्रयोजन का लक्षण इस प्रकार किया है।

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्[2]।

५ दृष्टान्त

प्रयोजन के बाद पांचवाँ पदार्थ 'दृष्टान्त' है। न्याय सूत्र में 'दृष्टान्त' का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः[3]।

अर्थात् जिस अर्थ के विषय में साधारण लौकिक पुरुष और विशेषज्ञ परीक्षक पुरुषों को एक सा ज्ञान हो जिसको दोनों एक रूप में मानते हों वह अर्थ 'दृष्टान्त' हो सकता है। इसी बात को तर्कभाषाकार इस प्रकार कहते हैं—

वादी और प्रतिवादी दोनों के ऐकमत्य का विषय भूत अर्थ [अर्थात्

१–३ न्याय सूत्र १, १, २३। १, १, २४। १, १, २५।

एकः साधर्म्यदृष्टान्तो यथा धूमवत्त्वस्य हेतोर्महानसम्। द्वितीयस्तु वैधर्म्यदृष्टान्तः। यथा तस्यैव महाह्रद इति।

६ सिद्धान्तः

प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः। स चतुर्धा। सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र-अधिकरण-अभ्युपगम-सिद्धान्तभेदात्। तत्र सर्वतन्त्रसिद्धान्तो यथा धर्मिमात्रसद्भावः। द्वितीयो यथा नैयायिकस्य मते मनस इन्द्रियत्वम्। तद्धि समानतन्त्रे वैशेषिके सिद्धम्। तृतीयो यथा क्षित्यादिकर्तृत्वसिद्धौ कर्तुः सर्वज्ञत्वम्। चतुर्थो यथा जैमिनीयस्य नित्यानित्यविचारो यथा भवतु, अस्तु 'तावच्छब्दो गुण' इति।

जिसके विषय में वादी प्रतिवादी में मतभेद न हो ऐसा] अर्थ 'दृष्टान्त' हो [सकता] है। वह दो प्रकार का होता है। एक 'साधर्म्य दृष्टान्त' जैसे धूमवत्त्व हेतु का [साधर्म्य दृष्टान्त] महानस है। और दूसरा 'वैधर्म्य-दृष्टान्त' जैसे उसी [धूमवत्त्व हेतु] का महाह्रद [वैधर्म्य दृष्टान्त है]।

६ सिद्धान्त

दृष्टान्त के बाद छठा पदार्थ सिद्धान्त है। अतएव दृष्टान्त के बाद सिद्धान्त का निरूपण करते हैं।

प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाने वाला अर्थ 'सिद्धान्त' [कहलाता] है। वह चार प्रकार का [होता] है। १ 'सर्वतन्त्र' [सिद्धान्त], २ 'प्रतितन्त्र' [सिद्धान्त], ३ 'अधिकरण' [सिद्धान्त], और ४ 'अभ्युपगम सिद्धान्त' भेद से। उनमें से—सर्वतन्त्र सिद्धान्त [सर्वतन्त्र में तन्त्र शब्द का अर्थ 'शास्त्र' है। जो सिद्धान्त सब शास्त्रों में माना जाय उसको 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' कहते हैं] जैसे धर्मी मात्र [घट-पट आदि] की सत्ता [मानना]। दूसरा ['प्रतितन्त्र सिद्धान्त' उसको कहते हैं जो किसी विशेष शास्त्र में और उसके अपने समानतन्त्र में माना जाय अन्य शास्त्रों में न माना जाय] जैसे नैयायिक के मत में मन का इन्द्रियत्व। वह [उस न्याय के] समानतन्त्र वैशेषिक में प्रसिद्ध है। तीसरा [अधिकरण सिद्धान्त वह कहलाता है जो अधिकरणभूत अर्थात् आधार भूत ऐसी बात का प्रतिपादन करता है जिसकी सिद्धि हो जाने पर अन्य अनेक बातें स्वयं सिद्ध हो जाती हैं।] जैसे पृथिवी आदि के कर्ता [ईश्वर] की सिद्धि हो जाने पर उस कर्ता की सर्वज्ञता [स्वयं सिद्ध हो जाती है। क्योंकि पृथिवी आदि की रचना सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता है]।

चौथा [अभ्युपगम-सिद्धान्त वह कहलाता है जब अपना अभिमत न होने

७ अवयवाः

अनुमानवाक्यस्यैकदेशा अवयवाः। ते च प्रतिज्ञादयः पञ्च। तथा च न्यायसूत्रम्—

'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः'।

तत्र साध्यधर्मविशिष्टपक्षप्रतिपादकं वचनं प्रतिज्ञा, यथा पर्वतोऽयं वह्निमानिति। तृतीयान्तं पञ्चम्यन्तं वा लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः। यथा धूमवत्त्वेन धूमवत्त्वादिति वा। सव्याप्तिकं दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। यथा

पर अर्थ की विशेष परीक्षा के लिए थोड़ी देर को स्वीकार कर लिया जाय] जैसे मीमांसक [शब्द को द्रव्य मानते हैं और नित्य मानते हैं। नैयायिक शब्द को गुण और अनित्य मानते हैं। ऐसी दशा में शब्द की] नित्यता या अनित्यता का विशेष विचार हो सके इसलिए [थोड़ी देर के लिए] मान लो कि शब्द गुण है। [इसको, 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' कहते हैं।]

इस 'अभ्युपगम-सिद्धान्त' का प्रयोग अर्थ की विशेष परीक्षा के लिए तो किया ही जाता है। उसके अतिरिक्त अपनी बुद्धि के अतिशय के प्रदर्शन तथा दूसरे प्रतिवादी की बुद्धि की हीनता दिखलाने के लिए भी किया जाता है।

७ अवयव

सिद्धान्त के निरूपण के बाद न्याय के सप्तम पदार्थ अवयव का निरूपण क्रम-प्राप्त है। अतएव उसका निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

अनुमान 'वाक्य के एकदेश' अवयव [कहलाते] हैं। वह प्रतिज्ञा आदि पाँच हैं। जैसा कि न्यायसूत्र [में कहा] है—

१ प्रतिज्ञा, २ हेतु, ३ उदाहरण, ४ उपनय, और ५ निगमन अवयव हैं।

१ उनमें से साध्य-धर्म-युक्त 'पक्ष' का प्रतिपादन करने वाला वचन 'प्रतिज्ञा' [कहलाता] है। जैसे यह 'पर्वत वह्नियुक्त है'। [इसमें पर्वत 'पक्ष' है, वह्नि 'साध्य' है। 'वह्निमान् पर्वतः' इस रूप में साध्य धर्म-विशिष्ट 'पक्ष' का प्रतिपादक वचन होने से यह प्रतिज्ञा है]।

२ तृतीयान्त अथवा पञ्चम्यन्त लिङ्ग का प्रतिपादक वचन 'हेतु' है। जैसे 'धूमवत्त्वेन' अथवा 'धूमवत्त्वात्'।

३ व्याप्ति सहित दृष्टान्त का कथन 'उदाहरण' है। जैसे 'जो जो धूमयुक्त होता है वह अग्नि युक्त होता है, जैसे 'महानस' [रसोई घर]।

---

१ न्या० सू० १, १, ३२

यो यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानस इति। पक्षे लिङ्गोपसंहार-वचनमुपनयः। यथा वह्निव्याप्यधूमवांश्चायमिति, तथा चायमिति वा। पक्षे साध्योपसंहारवचनं निगमनम्। यथा तस्मादग्निमान् इति, तस्मात्तथेति वा। एते च प्रतिज्ञादयः पञ्चानुमानवाक्यस्यावयवा इवावयवा, न तु समवायिकारणं, शब्दस्याकाशसमवेतत्वादिति।

---

४ पक्ष [पर्वत आदि] में लिङ्ग का उपसंहार कथन करना 'उपनय' [कहलाता] है। जैसे और 'यह [पर्वत] वह्नि के व्याप्य धूम से युक्त है'। अथवा और 'यह [पर्वत] वैसा [महानस के समान धूमवान्] है'।

५ पक्ष [पर्वत] में साध्य [वह्नि] का उपसंहार कथन करना 'निगमन' है। जैसे, 'इसलिए [पर्वत] अग्निमान् है'। अथवा 'इसलिए [पर्वत] वैसा [अग्निमान्] है।'

यह प्रतिज्ञा आदि पांच अनुमान वाक्य के अवयव के समान [होने से गौण रूप से] अवयव [कहलाते] हैं, 'समवायिकारण' नहीं हैं। शब्द [रूप अनुमान वाक्य] के आकाश में समवेत होने से [आकाश ही उसका समवायिकारण है। प्रतिज्ञादि नहीं]। [वास्तव में तो अवयव और अवयवी का समवाय संबन्ध बताया जा चुका है और अवयव अवयवी के 'समवायिकारण' होते हैं। जैसे तन्तु पट के 'समवायिकारण' हैं। यहां प्रतिज्ञा आदि अनुमान वाक्य के इस प्रकार के अवयव नहीं हैं जिससे उनको अनुमान वाक्य का 'समवायिकारण' कहा जा सके। क्योंकि वाक्य तो शब्द रूप है और शब्द का 'समवायिकारण' आकाश ही है। इसलिये शब्दरूप अनुमान वाक्य का 'समवायिकारण' आकाश ही होगा। प्रतिज्ञादि अवयव नहीं]।

पांच तथा तीन अवयवों का प्रयोग—

न्याय और वैशेषिक दोनों में परार्थ अनुमान वाक्य के पांच अवयव माने गए हैं परन्तु वैशेषिक दर्शन में उनके नाम १ प्रतिज्ञा, २ अपदेश, ३ निदर्शन, ४ अनुसन्धान और ५ प्रत्याम्नाय रखे गये हैं। अन्य दर्शनों में अवयवों के प्रयोग के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है।

१ बौद्ध दार्शनिक केवल एक हेतु का, अथवा अधिक से अधिक हेतु और दृष्टान्त[2] दो का ही प्रयोग आवश्यक मानते हैं।

२ जैन दार्शनिकों ने अधिकारी भेद से अवयवों की संख्या का भेद निर्धारित

---

१ प्रमाणवर्तिक १, २८।

२ प्रमाणवार्तिक १, २८।

किया है। वादिदेव नामक जैन आचार्य ने विशिष्ट अधिकारी के लिए केवल एक हेतु का प्रयोग ही पर्याप्त माना है[1]। दूसरे प्रकार के अधिकारी के लिए प्रतिज्ञा तथा हेतु दो अवयवों का प्रयोग पर्याप्त माना है। इन दोनों अवयवोंके विषय में जैन और बौद्ध परम्परा समान है। परन्तु जैनों ने अन्य प्रकार के अधिकारियों के लिए तीन, चार और पाँच अवयवों का प्रयोग भी माना[2] है।

३ सांख्य कारिका की माठर वृत्ति के अनुसार सांख्य में प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण इन तीन अवयवों का ही प्रयोग माना गया है।

४ शालिकनाथ मीमांसक प्रभाकर के अनुयायी हैं। उन्होंने अपनी 'प्रकरण पञ्चिका' में[3] और कुमारिलभट्ट के अनुयायी पार्थसारथिमिश्र ने 'श्लोक-वार्तिक' की टीका[4] में मीमांसक सम्मत तीन अवयवों का ही वर्णन किया है। जैन आचार्य हेमचन्द्र तथा अनन्तवीर्य ने मीमांसकों के चार अवयव मानने का उल्लेख किया है। वह यथार्थ नहीं है। क्योंकि मीमांसकों के दोनों सम्प्रदाय तीन अवयव ही मानते हैं। उन तीन अवयवों के भी दो प्रकार हो सकते हैं।

'उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्।'

अर्थात् तीन अवयव या तो उदाहरण पर्यन्त हो सकते हैं अथवा उदाहरणादि तीन हो सकते हैं। उदाहरण पर्यन्त तीन का अर्थ प्रतिज्ञा, हेतु तथा उदाहरण यह तीन होगा। और उदाहरणादिक तीन का अर्थ उदाहरण, उपनय, निगमन यह तीन होगा।

पश्चिमी तर्क में अवयवों का प्रयोग—

पश्चिमी तर्क के प्रवर्तक अरस्तू ने भी इसी प्रकार अनुमान वाक्य के तीन अवयव माने हैं और उनका विभाजन 'उदाहरण पर्यन्त' और 'उदाहरणादि' इन दो प्रक्रियाओं से किया है। उसके अनुसार परार्थानुमान में उदाहरण पर्यन्त अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण इन तीन अवयवों का प्रयोग होता है। और स्वार्थानुमान में उदाहरणादिक अर्थात् उदाहरण, उपनय और निगमन इन तीन अवयवों का प्रयोग होता है। स्वर्थानुमान में प्रयुक्त होने वाले उदाहरणादिक अवयव प्रयोग को पश्चिमी तर्क में 'सिन्थैटिक सिलाजिज्म' संयोजक अनुमान कहा जाता है। और परार्थानुमान में प्रयुक्त होने वाले उदाहरण

१. स्याद्वाद र० पृ० ५४८। २. स्याद्वाद र० पृ० ५६४।
३. प्रकरण पञ्चिका पृ० ८३, ८५। ४. अनुमानश्लोक।

८ तर्कः

तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः। स च सिद्धव्याप्तिकयोर्धर्मयोर्व्याप्याङ्गीकारेण अनिष्टव्यापकप्रसञ्जनरूपः। यथा 'यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत्' इति।

स चायं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकः। तथाहि 'पर्वतोऽयं साग्निः

पर्यन्त अवयव प्रयोग को 'अनैलैटिक सिलाजिज्म' विश्लेषक-अनुमान कहा जाता है। इनमें से 'सिन्थेटिक सिलाजिज्म' का स्वरूप इस प्रकार बनता है—

१ उदाहरण। जहाँ जहाँ धूम होता है। वहाँ वहाँ अग्नि होती है जैसे महानस में—

२ उपनय। यह पर्वत धूमवान् है।

३ निगमन। इसलिए यह [पर्वत] वह्निमान् है।

इसमें उदाहरण को 'मेजर प्रेमेसिस', उपनय को 'माइनर प्रेमेसिस', और निगमन को 'कन्क्लयूज़न' कहा जाता है। परार्थानुमान में प्रयुक्त होने वाले 'अनेलैटिक सिलाजिज्म' में प्रतिज्ञा को 'कन्क्लयूज़न', हेतु को 'माइनर प्रेमेसिस' और उदाहरण को 'मेजर प्रेमेसिस' कहा जाता है। उस विश्लेषक अनुमान का स्वरूप इस प्रकार होगा—

१ प्रतिज्ञा [कन्क्लयूज़न] यह पर्वत वह्निमान् है।

२ हेतु [माइनर प्रेमेसिस] क्योंकि वह धूमवान् है।

३ उदाहरण [मेजर प्रेमेसिस] और जहाँ-जहाँ धूम होता है वहां-वहाँ वह्नि होती है जैसे महानस में।

८ तर्क

अवयवों के निरूपण के बाद क्रमप्राप्त 'तर्क' का निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

तर्क अनिष्ट प्रसङ्ग [को कहा जाता] है। और वह दो व्याप्ति युक्त धर्मों में से व्याप्य के स्वीकार करने से अनिष्ट व्यापक की प्रसक्ति रूप है। जैसे 'यदि यहां घड़ा होता तो दिखलाई देता'। [यहां 'जो होता है सो दिखलाई देता है' यह व्याप्ति है। इसमें होना व्याप्य है दिखलाई देना व्यापक है। 'यदि यहां घड़ा होता' इस व्याप्य को स्वीकार करके, 'तो दिखलाई देता' इस अनिष्ट की प्रसक्ति करना तर्क है। जहां घड़ा दिखलाई नहीं देता है वहां उसकी प्रसक्ति ही अनिष्ट प्रसञ्जन रूप है।

यह तर्क [स्वयं प्रमाण नहीं है किन्तु] प्रमाणों का अनुग्राहक [समर्थक] है। जैसे कि 'यह पर्वत अग्नि युक्त है अथवा अग्नि रहित' इस सन्देह के बाद

उतानग्निः' इति सन्देहानन्तरं यदि कश्चिन्मन्येतानग्निरयमिति तदा तं प्रति 'यद्ययमनग्निरभविष्यत् तदानग्नित्वादधूमोऽप्ययभविष्यत्' इत्यधूमत्वप्रसञ्जनं क्रियते। स एष प्रसङ्गस्तर्क इत्युच्यते। अयं चानुमानस्य विषयशोधकः। प्रवर्तमानस्य धूमवत्त्वलिङ्गकानुमानस्य विषयमग्निमनुजानाति। अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात्। अतोऽनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति।

अत्र कश्चिदाह, 'तर्कः संशय एवान्तर्भवति' इति। तन्न। एककोटिनिश्चितविषयत्वात् तर्कस्य।

९ निर्णयः

निर्णयोऽवधारणज्ञानम्। तच्च प्रमाणानां फलम्।

१० वादः

तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः। स चाष्टनिग्रहाणामधिकरणम्। ते च

यदि कोई यह कहे कि 'यह अग्नि रहित होता है' तो 'अग्नि रहित होने से धूमरहित भी होना चाहिए' इस प्रकार [धूमवान् दिखलाई देने वाले पर्वत में अनिष्ट] अधूमवत्त्व [धूम राहित्य] की प्रसक्ति की जाती है। यह [अनिष्ट] प्रसङ्ग 'तर्क' कहा जाता है। और यह अनुमान का विषय शोधक होता है। प्रवर्तमान धूमवत्त्व लिङ्गक अनुमान के विषय [साध्य] अग्नि का अनुमोदन करता है। अनग्निमत्त्व का निषेध करके। इस लिए अनुमान का अनुग्राहक होता है।

यहां [तर्क के विषय में] कोई कहता है कि 'तर्क संशय के ही अन्तर्गत हो जाता है'। वह ठीक नहीं है। तर्क के एक कोटि में निश्चित रूप होने से [संशय उभयकोटिक ज्ञान होता है। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस संशय के उदाहरण में किसी एक कोटि में निश्चय नहीं है परन्तु तर्क एक कोटि में निश्चित है इसलिए वह संशय के अन्तर्गत नहीं हो सकता है]

जैन परम्परा में अकलङ्क ने परोक्ष प्रमाण के एक भेद के रूप में 'तर्क' को भी एक प्रमाण माना है। मीमांसा में 'तर्क' के लिए 'ऊह' शब्द का प्रयोग हुआ है। त्रिविधश्च ऊहः। मंत्र-साम-संस्कार-विषयः। परन्तु न्याय और बौद्ध दोनों परम्पराओं में 'तर्क' को प्रमाण रूप नहीं अपितु प्रमाणों का 'अनुग्राहक' ही माना है। मीमांसा में भी यही स्थिति समझनी चाहिए।

९ निर्णय

'निर्णय' निश्चयात्मक ज्ञान [कहलाता] है और वह प्रमाणों का फल [होता] है।

१० वाद

तत्त्वज्ञान के इच्छुकों [वादी प्रतिवादी] की कथा 'वाद' [कहलाती] है।

न्यून-अधिक-अपसिद्धान्ताः, हेत्वाभासपञ्चकञ्च, इत्यष्टौ निग्रहाः।

११ जल्पः

उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। सा च यथासम्भवं सर्वनिग्रहाणामधिकरणम्। परपक्षे दूषिते स्वपक्षस्थापनप्रयोगावसानञ्च।

१२ वितण्डा

स एव स्वपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। सा च परपक्षदूषणमात्रपर्यवसाना। नास्य वैतण्डिकस्य स्थाप्यः पक्षोऽस्ति।

कथा तु नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः।

और वह आठ निग्रहस्थानों का विषय है। वह [आठ निग्रह स्थान जो वाद में लागू हो सकते हैं, ये हैं] १ न्यून, २ अधिक, ३ अपसिद्धान्त और पाँच हेत्वाभास। ये [मिलकर] आठ निग्रह [स्थान, वाद में लागू होते] हैं।

११ जल्प

दोनों [वादी प्रतिवादी, दोनों के द्वारा अपने अपने पक्ष] के साधन से युक्त विजयाभिलाषियों [वादी प्रतिवादियों] की कथा 'जल्प' [कहलाती] है। और वह यथासम्भव समस्त [बाइस] निग्रहस्थानों का अधिकरण है। और परपक्ष के खण्डन हो जाने पर अपने पक्ष के निर्णय में समाप्त होने वाली [कथा जल्प] है।

१२ वितण्डा

अपने पक्ष की स्थापना से रहित वह [विजिगीषु कथारूप जल्प] ही 'वितण्डा' [कहलाता] है। और वह केवल परपक्ष के दूषण में समाप्त होता है। इस वैतण्डिक का [अपना] स्थापनीय [कोई] पक्ष नहीं होता है [अर्थात् वह किसी को अपना पक्ष कह कर स्थापित नहीं करता है केवल दूसरे के पक्ष का खण्डन ही करना अपना प्रयोजन मानता है]।

अनेक वक्ताओं से युक्त पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का प्रतिपादन वाक्यसमूह कथा [कहलाता] है।

कथा भेदों का तुलनात्मक विवेचन—

अनेक वक्ता मिल कर किसी तत्त्व के निर्णय अथवा जय पराजय के लिए पूर्वोत्तर पक्ष के रूप में जो चर्चा या वार्तालाप करते हैं उसको 'कथा' कहते हैं। उसके तीन भेद हैं १ वाद, २ जल्प और ३ वितण्डा। इनमें से तत्त्वज्ञान की इच्छा से गुरु या सब्रह्मचारी आदि के साथ जो 'कथा' होती है उसको 'वाद'

कहते हैं। अपने पाण्डित्य आदि के द्योतन के लिए दो प्रतिद्वन्द्वी पण्डितों आदि में जो 'कथा' होती है उस के 'जल्प' और 'वितण्डा' दो भेद हैं। यदि वह दोनों वादी और प्रतिवादी अपने अपने पक्ष की स्थापना और दूसरे का खण्डन करते हैं तो उस 'कथा' को 'जल्प' कहते हैं। और जहां एक वादी तो अपने पक्ष की स्थापना करता है परन्तु दूसरा प्रतिवादी अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता केवल पहिले का खण्डन मात्र करता है उसको वितण्डा कहते हैं। इस प्रकार न्याय शास्त्र में कथा के तीन भेद माने गए हैं।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक' में भी इन त्रिविध कथाओं की चर्चा की गई है। परन्तु वहां उनके वर्णन की शैली में कुछ भेद है। 'चरक' ने 'कथा' के स्थान पर 'सम्भाषा' शब्द का प्रयोग किया है और उस 'सम्भाषा' के प्रथम दो भेद किए हैं एक 'सन्धाय-सम्भाषा' और दूसरा 'विगृह्य-सम्भाषा'। इनमें से 'सन्धाय सम्भाषा' न्याय की 'वाद' कथा के स्थान पर है। और दूसरे 'विगृह्य सम्भाषा' के फिर 'जल्प' और 'वितण्डा' यह दो भेद किए गए हैं। इस प्रकार चरक का 'विगृह्य-सम्भाषा' और न्याय का 'विजिगीषु—कथा' शब्द समानार्थक हैं। इसीलिए न्याय दर्शन के वात्स्यायन भाष्य में 'विगृह्येति विजिगीषया' और न्याय सूत्र में 'तास्थां विगृह्य कथनम्' में भी 'विगृह्य' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

जैन परम्परा में 'कथा' का केवल एक ही भेद माना है 'वाद'। उन्होंने 'जल्प' और 'वितण्डा' को 'कथा' नहीं अपि तु 'कथाभास' माना है। इस विषय को उनके 'कथात्रयभङ्ग' नामक ग्रन्थ में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। न्याय परम्परा में विजिगीषु 'छल' और असदुत्तर रूप 'जाति' का प्रयोग कर के भी अपने प्रतिवादी को पराजित कर सकता है परन्तु जैन आचार्यों ने कथा में 'छल' आदि के प्रयोग का सर्वथा निषेध किया है। इस-लिए उनके मतानुसार 'विजिगीषु' भी लगभग 'तत्त्वबुभुत्सु' के समकक्ष ही है। प्रारम्भ में बौद्ध भी कथा के तीन ही प्रकार के भेद मानते थे परन्तु अन्त में जैनों के समान वह भी कथा का एक ही भेद मानने लगे।

कथा के 'वाद' 'जल्प' 'वितण्डा' रूप तीनों भेदों के निरूपण के बाद, क्रम प्राप्त होने से हेत्वाभास का दुबारा वर्णन प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि पहिले अनुमान के प्रकरण में भी हेत्वाभासों का वर्णन किया जा चुका है परन्तु यहां क्रम प्राप्त होने से उनका दुबारा वर्णन किया जा रहा है। यह हेत्वाभासों का दुबारा वर्णन तो अवश्य है परन्तु वह केवल पुनरुक्ति—मात्र नहीं है। अपितु उस में कुछ विशेष ज्ञातव्य नई बातें भी यहां दी गई हैं।

१३ हेत्वाभासाः

उक्तानां पक्षधर्मत्वादिरूपाणां मध्ये येन केनापि रूपेण हीना अहेतवः। तेऽपि कतिपयहेतुरूपयोगाद्धेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः। ते च असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-प्रकरणसम-कालात्ययापदिष्ट-भेदात् पञ्चैव।

अत्रोदयनेन 'व्याप्तस्य हेतोः पक्षधर्मतया प्रतीतिः सिद्धिस्तदभावोऽसिद्धिः' इत्यसिद्धिलक्षणमुक्तम्। तच्च यद्यपि विरुद्धादिष्वपि सम्भवतीति साङ्कर्यं प्रतीयते। तथापि यथा न साङ्कर्यं तथोच्यते। यो हि साधने पुरः परिस्फुरति समर्थश्च दुष्टज्ञप्तौ स एव दुष्टज्ञप्तिकारको दूषणमिति यावत् नान्य इति। तेनैव पुरावस्फूर्तिकेन दुष्टौ ज्ञापितायां कथापर्यवसाने जाते तदुपजीविनोऽन्यस्यानुपयोगात्। तथा च सति यत्र

---

१३ हेत्वाभास

[अनुमान प्रकरण में] कहे हुए पक्षधर्मत्व आदि [१ पक्षसत्त्व, २ सपक्षसत्त्व ३ विपक्षव्यावृत्तत्व, ४ अबाधितविषयत्व, और ५ असत्प्रतिपक्षत्व इन पांच] रूपों में से किसी एक रूप से भी हीन [होने से जो वस्तुतः] अहेतु हैं। वह भी [तृतीयान्त या पञ्चम्यन्त प्रयोग आदि रूप तथा पक्षसत्त्वादि रूप] हेतु के कतिपय धर्मों के योग से हेतु के समान आभासित होने से 'हेत्वाभास' [कहलाते] हैं। और वह १ असिद्ध, २ विरुद्ध, ३ अनैकान्तिक, ४ प्रकरणसम तथा कालात्ययापदिष्ट भेद से पांच ही होते हैं।

इनमें से [असिद्ध नामक प्रथम हेत्वाभास की व्याख्या करते समय 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका परिशुद्धि' के लेखक] उदयनाचार्य ने 'व्याप्तियुक्त हेतु की पक्षधर्मतया प्रतीति सिद्धि [कहलाती] है और उसका अभाव असिद्धि है यह असिद्धि का लक्षण किया है। और यह 'लक्षण' यद्यपि विरुद्ध आदि [अन्य हेत्वाभासों] में भी हो सकता है इसलिए साङ्कर्य प्रतीत होता है फिर जिस प्रकार साङ्कर्य [दोष] न हो [सके] इस प्रकार [उसकी व्याख्या] कहते हैं। जो [दूषण] साधन में पहिले प्रतीत होता है और [उस हेतु की] दुष्टता-सूचन में समर्थ होता है वही [उस हेतु का] दुष्टतासूचक अर्थात् दूषण होता है [बाद में प्रतीत होने वाला] अन्य [दूषण, दूषण] नहीं। [होता क्योंकि] उसी [प्रथम प्रतीत होने वाले दोष] से दुष्टता सूचित हो जाने पर [वादी अथवा प्रतिवादी के निग्रहस्थान में आ जाने से] कथा की [जय-पराजय निर्णय रूप] समाप्ति हो जाने से उसके आश्रित रहने [और बाद में प्रतीत होने] वाले अन्य [दोष] का [कोई] उपयोग न होने से [उस बाद में प्रतीत होनेवाले का

विरोधो साध्यविपर्ययव्याप्त्याख्यो दुष्टज्ञप्तिव्यभिचारादयस्तथाभूतास्तेऽनैकान्तिकादयस्त्रयः। ये पुनर्व्याप्तिपक्षधर्मताविशिष्टहेतुस्वरूपज्ञप्त्यभावेन पूर्वोक्ता असिद्ध्यादयो दुष्टज्ञप्तिकारकाः, दूषणानीति यावत्। तथाभूतः सोऽसिद्धः।

स च त्रिविधः। आश्रयासिद्ध–स्वरूपासिद्ध–व्याप्यत्वासिद्धभेदात्। तत्र यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः। यथा 'गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्'। अत्र हि गगनारविन्दमाश्रयः स च नास्त्येव।

अयमप्याश्रयासिद्धः। तथाहि 'घटोऽनित्यः कार्यत्वात् पटवत्' इति। नन्वाश्रयस्य घटादेः सत्त्वात् कार्यत्वादिति हेतुर्नाश्रयासिद्धः, सिद्धसाधकस्तु स्यात्, सिद्धस्य घटानित्यत्वस्य साधनात्।

कोई मूल्य नहीं होता है।] ऐसा होने पर जहां 'साध्यविपर्यय व्याप्ति' रूप विरोध [दोष पहिले प्रतीत होने से] दुष्टतासूचक है वहां 'विरुद्ध' हेत्वाभास है [विरोध के बाद वहां असिद्ध का लक्षण भी भले ही प्रतीत हो परन्तु अब उसका कोई उपयोग नहीं है इसलिए वहां केवल विरुद्ध हेत्वाभास व्यवहार होगा। असिद्ध व्यवहार नहीं होगा। अतएव 'असिद्ध' और 'विरुद्ध' का शङ्कर होने का कोई अवसर नहीं है।] इसी प्रकार जहां व्यभिचार आदि वैसे [अर्थात् प्रथम प्रतीत होकर दुष्टतासूचक] हैं वह 'अनैकान्तिक' आदि तीन [हेत्वाभास होंगे। वहां भी बाद में असिद्ध का लक्षण प्रतीत होने पर भी 'असिद्ध' व्यवहार नहीं होगा अतः साङ्कर्य की शङ्का नहीं हो सकती है] और फिर जो व्याप्ति और पक्षधर्मताविशिष्टहेतु के स्वरूप का ज्ञापक न होने से पूर्वोक्त असिद्ध आदि दुष्टतासूचक अर्थात् दूषण हैं वह 'असिद्ध' [हेत्वाभास] है। ऐसी व्याख्या करने से असिद्ध का किसी के साथ सङ्कर नहीं हो सकता है]।

और वह [असिद्ध] तीन प्रकार का होता है। १ आश्रयासिद्ध, २ स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध भेद से। जिस हेतु का आश्रय [अर्थात् पक्ष] न प्रतीत होता हो वह 'आश्रयासिद्ध' [हेत्वाभास] है। जैसे 'आकाश, कमल सुगन्धित है, कमल होने से, तालाब में उत्पन्न हुए कमल के समान'। यहां आकाश, कमल [पुष्प] आश्रय [अर्थात् पक्ष] है। और वह [वस्तुतः] है ही नहीं। [इसलिए 'अरविन्दत्वात्' यह हेतु 'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास है]।

यह भी 'आश्रयासिद्ध' है जैसे 'घट अनित्य है, कार्य होने से पट के समान'।

[प्रश्न] आश्रयभूत घटादि के सत् [विद्यमान] होने से [इस अनुमान में प्रयुक्त] 'कार्यत्वात्' हेतु 'आश्रयासिद्ध' नहीं हो सकता है। सिद्धसाधक तो कहा

नैवम्। न हि स्वरूपेण कश्चिदाश्रयो भवत्यनुमानस्य, किन्तु सन्दिग्धधर्मवत्त्वेन। तथा चोक्तं भाष्ये—

'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थेऽपि तु सन्दिग्धेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते'।

न च घटे नित्यत्वसन्देहोऽस्ति। अनित्यत्वस्य निश्चितत्वात्। तेन यद्यपि स्वरूपेण घटो विद्यते, तथाप्यनित्यत्वसन्देहाभावान्नासावाश्रय इत्याश्रयासिद्धत्वादहेतुः।

स्वरूपासिद्धस्तु। स उच्यते यो हेतुराश्रये नावगम्यते। यथा 'सामान्यमनित्यं कृतकत्वात्' इति। कृतकत्वं हि हेतुराश्रये सामान्ये नास्त्येव।

भागासिद्धोऽपि स्वरूपासिद्ध एव। यथा 'पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणवो

जा सकता है पूर्वसिद्ध घट के अनित्यत्व का ही साधक होने से। [फिर आप उसको 'आश्रयासिद्ध' कैसे कहते हैं]'

[उत्तर ऐसा कहना ठीक नहीं है [कि इस अनुमान में कार्यत्वात् हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है। क्योंकि] कोई [घट आदि] वस्तु स्वरूप से अनुमान का आश्रय [अर्थात् पक्ष] नहीं होती है, किन्तु ['सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' इस लक्षण के अनुसार] सन्दिग्ध धर्म का आश्रय होने से ही। [अनुमान का आश्रय या पक्ष बनती है] जैसा कि [वात्स्यायन] भाष्य में कहा भी है कि —

[सर्वथा] अज्ञात अर्थ अथवा [सर्वथा] निश्चित [ज्ञात] अर्थ में [न्याय] अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु सन्दिग्ध अर्थ में [ही अनुमान की प्रवृत्ति होती है। इसलिए घट भी 'सन्दिग्ध'–साध्यवान्' होने पर ही अनुमान का 'आश्रय' अथवा 'पक्ष' हो सकता है।]

[किन्तु] घट में अनित्यत्व का सन्देह नहीं है। अनित्यत्व का निश्चय होने से। इसलिए यद्यपि स्वरूपतः घट विद्यमान है तथापि अनित्यत्व का सन्देह न होने से वह [सन्दिग्धसाध्यवान् न होने से] आश्रय' [पक्ष] नहीं है। इसलिए [कार्यत्वात् हेतु] 'आश्रयासिद्ध' होने से अहेतु [हेत्वाभास] है।

'स्वरूपासिद्ध' [हेत्वाभास] तो वह कहलाता है जो हेतु [अपने] आश्रय [पक्ष] में नहीं पाया जाता है। जैसे 'सामान्य [घटत्व जाति] अनित्य है कृतक [जन्य] होने से'। [इस अनुमान में] कृतकत्व हेतु आश्रय [पक्ष] सामान्य में नहीं रहता है [क्योंकि सामान्य कृतक नहीं, नित्य है। इसलिए यहां 'कृतकत्व' हेतु 'स्वरूपासिद्ध' है।

'भागासिद्ध' भी 'स्वरूपासिद्ध' ही [होता] है। 'जैसे पृथिवी आदि चार [के] परमाणु नित्य हैं, गन्धयुक्त होनेसे' यहां 'गन्धवत्त्व' [हेतु] पक्ष बनाए हुए [पृथिवी,

नित्यगन्धवत्त्वात्' इति। गन्धवत्त्वं हि पक्षीकृतेषु सर्वेषु नास्ति, पृथिवीमात्रवृत्तित्वात्। अतएव भागे स्वरूपासिद्धः।

तथा विशेषणासिद्ध-विशेष्यासिद्ध-असमर्थविशेषणासिद्ध-असमर्थविशेष्यासिद्धादयः स्वरूपासिद्धभेदाः। तत्र विशेषणासिद्धो यथा 'शब्दो नित्यो द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शत्वात्'। अत्र हि द्रव्यत्वविशिष्टमस्पर्शत्वं हेतुर्नास्पर्शत्वमात्रम्। शब्दे च द्रव्यत्वं विशेषणं नास्ति गुणत्वात्, अतो विशेषणासिद्धः। न चासति विशेषणे द्रव्यत्वे तद्विशिष्टमस्पर्शत्वमस्ति। विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात्। यथा दण्डमात्राऽभावे पुरुषाऽभावे वा दण्डविशिष्टस्य पुरुषस्याभावः। तेन सत्यप्यस्पर्शत्वे द्रव्यत्वविशिष्टस्य हेतोरभावात् स्वरूपासिद्धत्वम्।

विशेष्यासिद्धो यथा 'शब्दो नित्योऽस्पर्शत्वे सति द्रव्यत्वात्' इति। अत्रापि विशिष्टो हेतुः। न च विशेष्याऽभावे विशिष्टं स्वरूपमस्ति। विशिष्टश्च हेतुर्नास्त्येव।

जल, वायु, अग्नि इन चार के परमाणु] सब में नहीं है। केवल पृथिवी में रहने वाला होने से। इसलिए [पक्षभूत चार परमाणुओं के] भाग [अर्थात् पृथिवी को छोड़ कर शेष तीन प्रकार के परमाणुओं] में [अविद्यमान होने से] स्वरूपासिद्ध है।

इसी प्रकार १ 'विशेषणासिद्ध', २ 'विशेष्यासिद्ध', ३ 'असमर्थविशेषणासिद्ध' और ४ 'असमर्थविशेष्यासिद्ध' आदि [भी] स्वरूपासिद्ध के भेद हैं। उनमें से 'विशेषणासिद्ध' जैसे, 'शब्द नित्य है द्रव्य होकर स्पर्श रहित होने से'। यहां [इस अनुमान में] द्रव्यत्वविशिष्ट अस्पर्शत्व हेतु है केवल अस्पर्शत्वमात्र नहीं। और शब्द में विशेषणभूत द्रव्यत्व नहीं है। [शब्द के] गुण होने से। इसलिए ['विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावः' इस नियम के अनुसार द्रव्यत्व रूप विशेषण के अभाव में 'द्रव्यत्वे सत्यस्पर्शत्वात्' यह विशिष्ट हेतु भी नहीं है] विशेषणासिद्ध' है। विशेषण द्रव्यत्व के न होने पर तद्विशिष्ट अस्पर्शत्व [रूप विशिष्ट हेतु] भी नहीं है। विशेषण के अभाव में विशिष्ट का अभाव होने से। जैसे [दण्डी पुरुषः इस प्रतीति में विशेषण रूप] दण्डमात्र के अभाव में अथवा [विशेष्यभूत] पुरुष के अभाव में [अर्थात केवल दण्ड अथवा केवल पुरुष होने पर] दण्डविशिष्ट पुरुष का अभाव होता है। इसलिए [शब्द में] अस्पर्शत्व [स्पर्शराहित्य] होने पर भी द्रव्यत्व विशिष्ट [अस्पर्शत्व रूप] हेतु के न होने से 'स्वरूपासिद्धत्व' है।

'विशेष्यासिद्ध' जैसे [उसी को उल्टा कर देने से] 'शब्द नित्य है स्पर्शरहित [होकर] द्रव्य होने से'। यहां भी विशिष्ट हेतु है। [शब्द में विशेषण

असमर्थविशेषणासिद्धो यथा, 'शब्दो नित्यो गुणत्वे सत्यकारणकत्वात्' । अत्र हि विशेषणस्य गुणत्वस्य न किञ्चित् सामर्थ्यमस्तीति । विशेष्यस्याकारणकत्वस्यैव नित्यत्वसाधने सामर्थ्यात् । अतोऽसमर्थविशेषणता । स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात् ।

ननु विशेषणं गुणत्वं तत्र शब्देऽस्त्येव, तत्कथं विशेषणाभावः ?

सत्यमस्त्येव गुणत्वं, किन्तु न तद्विशेषणम् । तदेव हि हेतोर्विशेषणं भवति यदन्यव्यवच्छेदेन प्रयोजनवत् । गुणत्वं तु निष्प्रयोजनमतोऽसमर्थमित्युक्तमेव ।

असमर्थविशेष्यो यथा तत्रैव तद्वैपरीत्येन प्रयोगः । तथाहि, 'शब्दो नित्योऽकारणकत्वे सति गुणत्वात्' इति । अत्र तु विशेषणमात्रस्यैव नित्यत्वसाधने समर्थत्वाद् विशेष्यमसमर्थम् । स्वरूपासिद्धत्वं तु विशेष्याभावे

रूप अस्पर्शत्व तो है परन्तु विशेष्य रूप द्रव्यत्व नहीं है क्योंकि शब्द द्रव्य नहीं अपितु गुण है । इसलिए] विशेष्य के अभाव में विशिष्ट हेतु [पक्षभूत शब्द में] नहीं रहता है । [अतएव] विशिष्ट हेतु [शब्द में] नहीं है [इसलिए यह भी स्वरूपासिद्ध ही हुआ] ।

'असमर्थ विशेषणासिद्ध' जैसे शब्द नित्य है गुण होकर कारणरहित होने से । यहां [इस अनुमान में] विशेषण 'गुणत्व' की कुछ भी उपयोगिता [सामर्थ्य] नहीं है । विशेष्य रूप 'अकारणकत्व' का ही नित्यत्व-सिद्धि में सामर्थ्य होने से । [अर्थात् नित्यत्व की सिद्धि के लिए अकारणकत्व हेतु ही पर्याप्त है । जो कारण रहित है जिसका कोई कारण नहीं होता वह नित्य कहलाता है फिर चाहे वह द्रव्य हो या गुण । नित्यत्व की सिद्धि के लिए द्रव्यत्व अथवा गुणत्व का कोई उपयोग नहीं है] । इसलिए 'असमर्थ विशेषणता' है । [उस असमर्थ विशेषण का] 'स्वरूपासिद्धत्व' तो विशेषण के अभाव में विशिष्ट का अभाव होने से है ।

[प्रश्न] विशेषण गुणत्व वहां शब्द में है ही, फिर विशेषण का अभाव कैसे [कहते हैं] ?

[उत्तर] ठीक है गुणत्व [शब्द में अवश्य] है किन्तु वह विशेषण नहीं है । वह ही हेतु का विशेषण होता है जो अन्य का व्यावर्तक और सप्रयोजन हो । [इस अनुमान में] गुणत्व तो निष्प्रयोजन ही है यह [अभी] कह चुके हैं । [शब्द के नित्यत्व की सिद्धि में अकारणकत्व की ही उपयोगिता है गुणत्व का कोई उपयोग न होने से वह व्यर्थ ही है यह अभी कहा था] ।

'असमर्थविशेष्यासिद्ध' जैसे उस [अनुमान] में ही उसका उल्टा प्रयोग करने से जैसे कि 'शब्द नित्य है कारण रहित गुण होने से' । यहां तो नित्यत्व सिद्धि में विशेषणमात्र [अकारणकत्व] का ही सामर्थ्य होने से विशेष्य [गुणत्वे सति यह

विशिष्टाभावाद्, विशिष्टस्य च हेतुत्वेनोपादानात् । शेषं पूर्ववत् ।

व्याप्यत्वासिद्धस्तु स एव यत्र हेतोर्व्याप्तिर्नावगम्यते । स द्विविधः । एकः साध्येनासहचरितः, अपरस्तु सोपाधिकसाध्यसम्बन्धी । तत्र प्रथमो यथा 'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः, संश्च विवादास्पदीभूतः शब्दादिः' इति । अत्र हि शब्दादिः पक्षः, तस्य क्षणिकत्वं साध्यं, सत्त्वं हेतुः—न चास्य हेतोः क्षणिकत्वेन सह व्याप्तौ प्रमाणमस्ति ।

इदानीमुपाधिसहितो व्याप्यत्वासिद्धः प्रदर्श्यते । तद्यथा 'स श्यामो, मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रीतनयस्तोमवत्' इति । अत्र हि मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वं साध्यते । न च मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वे प्रयोजकं-

---

अंश] असमर्थ हैं । [विशेष्य रूप गुणत्व यद्यपि शब्द में है परन्तु जो अन्य से व्यावर्तक और प्रयोजनवत् होता है वही विशेष्य होता है । गुणत्व स्वरूपतः शब्द में रहने पर भी प्रकृत नित्यत्व की सिद्धि में उपयोगी न होने से विशेष्य नहीं कहा जा सकता है । अतएव] विशेष्य के अभाव में विशिष्ट का अभाव होने से, और विशिष्ट के हेतु रूप में गृहीत होने से 'स्वरूपासिद्ध' है । शेष सब पूर्ववत् [समझना चाहिये] ।

'व्याप्यत्वासिद्ध' [हेत्वाभास] तो वह ही है जहां हेतु की व्याप्ति प्रतीत नहीं होती । वह दो प्रकार का है । एक 'साध्य के साथ असहचरित' [अर्थात् व्याप्तिग्राहक-प्रमाणाभावात् व्याप्यत्वासिद्ध] और दूसरा 'सोपाधिक साध्य-सम्बन्धी' [अर्थात् उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध] उनमें पहिला [उदाहरण] जैसे 'जो सत् है सो क्षणिक है जैसे मेघपटल, और विवादास्पद [शब्द आदि] सत् है' । यहां शब्दादि पक्ष है, उसका क्षणिकत्व साध्य है और सत्त्व हेतु है । परन्तु उस [सत्त्व] हेतु की क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति में कोई प्रमाण नहीं है । इसलिए यह 'व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात् व्याप्यत्वासिद्ध है] ।

यह पूरा अनुमान आचार्य ज्ञानश्री ने एक श्लोक में इस प्रकार दिखलाया है—

यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी
सत्ता शक्तिरिहार्थकर्मणि मितेः सिद्धेषु सिद्धा न सा ।
नाप्येकैव विधान्यथा परकृतेनापि क्रियादिर्भवेत् ।
द्वेधापि क्षणभङ्गसङ्गतिरतः साध्ये च विश्राम्यति ॥

अब 'उपाधि सहित व्याप्यत्वासिद्ध' को दिखलाते हैं जैसे कि 'वह श्याम है मैत्री का पुत्र होने से परिदृश्यमान मैत्री के पुत्रों के समुदाय के समान । यहां मैत्रीतनयत्व [हेतु] से श्यामत्व सिद्ध किया जा रहा है । परन्तु मैत्रीतनयत्व श्यामत्व में प्रयोजक नहीं है अपितु शाकादि खाद्य पदार्थ [अन्न] का परिपाक ही

किन्तु शाकाद्यन्नपरिणाम एवात्र प्रयोजकः । प्रयोजकश्चोपाधिरुच्यते । अतो मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वेन सम्बन्धे शाकाद्यन्नपरिणाम एवोपाधिः ।

यथा वाग्नेर्धूमसम्बन्धे आर्द्रेन्धनसंयोगः । अतएवोपाधिसम्बन्धाद् व्याप्तिर्नास्तीति व्याप्यत्वासिद्धोऽयं मैत्रीतनयत्वादिर्हेतुः ।

तथा परोऽपि व्याप्यत्वासिद्धः । यथा 'क्रत्वन्तर्वर्तिनी हिंसा अधर्मसाधनं हिंसात्वात् क्रतुबाह्यहिंसावत्' इति । न च हिंसात्वमधर्मे प्रयोजकं, किंतु निषिद्धत्वमुपाधिरिति पूर्ववदुपाधिसद्भावाद् व्याप्यत्वासिद्धोऽयं हिंसात्वं हेतुः ।

ननु 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापको यः स उपाधिः' इत्युपाधिलक्षणम् । तच्च निषिद्धत्वे नास्ति तत् कथं निषिद्धत्वमुपाधिरिति ।

नैवम् । निषिद्धत्वेऽप्युपाधिलक्षणस्य विद्यमानत्वात् । तथा हि साध्यस्य अधर्मजनत्वकस्य व्यापकं निषिद्धत्वम् । यत्र यत्राधर्मसाधनत्वं, तत्र तत्रा-

---

यहां [श्यामत्व में] प्रयोजक है । और प्रयोजक को ही 'उपाधि' कहते हैं । इसलिए मैत्रीतनयत्व के श्यामत्व के साथ [व्याप्ति अथवा साध्य-साधकभाव संबन्ध [मानने] में शाकादि खाद्य पदार्थों [अन्न] का परिपाक ही 'उपाधि' है । [इसलिए वह 'उपाधिसद्भावाद् व्याप्यत्वासिद्ध' है]

['उपाधिसद्भावात् व्याप्यत्वासिद्ध' का दूसरा उदाहरण भी दिखलाते हैं] अथवा जैसे अग्नि के धूम के साथ [व्याप्ति] सम्बन्ध [यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूम] में 'आर्द्र-इन्धनसंयोग' [उपाधि] है । [इसी प्रकार मैत्रीतनयत्वात् हेतु में भी] इसलिए उपाधि का सद्भाव होने से व्याप्ति नहीं है इसलिए वह हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है ।

और भी [उपाधिसद्भावात्]व्याप्यत्वासिद्ध [का तीसरा उदाहरण] जैसे, 'यज्ञ के अन्तर्गत [की गई] हिंसा अधर्मजनिका है, हिंसा होने से, यज्ञ से बाहर की गई हिंसा के समान' । [इस अनुमान में हिंसात्व हेतु है और उससे अधर्मजनकत्व साध्य है और किन्तु] हिंसात्व अधर्मजनकत्व का प्रयोजक [कारण] नहीं है अपितु निषिद्धत्व [रूप] उपाधि [ही अधर्मजनकत्व में प्रयोजक] है । इसलिए पूर्ववत् उपाधि के विद्यमान होने से यह हिंसात्व हेतु [भी] 'व्याप्यत्वासिद्ध' [हेत्वाभास] है ।

[प्रश्न] साध्य का व्यापक होकर जो साधन का अव्यापक हो वह 'उपाधि' होता है यह 'उपाधि' का लक्षण [किया गया] है । और वह [लक्षण] निषिद्धत्व में नहीं [घटता] है तो निषिद्धत्व [को] उपाधि कैसे [कहते] हैं ?

[उत्तर] यह कहना ठीक नहीं है । निषिद्धत्व में उपाधिलक्षण के विद्यमान होने से । क्योंकि साध्यरूप अधर्मजनकत्व का निषिद्धत्व व्यापक है । जहां जहां

वश्यं निषिद्धत्वमिति निषिद्धत्वस्य विद्यमानत्वात् । न च यत्र यत्र हिंसात्वं, तत्र तत्रावश्यं निषिद्धत्वं क्रत्वङ्गहिंसायां व्यभिचारात् । अस्ति हि क्रत्वङ्गहिंसायां हिंसात्वं, न चात्र निषिद्धत्वमिति । तदेवं त्रिविधोऽसिद्धो दर्शितः ।

संप्रति विरुद्धः कथ्यते । साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः । यथा 'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्' इति अत्र हि नित्यत्वं साध्यं, कृतकत्वं हेतुः । तद्विपर्ययेण चानित्यत्वेन कृतकत्वं व्याप्तं, यतो यद्यत् कृतकं तत्तत् खल्वनित्यमेव । अतः साध्यविपर्ययव्याप्तत्वात् कृतकत्वं हेतुर्विरुद्धः ।

साध्यसंशयहेतुरनैकान्तिकः सव्यभिचारः । इति वोच्यते । स द्विविधः । साधारणानैकान्तिको असाधारणानैकान्तिकश्चेति । तत्र प्रथमः, पक्ष-सपक्ष-विपक्षवृत्तिः । यथा 'शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्' इति । अत्र प्रमेयत्वं हेतुः पक्षे शब्दे, सपक्षे नित्ये व्योमादौ, विपक्षे चानित्ये घटादौ विद्यते । सर्वस्यैव प्रमेयत्वात् । तस्मात् प्रमेयत्वं हेतुः साधारणानैकान्तिकः ।

अधर्मजनकत्व होता है । वहाँ वहां निषिद्धत्व अवश्य होता है इस प्रकार निषिद्धत्व के विद्यमान होने से [साध्य व्यापकत्व हुआ] और जहां जहां [साधनभूत] हिंसात्व है वहां वहां निषद्धत्व अवश्य हो यह नहीं है यज्ञाङ्गभूत हिंसा में [इसका] व्यभिचार होने से । यज्ञाङ्ग हिंसा में हिंसात्व तो है किन्तु निषिद्धत्व नहीं है । [इस प्रकार तीन तरह का असिद्ध [हेत्वाभास] प्रदर्शित कर दिया ।

२ अब 'विरुद्ध' [हेत्वाभास] को कहते हैं । साध्य विपर्यय [साध्याभाव] के साथ व्यापक हेतु 'विरुद्ध' [हेत्वाभास] है । जैसे 'शब्द नित्य है कृतक [जन्य] होने से' । यहां नित्यत्व साध्य है और कृतकत्व हेतु है । उस [साध्य नित्यत्व] के विपरीत अनित्यत्व के साथ कृतकत्व व्याप्त है क्योंकि जो जो कृतक होता है सो सो निश्चय से अनित्य ही होता है । इसलिए साध्य के विपरीत के साथ व्याप्त होने से कृतकत्व हेतु रुद्ध [हेत्वाभास] है ।

३ साध्य के संशय का हेतु 'अनैकान्तिक' अथवा 'सव्यभिचार' कहलाता है । वह दो प्रकार का होता है । साधारणानैकान्तिक और असाधारणानैकान्तिक । उनमें से पहिला [साधारणानैकान्तिक] पक्ष, सपक्ष. विपक्ष [तीनों] में रहने वाला होता है । जैसे 'शब्द नित्य है प्रमेय होने से' यहां प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द में सपक्ष नित्य आकाशादि में, और विपक्ष अनित्य जलादि में विद्यमान है । सबके ही प्रमेय [ज्ञानका विषय] होने से । इसलिए प्रमेयत्व हेतु 'साधारणानैकान्तिक' है ।

असाधारणानैकान्तिकः स एव यः सपक्षविपक्षाभ्यां व्यावृत्तः पक्ष एव वर्तते। यथा 'भूर्नित्या गन्धवत्त्वात्' इति। अत्र गन्धवत्त्वं हेतुः। स च सपक्षान्नित्याद् व्योमादेः, विपक्षाच्चानित्याज्जलादेर्व्यावृत्तो, गन्धवत्त्वस्य पृथिवीमात्रवृत्तित्वादिति।

व्यभिचारस्तु लक्ष्यते। सम्भवत्सपक्षविपक्षस्य हेतोः सपक्षवृत्तित्वे सति विपक्षाद् व्यावृत्तिरेव नियमो गमकत्वात्। तस्य च साध्यविपरीतताव्याप्तस्य तन्नियमाभावो व्यभिचारः। स च द्वेधा सम्भवति। सपक्षविपक्षयोर्वृत्तौ, ताभ्यां व्यावृत्तौ च।

यस्य प्रतिपक्षभूतं हेत्वन्तरं विद्यते स प्रकरणसमः। स एव सत्प्रतिपक्षः इति चोच्यते। तद्यथा 'शब्दोऽनित्यो नित्यधर्मानुपलब्धेः', 'शब्दो नित्योऽनित्यधर्मानुपलब्धेः' इति। अत्र साध्यविपरीतसाधकं समानबलमनुमानान्तरं प्रतिपक्ष इत्युच्यते। यः पुनरतुल्यबलो न स प्रतिपक्षः।

'असाधारणानैकान्तिक' वह ही होता है जो सपक्ष विपक्ष दोनों से व्यावृत्त [केवल] पक्ष में ही रहता है। जैसे 'पृथिवी नित्य है गन्धवती होने से'। यहां गन्धवत्त्व हेतु है। और वह सपक्ष नित्य आकाशादि से विपक्ष अनित्य जलादि से व्यावृत्त है गन्धवत्त्व के पृथिवी मात्र में रहने वाला होने से।

[इसको सव्यभिचार इसलिए कहते हैं कि इसमें नियमोल्लङ्घन रूप] व्यभिचार तो दिखलाई देता है। जिस हेतु के सपक्ष, विपक्ष दोनों सम्भव हों उसमें सपक्षसत्त्व होने पर विपक्ष व्यावृत्ति ही [साध्य की] गमक होने से नियम है। साध्यविपरीत के साथ व्याप्त उस [हेतु] में नियम का अभाव ही व्यभिचार है। वह [व्यभिचार] दो प्रकार से होता है। १ सपक्ष विपक्ष [दोनों] में रहने पर, और [दूसरा] दोनों में न रहने पर। [सपक्ष में सत्त्व और विपक्ष में व्यावृत्ति का नियम है। परन्तु जब दोनों में रहता है अथवा दोनों में नहीं रहता है तब, इस नियम का उल्लङ्घन होने से सव्यभिचार कहलाता है]।

४ जिस [हेतु] का प्रतिपक्ष भूत दूसरा हेतु विद्यमान है वह 'प्रकरणसम' है और वह ही 'सत्प्रतिपक्ष' भी कहलाता है। जैसे [एक अनुमान है] 'शब्द अनित्य है नित्य धर्म की अनुपलब्धि होने से'। [इसके विपरीत दूसरा तुल्यबल अनुमान है] 'शब्द नित्य है अनित्य धर्म की अनुपलब्धि होने से'। यहां [पहिले अनुमान के] साध्य से विपरीत का साधक समानबल दूसरा अनुमान 'प्रतिपक्ष'

तथाहि विपरीतसाधकानुमानं त्रिविधं भवति। उपजीव्यम्, उपजीवकम्, अनुभयं चेति। तत्राद्यं बाधकं बलवत्त्वात्। यथा 'अनित्यः परमाणुर्मूर्तत्वाद् घटवत्' इत्यस्य परमाणुसाधकानुमानं नित्यत्वं साधयदपि न प्रतिपक्षः। किन्तु बाधकमेवोपजीव्यत्वात्। तच्च धर्मिग्राहकत्वात्। न हि प्रमाणेनागृह्यमाणे धर्मिणि परमाणावनित्यत्वानुमानमिदं सम्भवति, आश्रयासिद्धेः। अतोऽनेनानुमानेन परमाणुग्राहकस्य प्रामाण्यमप्यनुज्ञातमन्यथाऽस्योदयासम्भवात्। तस्मादुपजीव्यं बाधकमेव। उपजीवकं तु दुर्बलत्वाद् बाध्यम्। यथेदमेवानित्यत्वानुमानम्। तृतीयं तु सत्प्रतिपक्षं समबलत्वात्।

यस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणेन पक्षे साध्याभावः परिच्छिन्नः स कालात्यया-

---

कहलाता है]। इसलिए यह 'सत्प्रतिपक्ष' कहलाता है]। और जो [साध्यविपरीत साधक होने पर भी] तुल्यबल नहीं होता वह प्रतिपक्ष नहीं होता है।

क्योंकि साध्यविपरीतसाधक अनुमान तीन प्रकार का होता है। १ उपजीव्य [जिसके आश्रित दूसरा अनुमान हो] २ उपजीवक [जो दूसरे अनुमान के आश्रित हो] ३ अनुभय। उनमें से पहिला [उपजीव्य अनुमान] बाधक [ही] होता है बलवान् होने से। जैसे 'परमाणु अनित्य है मूर्त [परिच्छिन्न-परिमाणवान्] होने से घट के समान'। इस [परमाणु अनित्यत्व साधक अनुमान] का परमाणु साधक [दूसरा अनुमान] नित्यत्व सिद्ध के करने वाला होने पर भी प्रतिपक्ष नहीं है किन्तु बाधक ही है उपजीव्य होने से। और वह [उपजीव्यत्व] धर्मी [परमाणु] का साधक होने से है। धर्मी रूप परमाणु के [अनुमान] प्रमाण से गृहीत न होने पर [परमाणु के] अनित्यत्व का साधक यह अनुमान [भी] नहीं हो सकता है। आश्रयासिद्ध होने से। इस लिए [आश्रयासिद्ध से बचने के लिए] इस [परमाणु के अनित्यत्व साधक] अनुमान से परमाणु ग्राहक [अनुमान] का प्रामाण्य भी स्वीकार कर लिया है [यह मानना होगा]। अन्यथा [आश्रयासिद्धि के कारण] इस [परमाणु के अनित्यत्व साधक अनुमान] का उदय ही सम्भव न होने से। इसलिए 'उपजीव्य' बाधक ही [होता] है। और 'उपजीवक' तो दुर्बल होने से बाध्य होता है। जैसे यही [परमाणु का] अनित्यत्व [साधक] अनुमान। [इन दोनों से भिन्न] तीसरा [अनुभय रूप अनुमान ही] समबल होने से 'सत्प्रतिपक्ष' होता है।

५ जिस [हेतु] के साध्य का अभाव प्रत्यक्षादि प्रमाण से पक्ष में निश्चित हो, वह 'कालात्ययापदिष्ट' है और वही 'बाधितविषय' भी कहलाता है।

पदिष्टः। स एव बाधितविषय इत्युच्यते। यथा 'अग्निरनुष्णः कृतकत्वाज्जलवत्'। अत्र कृतकत्वं हेतुः। तस्य च यत् साध्यमनुष्णत्वं तस्याभावः प्रत्यक्षेणैव परिच्छिन्नः। त्वगिन्द्रियेणाग्नेरुष्णत्वपरिच्छेदात्।

तथा परोऽपि कालात्ययापदिष्टो, यथा, 'घटस्य क्षणिकत्वे साध्ये प्रागुक्तं सत्त्वं हेतुः'। तस्यापि च यत् साध्यं क्षणिकत्वं तस्याऽभावोऽक्षणिकत्वं प्रत्यभिज्ञातर्कादिलक्षणेन प्रत्यक्षेण परिच्छिन्नम्। स एवायं घटो यो मया पूर्वमुपलब्धः' इति प्रत्यभिज्ञया पूर्वानुभवजनितसंस्कारसहकृतेन्द्रियप्रभवया पूर्वापरकालनया घटस्य स्थायित्वपरिच्छेदादिति।

एते चासिद्धादयः पञ्च हेत्वाभासा यथा कथञ्चित् पक्षधर्मत्वाद्यन्यतमरूपहीनत्वादहेतवः स्वसाध्यं न साधयन्तीति।

येऽपि लक्षणस्य केवलव्यतिरेकिहेतोस्त्रयो दोषा अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवास्तेऽप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, न तु पञ्चभ्योऽधिकाः। तथाहि, अतिव्याप्तिर्व्याप्यत्वासिद्धिः। विपक्षमात्रादव्यावृत्तत्वात् सोपाधि-

---

जैसे 'अग्नि अनुष्ण है कृतक होने से घट के समान'। यहां कृतकत्व हेतु है। और उसका जो साध्य अनुष्णत्व उसका अभाव [उष्णत्व अग्नि में] प्रत्यक्ष से ही निश्चित है। त्वगिन्द्रिय से अग्नि में उष्णत्व का निश्चय होने से।

दूसरा भी कालात्ययापदिष्ट [का उदाहरण] है। जैसे घट के 'क्षणिकत्व' की सिद्धि में पहिले कहा हुआ 'सत्त्व' हेतु। उस [सत्त्व हेतु] का भी जो साध्य क्षणिकत्व उसका अभाव अक्षणिकत्व [स्थिरत्व] प्रत्यभिज्ञा तर्कादि रूप [सहकृत] प्रत्यक्ष [प्रमाण] से ही निश्चित है। 'यह वही घट है जो मैंने पहिले देखा था' इस पूर्वानुभव जनित संस्कार सहकृत इन्द्रिय से उद्भूत, 'प्रत्यभिज्ञा' [पहिचान] से पूर्वापर काल के परिज्ञान से, घट के स्थायित्व का निश्चय होने से। [यह हेतु भी 'बाधितविषय' या 'कालात्ययापदिष्ट' हेत्वाभास है]।

यह असिद्ध आदि पांचों हेत्वाभास किसी न किसी प्रकार 'पक्षधर्मत्व' आदि [पञ्च रूपों] में से किसी रूप से हीन होने से अहेतु [हेत्वाभास] हैं और अपने साध्य को सिद्ध नहीं करते हैं।

और जो 'केवल व्यतिरेकी' हेतु रूप लक्षण के अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव रूप तीन दोष [माने जाते] हैं वह भी इन्हीं [हेत्वाभासों] में अन्तर्गत हो जाते हैं। वह इन पांच [हेत्वाभासों] से अलग नहीं हैं। जैसे कि अतिव्याप्ति [दोष] व्याप्यत्वासिद्ध [हेत्वाभास के अन्तर्गत] है। विपक्षमात्र से व्यावृत्त न

कत्वाच्च । यथा गोलक्षणस्य पशुत्वस्य । गोत्वे हि सास्नादिमत्त्वं प्रयोजकं, न तु पशुत्वम् । यथा अव्याप्तिर्भागासिद्धत्वम् । यथा गोलक्षणस्य शाबलेयत्वस्य । एवम् असम्भवोऽपि स्वरूपासिद्धिः । यथा गोलक्षणस्यैक-शफत्वस्येति ।

होने और सोपाधिक होनेके कारण । जैसे गौ के लक्षण 'पशुत्व' [के करने पर] की [अतिव्याप्ति व्याप्यत्वासिद्धि ही है] । गोत्व में 'सास्नादिमत्त्व' ही प्रयोजक है पशुत्व नहीं । [प्रयोजक को ही 'उपाधि' कहते हैं । इसलिए यह सोपाधिक होने से व्याप्यत्वासिद्ध है और विपक्ष महिषादि में विद्यमान होने से भी व्याप्यत्वासिद्ध है] । इसी प्रकार अव्याप्ति [दोष] भागासिद्ध [के अन्तर्गत] है । जैसे गो लक्षण 'शाबलेयत्व' की [अव्याप्ति भाग में असिद्ध होने से भागासिद्ध है और भागासिद्ध स्वरूपासिद्ध का भेद है इसलिए अव्याप्ति स्वरूपासिद्ध के अन्तर्गत हो जाती है ।] इसी प्रकार असम्भव [दोष] भी 'स्वरूपासिद्ध' है । जैसे गोलक्षण 'एकशफत्व' का [असम्भवत्व दोष आश्रयरूप गो में न पाया जाने में स्वरूपा-सिद्ध ही होता है] ।

नवीन और प्राचीन हेत्वाभासों की तुलना—

इस प्रकार तर्कभाषाकार ने पाँच हेत्वाभासों का पूर्वापेक्षया कुछ अधिक विस्तार से यहाँ दुबारा निरूपण किया है । यद्यपि यह सब न्याय-सम्मत हेत्वाभास कहे गए हैं फिर भी प्राचीन न्याय-सूत्रोक्त और इन हेत्वाभासों में कुछ अन्तर पाया जाता है । उनके नामों में भी कुछ अन्तर है और स्वरूप में भी । न्याय-सूत्र में हेत्वाभासों के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं—

सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-अतीतकाला हेत्वाभासाः[1] ।

तर्कभाषा के हेत्वाभासों में सबसे प्रथम 'असिद्ध' हेत्वाभास गिनाया गया है परन्तु न्यायसूत्र में 'असिद्ध' का कहीं उल्लेख नहीं है । असिद्ध के स्थान पर वहाँ 'साध्यसम' नाम मिलता है जिसे 'असिद्ध' का स्थानापन्न मान सकते हैं । परंतु न्यायसूत्रों के 'साध्यसम' हेत्वाभास को यदि नवीन 'असिद्ध' हेत्वाभास के स्थान पर माना भी जाय तो वह पूर्णतया सुसङ्गत नहीं होता है । क्योंकि तर्कभाषा में 'असिद्ध' के जो आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध वह तीन भेद किए हैं उस प्रकारके भेदों का न न्याय-सूत्रोंमें ही कोई उल्लेख मिलता है और न उसके 'वात्स्यायन भाष्य' में ही । इसके अतिरिक्त 'साध्यसम' का जो उदाहरण

---

१. न्या० सू० १, १, ४५

भाष्यकार ने 'द्रव्यं छाया गतिमत्त्वात्' यह दिया है। यह भी तर्कभाषा के 'असिद्ध' हेत्वाभास के उदाहरणों से बिलकुल भिन्न प्रकार का उदाहरण है। इसमें 'गतिमत्त्वात्' हेतु है, 'छाया' पक्ष है और उसमें 'द्रव्यत्व' साध्य है। न्याय के भाष्यकार का अभिप्राय यह है कि यहाँ गतिमत्त्व होने से छाया को द्रव्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है। परन्तु छाया में गतिमत्त्व रहता है यह ही निश्चित नहीं है, क्योंकि न्याय-सिद्धान्त में वस्तुतः छाया में गति नहीं रहती है। बीच में किसी आवरक द्रव्य के आ जाने से प्रकाश का जहाँ अभाव हो जाता है उसको 'छाया' कहते हैं। जहाँ छाया चलती हुई प्रतीत होती है, वहाँ गति या तो प्रकाश में होती है या आवरक द्रव्य में। उनकी ही गति से छाया चलती हुई प्रतीत होती है। इसलिए छाया में गतिरूप हेतु का अस्तित्व न होने से 'साध्यसम' है। इसलिए यह 'साध्यसम' हेत्वाभास कहलाता है। यह उदाहरण भी तर्कभाषा के उदाहरणों से भिन्न प्रकार का है।

२ सव्यभिचार का लक्षण सूत्रकार ने भी 'अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' किया है इसलिए इसे और तर्कभाषा के सव्यभिचार को एक सा कहा जा सकता है। परन्तु तर्कभाषाकार ने जो इसके 'साधारणानैकान्तिक' और 'असाधारणानैकान्तिक' यह दो भेद किए हैं वह न्यायसूत्र अथवा उसके भाष्य में नहीं पाए जाते हैं।

'विरुद्ध' और 'प्रकरणसम' हेत्वाभास दोनों जगह समान हैं यद्यपि उनके उदाहरणों में दोनों जगह कुछ भेद पाया जाता है। और 'प्रकरणसम' का दूसरा नाम 'सत्प्रतिपक्ष' भी सूत्र या भाष्य में नहीं मिलता है।

न्यायसूत्र का 'कालात्ययापदिष्ट' अथवा 'कालातीत' हेत्वाभास तर्कभाषा में भी उसी नाम से मिलता है परन्तु उन दोनों के स्वरूप में बहुत भेद हैं। वात्स्यायन भाष्य से प्रतीत होता है कि स्वयं भाष्यकार के समय इस हेत्वाभास की कई तरह की व्याख्या पाई जाती थी। उन व्याख्याओं में से एक व्याख्या यह भी थी कि 'प्रतिज्ञा आदि अवयवों को यथाक्रम न बोल कर व्युत्क्रम से बोलना' भी 'कालातीत' या 'कालात्ययापदिष्ट' कहा जाता था। परन्तु भाष्यकार ने उसका खण्डन किया है। और अपना दूसरा अर्थ किया है। उनका वह लक्षण और उदाहरण और भी कठिन हो गया है। उसकी अपेक्षा तर्कभाषा का लक्षण और उदाहरण अधिक सरल और सुबोध है।

न्याय के समानतन्त्र वैशेषिक में जैसा कि पहले कहा जा चुका है हेतु के पक्षसत्त्व आदि पाँच रूपों के स्थान पर तीन ही रूप स्वीकार किए गए हैं इस

१४ छलम्

अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं

लिए उसमें 'विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्'। १ विरुद्ध, २ असिद्ध और सन्दिग्ध [अनैकान्तिक] यह तीन हेत्वाभास कहे हैं और उनके अतिरिक्त एक 'अनध्यवसित' हेत्वाभास भी माना है। अक्षपाद और कणाद दोनों के 'अनुगामी' सर्वज्ञ ने भी अपने 'न्यायसार' में 'असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-अनध्यवसित-कालात्ययापदिष्ट प्रकरणसमाः' कह कर छः हेत्वाभासों का वर्णन किया है। इनमें न्याय के पाँच और वैशेषिक में कहे हुए 'अनध्यवसित' का संग्रह करके छः हेत्वाभास माने हैं। बौद्धों में दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक तीन ही हेत्वाभास माने हैं और सांख्य की माठरवृत्ति में भी इन्हीं तीन का उल्लेख हुआ है। जैनों में भी सिद्धसेन तथा वादिदेव आदि आचार्यों ने[1] तीन ही हेत्वाभासों का वर्णन किया है।

पाश्चात्य हेत्वाभास—

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में हेत्वाभास के लिए 'फैलेसी' शब्द का प्रयोग हुआ है। उनके यहाँ विचार के किसी नियम के भङ्ग के कारण उत्पन्न अशुद्धि को 'फैलेसी' या हेत्वाभास कहते हैं। अरस्तू के अनुसार हेत्वाभास दो प्रकार के होते हैं। एक वह जो भाषा के कारण [फैलेसीज़ ड्यू टु लैंग्वेज] होते हैं और दूसरे वह जो विचार के कारण [फैलेसीज़ ड्यू टु थाट] होते हैं। उनमें से भाषाश्रित हेत्वाभास ६ प्रकार के और विचाराश्रित हेत्वाभास चार प्रकार के प्रतिपादन किए गए हैं।

तर्कभाषा में असिद्ध के तीन भेद किए गए हैं। परन्तु वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में असिद्ध के चार भेद किए गए हैं—

तत्रासिद्धश्चतुर्विधः। उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धो तद्भावासिद्धोऽनुमेयासिद्धश्च।

दिङ्नाग के न्याय-प्रवेश में भी उसी प्रकार असिद्ध के चार भेदों का निरूपण है और माठरवृत्ति में भी असिद्ध के चार भेद किए गए हैं।

उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धः सन्दिग्धासिद्ध आश्रयासिद्धश्चेति[2]।

१४ छल

अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द का अन्य अर्थ कल्पना करके दोष देना 'छल'

१. प्रमाणवार्तिक ६, ४७।

२. माठरवृत्ति

छलम्। यथा 'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये नूतनाभिप्रायेण प्रयुक्तस्य नवशब्दस्यार्थान्तरमाशंक्य कश्चित् दूषयति। 'नास्य नव कम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात्। न ह्यस्य द्वयमपि सम्भाव्यते कुतो नव' इति। स च वादी छलवादितया ज्ञायते।

१५ जातिः

असदुत्तरं जातिः। सा च उत्कर्षसम-अपकर्षसम-आदिभेदेन बहुविधा। विस्तरभिया नेह कृत्स्नोच्यते। तत्राव्याप्तेन दृष्टान्तगतधर्मेण साध्ये पक्षे अव्यापकधर्मस्यापादनम् उत्कर्षसमा जातिः। यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वाद् घटवदित्युक्ते कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकत्वेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात् तर्हि तेनैव हेतुना तद्वदेव शब्दः सावयवोऽपि स्यात्।'

अपकर्षसमा तु दृष्टान्तगतेन धर्मेणाव्याप्तेनाव्यापकस्य धर्माभावस्या-

---

[कहलाता] है। जैसे 'यह देवदत्त नव कम्बल युक्त है' इस वाक्य में नूतन के अभिप्राय से प्रयुक्त नव शब्द का [९ संख्या रूप] दूसरा अर्थ-कल्पना करके कोई दोष दे कि इसके पास नौ कम्बल नहीं हैं दरिद्र होने से। इसके पास तो दो [कम्बल] भी नहीं सम्भव हैं नौ कहाँ से आए ? [इस प्रकार अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ कल्पना करके खण्डन करनेवाला] वह वादी छलवादी समझा जाता है।

१५ जाति

असत् उत्तर [का नाम] 'जाति' है। और वह 'उत्कर्षसमा' अपकर्षसमा' आदि भेद से बहुत [२४] प्रकार की होती है। [ग्रन्थ के] विस्तार के भय से सबका वर्णन यहाँ नहीं करते हैं। [उदाहरणार्थ केवल दो के उदाहरण देते हैं] उनमें से दृष्टान्तगत अव्याप्त धर्म से साध्य अर्थात् पक्ष में अव्यापक धर्मान्तर का आपादान 'उत्कर्षसमा' जाति है। जैसे 'शब्द अनित्य है कृतक होने से घट के समान' ऐसा कहने पर कोई यह कहे कि 'यदि कृतकत्व हेतु से घट के समान शब्द अनित्य है तो उसी [कृतकत्व] हेतु से उसी [घट] के समान शब्द सावयव भी होना चाहिए'। [इस उदाहरण में शब्द में अविद्यमान सावयवत्व रूप एक नया धर्म बढ़ाया जा रहा है इसलिए उसको 'उत्कर्षसमा' जाति कहते हैं]।

[इसके विपरीत] दृष्टान्तगत अव्याप्त धर्म से अव्यापक धर्म के अभाव का

पादनम्। यथा पूर्वस्मिन् प्रयोगे कश्चिदेवमाह 'यदि कृतकेन हेतुना घटवच्छब्दोऽनित्यः स्यात् तेनैव हेतुना घटवदेव हि शब्दः श्रावणोऽपि न स्यात्। न हि घटः श्रावण' इति।

आपादन अपकर्षसमा जाति है। जैसे पहिले प्रयोग [अनुमान] में कोई यह कहे कि 'यदि कृतकत्व हेतु से घट के समान शब्द अनित्य है तो उसी [कृतकत्व] हेतु से घट के समान ही शब्द श्रोत्रग्राह्य भी न होता' [क्योंकि] घट श्रोत्रग्राह्य नहीं है।

यहाँ ग्रन्थकार ने 'छल' 'जाति' और 'निग्रहस्थान' आदि को अनावश्यक मानकर उनका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया है। यद्यपि प्राचीन न्याय के ग्रन्थों में इन विषयों का बहुत विस्तार है। स्वयं न्याय-सूत्रकार ने पाँच अध्यायों में से एक अध्याय इस 'जाति' और 'निग्रहस्थानों' के वर्णन में लगा दिया है। और अपने सिद्धान्त की रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर 'छल' तथा असदुत्तर रूप 'जाति' के प्रयोग की भी अनुमति उन्हों ने भी स्पष्ट रूप से दी है। परन्तु बाद में इन 'छल' और 'जाति' आदि के प्रयोग के प्रति आस्था कम हो गई है। विशेषतः बौद्ध और जैन आचार्यों ने इन छल आदि के प्रयोग की बहुत निन्दा की है। न्याय-परम्परा में छल आदि से प्रयोग के समर्थन में कहा गया है कि—

'दुःशिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः।
मा गादिति च्छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः॥'

इसके विपरीत बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने 'वादन्याय' में लिखा है :—

तत्त्वरक्षणार्थं सद्भिरुपहर्तव्यमेव छलादि विजिगीषुभिरिति चेत्, नख-चपेट-शस्त्रप्रहार-दीपनादिभिरपीति वक्तव्यम्। तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः।

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने इसी बात को इस प्रकार लिखा है :—

नैवम्। असदुत्तरैः परप्रतिक्षेपस्य कर्तुमयुक्तत्वात्। नहि अन्यायेन जयं यशो वा महात्मानः समीहन्ते[1]।

यद्यपि जैन और बौद्ध आचार्यों ने पीछे से 'जाति' और 'छल' के प्रयोग का खण्डन किया है परन्तु उनके ग्रन्थों में भी 'जाति' आदि का वर्णन पाया

---

१. प्रमाणमीमांसा पृ० ६४।

१६ निग्रहस्थानानि

पराजयहेतुः निग्रहस्थानम्। तच्च न्यून अधिक-अपसिद्धान्त-अर्थान्तर-अप्रतिभा-मतानुज्ञा-विरोध-आदिभेदाद् बहुविधमपि विस्तरभयान्नेह कृत्स्नमुच्यते। यद् विवक्षितार्थे किञ्चिदूनं तन्न्यूनम्। विवक्षितात् किञ्चिदधिकम् अधिकम्। सिद्धान्तादपध्वंसः-अपसिद्धान्तः। प्रकृतेनानभि-

---

जाता है। बल्कि न्याय से अधिक संख्या में जाति के भेद गिनाए गए हैं। न्याय में कुल २२ प्रकार के जाति-भेद माने गए हैं। बौद्धों के 'प्रमाण-समुच्चय' 'वाद विधि' आदि ग्रन्थों में उनके अतिरिक्त 'कार्यभेद', 'अनुक्ति' और 'स्वार्थ-विरुद्ध' यह तीन भेद और करके जाति के २५ भेद कर दिए हैं। 'उपायहृदय' ग्रन्थ में न्याय के २२ प्रकार के जाति-भेदों के अतिरिक्त १ भेदाभेद, २ प्रश्न-बाहुल्योत्तराल्पता, ३ प्रश्नाल्पतोत्तरबाहुल्य, ४ हेतुसम, ५ व्याप्तिसम, अव्याप्ति-सम, ६ विरुद्ध, ७ अविरुद्ध, ८ असंशय, ९ श्रुतिसम और १० श्रुतिभिन्न इस प्रकार जाति के दस भेद और बढ़ा दिए हैं। इस लिए यह कहना चाहिए कि सिद्धान्ततः छल आदि के प्रयोग को अभीष्ट न मानते हुए भी बौद्ध तथा जैन विद्वान् उनकी सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सके हैं। उनका वर्णन उन्होंने भी किया ही है। बौद्ध तथा जैन तार्किकों के समान अन्य सभी नैयायिक भी छल तथा जाति के प्रयोग को सिद्धान्ततः अच्छा नहीं समझते हैं। फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थ में छल और जाति का प्रतिपादन इसी लिए किया है कि यदि प्रतिवादी इनका आश्रय ले तो वादी उनके इस 'छल' या असदुत्तररूप 'जाति' को समझ सके और उसका उचित उत्तर दे सके।

१६ निग्रहस्थान

पराजय का हेतु निग्रहस्थान [कहलाता] है। वह न्यून, अधिक, अपसि-द्धान्त, अर्थान्तर, अप्रतिभा, मतानुज्ञा, विरोध आदि भेद से बहुत [२२] प्रकार का होने पर भी [ग्रन्थ के] विस्तार के भय से यहाँ पूर्णरूप से नहीं कहा जा रहा है। [फिर भी कुल ७ उदाहरण देते हैं]।

१—जो विवक्षित अर्थसे कुछ कम रह जाय [पूरी बात न कही जा सके] वह 'न्यून' [निग्रहस्थान कहलाता है]।

२—विवक्षित से कुछ 'अधिक [कहना] अधिक' [निग्रहस्थान] है।

३—सिद्धान्त से च्युत होना 'अपसिद्धान्त' [नामक निग्रहस्थान] है।

सम्बद्धार्थवचनम् अर्थान्तरम्। उत्तरापरिस्फूर्तिः अप्रतिभा। पराभिमत-स्वार्थस्य स्वप्रतिकूलस्य स्वयमेवाऽभ्यनुज्ञानं स्वीकारो मतानुज्ञा। इष्टार्थभङ्गो विरोधः।

४—प्रकृत [विषय] से असम्बद्ध अर्थ को कहना 'अर्थान्तर'[निग्रहस्थान] है।

५—उत्तर न सूझना 'अप्रतिभा' [निग्रहस्थान] है।

६—दूसरे के अभीष्ट और अपने प्रतिकूल अर्थ को स्वयं स्वीकार कर लेना 'मतानुज्ञा' है।

७—[अपने] इष्ट अर्थ का [स्वयं] खण्डन कर देना 'विरोध' [नामक निग्रहस्थान] है।

यहां तर्कभाषाकार ने केवल सात निग्रहस्थानों का उल्लेख किया परन्तु न्यायसूत्र में २२ निग्रहस्थान इस प्रकार गिनाए गए हैं—

प्रतिज्ञाहानिः-प्रतिज्ञान्तरं-प्रतिज्ञाविरोधः-प्रतिज्ञासंन्यासो-हेत्वन्तरम्-अर्थान्तरम्-निरर्थकम्-अविज्ञातार्थम्-अपार्थकम्-अप्राप्तकालम्-न्यूनम्-अधिकम्-पुनरुक्तम्-अननुभाषणम्-अज्ञानम्-अप्रतिभा-विक्षेपो-मतानुज्ञा-पर्यनुयोज्योपेक्षणं-निरनुयोज्यानुयोगः-अपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानि। ५, १, १।

निग्रह-स्थानों की त्रिविध परम्परा—

जिन स्थितियों में आ जाने पर मध्यस्थवादी अथवा प्रतिवादी को पराजित घोषित कर सकता है उनका नाम 'निग्रहस्थान' है। इन नियमों का निर्धारण भी सबसे-पहिले न्यायसूत्रों में किया गया था। उसके आधार पर आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक' में भी उनका प्रतिपादन लगभग उसी रूप में पाया जाता है। उसी से प्रारम्भ में बौद्ध आचार्यों ने भी उन निग्रहस्थानों को पूर्ण रूप से ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया था। इस लिए उनके 'तर्कशास्त्र' तथा 'उपाय-हृदय' आदि ग्रन्थों में निग्रहस्थानों का वर्णन न्याय तथा चरक के वर्णन से मिलता हुआ पाया जाता है। परन्तु पीछे बौद्ध आचार्य 'धर्मकीर्ति' ने अपने 'वादन्याय' नामक ग्रन्थ में न्याय के निग्रहस्थानों का खण्डन करके स्वतन्त्र रूप से अपने नए निग्रहस्थानों का निरूपण किया। इसी प्रवाह में जैन आचार्य 'अकलङ्कदेव' ने भी 'निग्रहस्थानों' के विषय में स्वतन्त्र रीति से विचार किया। इस प्रकार निग्रहस्थानों के विषय में भी बौद्ध तथा जैन-परम्परा को मिला कर तीन प्रकार की विचारधारा पाई जाती है।

उपसंहारः

इहात्यन्तमुपयुक्तानां स्वरूपभेदेन भूयो भूयः प्रतिपादनम् । यदनतिप्रयोजनं तदलक्षणमदोषाय । एतावतैव बालव्युत्पत्तिसिद्धेः ।

इति श्रीकेशवमिश्रविरचिता तर्कभाषा समाप्ता ।

उपसंहार

यहां [तर्कभाषा ग्रन्थ] में अत्यन्त उपयोगी [हेत्वाभास आदि पदार्थों] का स्वरूपभेद से बार बार प्रतिपादन किया गया है । और जो अधिक उपयोगी नहीं है उसका लक्षण न करना दोषजनक नहीं है । [क्योंकि हमने जो कुछ कहा है] इतने से ही बालव्युत्पत्ति सिद्ध हो सकती है । [बालव्युत्पत्ति के लिए ही ग्रन्थ लिखा था । इसमें जितना विषय वर्णन किया है, बालव्युत्पत्ति के लिए वही पर्याप्त है । इसलिए जाति, निग्रहस्थान आदि जो अधिक उपयोगी पदार्थ नहीं हैं उनका विस्तारपूर्वक वर्णन न करना दोषाधायक नहीं है] ।

श्रीकेशवमिश्र-विरचित तर्कभाषा समाप्त हुई ।

मासाभ्यां पौषमाघाभ्यां, द्विसहस्रेऽष्टकोत्तरे ।
वैक्रमे, तर्कभाषाया व्याख्येयं पूर्तिमागता ॥

उत्तरप्रदेशस्थ-'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत-मकतुलग्रामनिवासिनां
श्री शिवलाल-बख्शी-महोदयानां तनुजनुषा
वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधीतविद्येन तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता
एम० ए० इत्युपपदधारिणा श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना
विरचिता 'तर्करहस्यदीपिका' हिन्दीव्याख्या समाप्ता

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

"Knowledge raises a Man to the lover of God."

"Man is the maker of his own destiny."

by:-

Kewal K. Kapoor
P. G. Deptt of Physics
Jammu University
Jammu (Tawi).

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : तृतीय, सं० २०२४

मूल्य : ७-००

P. O. Chowkhamba, Post Box 8,

Varanasi-1 (India)

1967

Phone : 3145

'चौखम्बा'-नवीनप्रकाशन

बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था । डॉ० राघवेन्द्र वाजपेयी	१०-००
मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन । डॉ० शिवशेखर मिश्र	२५-००
नाटकचन्द्रिका । श्री रूपगोस्वामि प्रणीता । सटिप्पण 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या, समालोचनादि सहित	७-५०
हिन्दी लघुसिद्धान्तकौमुदी । व्याख्याकार-म[illegible] कुशवाहा	१२-५०
हिन्दी न्यायकुसुमाञ्जलि । [illegible] टीका सहित । आचार्य विश्वेश्वर	६-००
हिन्दी ध्वन्यालोक-लोचन । व्याख्याकार-आचार्य जगन्नाथ पाठक संपूर्ण	१६-००
विश्वगुणादर्शचम्पू: । अनुवाद 'पदार्थचन्द्रिका' व्याख्या सहित	१०-००
म[illegible]चरित । हिन्दी व्याख्या सहित	१०-००
हिन्दी सर्वदर्शनसंग्रह । व्याख्याकार-उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'	[illegible]५-००
भासनाटकचक्रम् । 'प्रकाश' संस्कृत हिन्दी व्याख्या आ० बलदेव उपाध्याय	२२-००
प्रयोगवादीकाव्यधारा । डॉ० रमाशंकर तिवारी	१२-५०
कौटिल्य-अर्थशास्त्रम् । सम्पू० हिन्दी व्याख्या सहित ।	२०-००
हिन्दी और मराठी [illegible] काव्य । प्रभाकर माचवे	१२-००
[illegible] के पौराणिक [illegible] । डॉ० [illegible] शास्त्री	१० ००
म[illegible] का भक्ति [illegible] । [illegible] गो० देशपांडे	[illegible]-००
[illegible] धर्मों की दुनिया[illegible] । भारतरत्न, डॉ० भगवानदास [illegible]	[illegible]५-००
हिन्दुओं की [illegible] । अनुवादक : चारुचन्द्र शास्त्री	४-००
मार्कण्डेयपुराण एक अध्ययन । आचार्य बदरीनाथ शुक्ल	७-५०
श्रीमद्भगवद्गीता । (सानुवाद मधुसूदनीव्याख्या) स्वामी सनातनदेव	१५-००
वैदिक इण्डेक्स । अनुवादक : प्रो० रामकुमार राय । १-२ भाग	५०-००
वैदिक माइथालोजी । अनुवादक : प्रो० रामकुमार राय	१५-००
शौनकीय बृहद्देवता । अनुवादक : प्रो० रामकुमार राय	१५-००
परमतत्त्व-मीमांसा—(मतिप्रशिक्षशास्त्रम्) । श्रीकृष्ण जोशी	४-५०
प्राकृत साहित्य का इतिहास । डॉ० जगदीशचन्द्र जैन	२०-००
प्राचीन भारतीय मिट्टी के बर्तन । डॉ० राय गोविन्दचन्द	१२-००
भारतीय प्रज्ञा । डॉ० रामकुमार राय	२५-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१